बिहारी और उनका साहित्य

—*—

लेखक

डा० हरवंशलाल शर्मा

एम० ए०, डी० लिट०

प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष

हिन्दी-संस्कृत-विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

तथा

परमानन्द शास्त्री

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

प्राध्यापक, हिन्दी-संस्कृत-विभाग,

मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
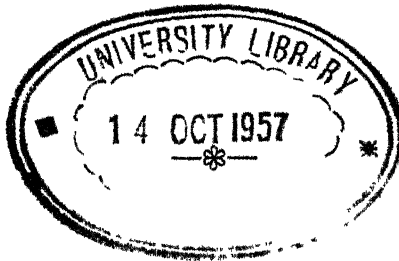
भारत प्रकाशन मन्दिर,

अलीगढ़ ।

प्रस्तावना

बिहारी का साहित्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। रीतिकालीन साहित्य मे ही नही अपितु समूचे हिन्दी साहित्य मे उनकी सतसई अपने ढंग की आप ही है। हिन्दी के अन्य किसी ग्रन्थ को सस्कृत मे अनूदित होने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। केवल बिहारीसतसई को ही यह बहुमान प्राप्त हुआ। इसी से उसकी महत्ता स्पष्ट है कि उसने संस्कृत के मर्मज्ञो को भी आकृष्ट कर लिया। कविकुलगुरु के शब्दो में "इतोऽधिक कि खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।" बिहारीसतसई ने केवल रीतिकालीन कवियो को ही नही आधुनिक आलोचकों को भी प्रेरणा दी है। उसे समझने के बहुत प्रयत्न होते रहे हैं और बहुत होते रहेगे क्योकि उसकी रमणीयता अनुपम है "ज्यो-ज्यों नेरै ह्वै लखै रूप अपार अगाधु"। हिन्दी मे तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात भी बिहारी सतसई की पृष्ठभूमि पर ही हुआ। देव और बिहारी की तुलनाविषयक नोक-झोंक ने, जो लगभग पन्द्रह वर्ष तक चलती रही, हिन्दी आलोचना के शैशव को अनजाने ही कैशोर्य में परिणत कर वय:सन्धि तक पहुंचा दिया। हिन्दी के ही नहीं संस्कृत के महारथी भी इस क्षेत्र में कूद पड़े। भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री की गाथासप्तशती की भूमिका इसका प्रमाण है। इसके बाद तो बिहारी पर कई पुस्तकें लिखी गईं जिनमें अपनी-अपनी खूबियाँ और खामियो थीं। उन सब के रहते हुए इस नई रचना के प्रणयन मे किस प्रवृत्तिनिमित्त ने कार्य किया ? उपर्युक्त पंक्तियों के सन्दर्भ मे इस प्रश्न का समाधान स्वत: हो जाता है अत: उसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नही है। यही क्या, बिहारी पर अन्य भी बहुत सी आलोचनाएँ निकलेंगी क्योंकि उनकी अनुभूति में हृद्यता और कला में आकर्षण का चरम उत्कर्ष प्रतिबिम्बित है। सर्वश्री मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि की बिहारीसम्बन्धी आलोचनाएँ हिन्दी आलोचना के विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ अवश्य हैं, विद्वत्ता का प्रदर्शन भी उनसे बहुत कुछ हो जाता है किन्तु इन सब में प्रतिवाद का आश्रय लेकर जो रस्साकशी की गई है वह न तो आधुनिक रुचि और तर्क के अनुकूल ही है और न ही साधारण अध्येता की जिज्ञासा का उचित ढँग से शमन कर पाती है। 'शिवा को सराहौं कै सराहौ छत्रसाल को' जैसी द्विधा उलझन में पड़ा हुआ सामान्य विद्यार्थी न केवल समन्वय करने में सफल नही हो पाता अपितु स्वयं

भी आलोचना की मूल आधार-शिला निष्पक्षता से विचलित सा हो उठता है। बाद की रचनाओ में इस प्रकार का अभिनिवेश तो नही मिलता किन्तु बिहारी-काव्य के अनेक पक्षों में से किसी मे एक पक्ष को और किसी मे दूसरे को उपेक्षित कर दिया गया है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र की पुस्तक अवश्य ही सन्तुलित है किन्तु उसकी सूत्रात्मक शैली परीक्षार्थियों के लिये नितान्त उपयोगी होती हुई भी विद्यार्थियों का पूरा मतलब हल नही कर पाती। मिश्र जी की गम्भीर शैली में विचारों का जो समाहार हुआ है वह बिहारी के दोहों की भाँति स्वय व्याख्येय बन गया है तथा अन्य कृतियों की भाँति उनकी रचना में भी कुछ महत्त्वपूर्ण बाते छूट गई हैं। उदाहरणार्थ बिहारी के प्रकृति-चित्रण पर, जिसकी ग्रियर्सन जैसे अँग्रेज विद्वान् ने भी प्रशंसा की है, अन्य पुस्तकों की भाँति इस मे भी विचार नहीं किया गया है। इन सब बातों के सामने आने पर और सबसे अधिक बिहारी की रचना के आस्वाद में रुचि के साथ सामान्य विद्यार्थी की आवश्यकता की पूर्ति के विचार से प्रस्तुत पुस्तक की रचना हुई।

यह बेधड़क कहा जा सकता है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर बिहारी के दोहे काव्य के हृदयपक्ष तथा कलापक्ष के नीरक्षीर-सदृश सामञ्जस्य-निर्वाह के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। उन्होने अपने युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही संतुलित समन्वय उपस्थित नही किया अपितु भारतीय साहित्य मे एक सहस्राब्दी से चली आई हुई परम्पराओं का भी समावेश किया है। संस्कृत साहित्य में प्रचलित सामान्य रूढियों की बात तो जाने दीजिए काव्यशास्त्र में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों का भी उन्होंने बडे कौशल के साथ प्रतिनिधित्व किया है। उनके बहुत से दोहों में रस की समस्त सामग्री इतनी सहज शैली से जुटाई गई है कि वे पूरे रसवादी प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तु और अलङ्कार आदि ध्वनि के भी इतने अधिक उदाहरण मिलते हैं कि उन्हे ध्वनिवादी ही मानना पड़ता है एक ओर तो उनका वाग्वैदग्ध्य 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का घोष करता हुआ सा प्रतीत होता है और दूसरी ओर सभी अलङ्कारों के ऐसे साफ उदाहरण जैसे हिन्दी के रीतिग्रन्थों में भी नही मिलते, उन्हें अलङ्कारवादी कहने के लिए प्रोत्साहित करते है। बिहारी मानो प्रत्येक का विश्वास प्राप्त कर सबका प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

प्रस्तुत पुस्तक तेरह अध्यायों और एक परिशिष्ट में विभाजित है। प्रथम अध्याय मे बिहारी के जीवनचरित पर विचार किया गया है। लिखित प्रमाणों के अभाव में महापुरुषो के जीवन से बहुत सी घटनाएँ भी सम्बद्ध

हो जाया करती हैं—कुछ तो अनुमानित और कुछ विशुद्ध कल्पित। बिहारी का जीवन चरित भी इसका अपवाद नही है। उनकी रचना मे करबी, लखबी आदि बुन्देलखण्डी शब्दो के प्रयोग को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें आचार्य केशवदास का पुत्र माना है। किन्तु केवल यह कारण इतने बडे निष्कर्ष की आधारशिला बनने के लिये अत्यन्त दुर्बल है, विशेषतया इसलिये कि बिहारी का बचपन बुन्देलखण्ड में बीता था। अतः वहाँ के दो-चार शब्द उनकी भाषा में मिल गए तो उनसे वे केशवदास के पुत्र सिद्ध नहीं हो जाते। तुलसी ने भी तो बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग किया है और सूर ने तो महँगी के अर्थ में प्यारी शब्द का प्रयोग किया है जो ठेठ पञ्जाबी है। पर इन कारणो से कोई भी विद्वान् न तो तुलसी को बुन्देला और न ही सूर को पञ्जाबी मानने के लिए प्रस्तुत है। असनी के ठाकुर की सतसैयावर्णार्थ टीका में उपलब्ध बिहारी के दोहाबद्ध जीवन चरित से उक्त धारणा को कुछ बल अवश्य मिला है। इसके अनुसार बिहारी की पत्नी कवयित्री थी। इधर प्राचीन संग्रहों में केशवपुत्रबधू के नाम से एक कवयित्री का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि केशव की रसिक प्रिया ने उनके पुत्र को इतना रसिक बना दिया कि उन्हें विज्ञानगीता लिखनी पड़ी जिसके प्रभाव से वह विरक्त हो गया। तब केशव-पुत्रबधू ने एक अन्योक्ति लिखी जिससे प्रभावित होकर केशव ने अपने पुत्र को पुनः रागप्रवृत्त कर दिया। इस लतीफे की केशव-पुत्रबधू और बिहारी की उपर्युक्त कवयित्री पत्नी में अभेद स्थापित कर बिहारी को आचार्य केशवदास का पुत्र मानने की बात हमें बिल्कुल नहीं जँचती। इस सम्बन्ध में तीन बातें द्रष्टव्य हैं—

१—बिहारी के दोहे में उनके पिता का नाम केशवराय बताया गया है केशवदास नहीं। यदि बिहारी आचार्य केशव के पुत्र होते तो उनकी अति प्रसिद्ध आख्या का ही उल्लेख करते।

२—बिहारी के समसामयिक टीकाकार कृष्णलाल ने भी ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख नहीं किया।

३—अन्यत्र कहीं भा इस प्रकार का संकेत नहीं मिलता।

देवकीनन्दन की वर्णार्थप्रकाशिका टीका में सतसई की रचना और परीक्षा के सम्बन्ध में जो चुटकुला दिया गया है वह भी सर्वथा कल्पित है। ग्रियर्सन ने 'केसौराय' नाम के उल्लेख से बिहारी को भाट मान लिया है और मिश्रबन्धुओं ने एक किम्बदन्ती के आधार पर उन्हें ककोर वंशोत्पन्न माना

है। ये दोनों ही मत भ्रान्त है जिनका इस पुस्तक में निराकरण किया गया है।

दूसरे अध्याय मे बिहारी साहित्य की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की चर्चा की गई है। यद्यपि बिहारी की रचना पर समकालीन वातावरण का काफी प्रभाव पड़ा है तथापि उसे केवल सामयिक परिस्थितियों की ही उपज नहीं कहा जा सकता। बिहारी का ही नहीं रीतिकाल का सभी साहित्य संस्कृत-साहित्य की आधार भूमि से रस ग्रहण करता रहा है। हिन्दी के वीरगाथा काल और भक्तिकाल में भी संस्कृत की शृङ्गारिक रचनाओं में कोई कमी नही आई थी। उनमें कृत्रिमता, एकरूपता, पिष्टपेषण आदि के साथ-साथ कलाप्रसाधन, शक्तिप्रदर्शन, वाग्वैदग्ध्य और चमत्कार-सर्जना का उत्तरोत्तर प्रसार होता जा रहा था। भारतीय साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जो भी लोकभाषा साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई वह संस्कृत की प्राचीन तथा समसामयिक परम्पराओं से धीरे-धीरे पूर्णतया आबद्ध हो गई। यही घटना हिन्दी के साथ भी घटी। संस्कृत साहित्य की प्रचलित प्रवृत्ति का प्रभाव उसपर पूर्णतया पड़ा। देवदम्पती के शृङ्गार-वर्णन की परिपाटी संस्कृत में बहुत दिनों से चली आरही थी। चण्डीशतक, वक्रोक्ति पञ्चाशिका, गीतगोविन्द आदि की आत्मा भक्तिमय ही सही किन्तु इनका बाह्यरूप शृङ्गारमय था। इन स्तोत्रों का प्रभाव भी रीतिकालीन कवियों पर पड़ा है। तभी तो बिहारी को भी राधा और कृष्ण की विपरीत रति के वर्णन का साहस हुआ। संस्कृत के ही माध्यम से कामशास्त्रीय प्रभाव भी रीतिकालीन साहित्य पर दृग्गोचर होता है। इस अध्याय में इन विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे अध्याय में बिहारी के जीवन-दर्शन पर विचार किया गया है। सच्चे कवि का हृदय अपने अनुभव, पर्यवेक्षण, अध्ययन और लोकसाधना की व्यापकता के कारण जिन निष्कर्षों पर पहुँचता है वे ही व्यावहारिक दर्शन का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। आमुष्मिकता पर ही विचार करने वाले दर्शनशास्त्र से ऐहिक जीवनदर्शन का महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। बिहारी जिन्दादिल थे और जीवन को रोते-बिसूरते नहीं, हँसते-हँसते बिताना पसन्द करते थे। वे रसिक थे किन्तु उनकी रसिकता का आधार विलासिता नहीं कलाप्रियता है। वे उस व्यक्ति को सुखी मानते हैं जिसकी आवश्यकताएँ न्यूनतम हैं। सम्पत्ति उनकी दृष्टि में औगुनभरी है इसीलिये वे उसकी नहीं, अपने काम चलते रहने की और इज्जत रह जाने की ही परवाह करते हैं।

यदि सम्पत्ति के बिना भी यह सम्भव हो तो इस अवगुणों की खान को उनकी बला चाहती है। लोभ की उन्होने निन्दा की है क्योंकि वह मनुष्य में क्षुद्रता का भाव भर देता है। सांसारिक व्यक्ति को वे मध्यम मार्ग का अनुगमन करने की सलाह देते हैं और खा-पीकर कुछ बचाना बुरा नही समझते, किन्तु नीतिगलित होकर धन जोडना उनकी दृष्टि मे बहुत बुरी बात है। ईश्वर विश्वास और आशावाद उनकी जीवन-यात्रा के संबल है। सफल जीवन के लिये वे विनयभाव को आवश्यक मानते है और धार्मिक क्षेत्र मे सहिष्णुता के पक्षपाती है। बाह्य ढोंग को वे कोई महत्त्व नहीं देते तथा इस बात में विश्वास रखते है कि सच्चे साधुओं की संगति से यही लोक स्वर्ग बन जाता है। अपने राजनीतिक सिद्धान्तो मे वे जातीयता के पोषक है।

चौथे अध्याय में बिहारी पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव का विवेचन किया गया है। बिहारी के काव्य की आत्मा संस्कृत के एक-दो नही, अनेकानेक कवियों के भावोच्छ्वासों से अनुप्राणित है। गाथा सप्तशती का तो उसपर सबसे अधिक प्रभाव है ही, अपभ्रंश के दोहों और फारसी कवियों की नाजुकखयाली तथा अत्युक्तिपूर्ण पद्धति का भी पर्याप्त प्रभाव है। ऊहात्मक वर्णन की प्रणाली और शाब्दिक चमत्कार-सृष्टि की प्रवृत्ति उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य तथा फारसी साहित्य दोनों में प्रमुख रूप से पाई जाती है। किन्तु संस्कृत में शृङ्गार के क्षेत्र में मारकाट और खून-खच्चर के समावेश पर काव्यशास्त्रियों ने जो प्रतिबन्ध लगा दिया था उसके फलस्वरूप बीभत्स दृश्यों का विधान ऊहात्मक वर्णन में भी यथाशक्ति निरादृत किया गया है, तो भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। फारसी साहित्य के निकट सम्पर्क में आने के कारण भारतीय काव्य-शास्त्र द्वारा निषिद्ध तत्त्वों का समावेश भी बिहारी की कविता में स्वतः ही हो गया है, किन्तु उन्होंने यथा सम्भव सतुलन का प्रयास करते हुए दोनों दृष्टिकोणों में एक समझौतापूर्ण समन्वय उपस्थित किया है। जब हम बिहारी पर उनके पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव की बात करते हैं तो स्वभावत ही उनकी निजी मौलिकता का भी प्रश्न सामने आ जाता है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि मानवीय भाव सार्वभौम और सार्वकालिक हैं तथा उनकी अनुभूति विभिन्न व्यक्तियों के हृदय में अवसर विशेष पर प्रायः एकसी ही हुआ करती है। अतः समान वर्ण्य-विषय का चित्रण करने वाले कवियों की रचनाओं में एक से भावों का आ जाना न तो असम्भव ही है और न ही अस्वाभाविक। इसलिये यदि कोई लेखक सर्वथा मौलिक—ऐसा मौलिक जैसा आज तक किसी ने न लिखा हो—काव्य लिखने

की बात कहे तो वह निश्चित रूप से दम्भी कहा जा सकता है। अतएव किसी कवि के भावों को ग्रहण करना अथवा उसके सदृश परिस्थितियों में स्वयं को डालकर अनुभूति करना और उसे अपनी कला का आधार बनाना किसी कवि का दोष नहीं कहा जा सकता। दोष वह तब होता है जब कवि ठीक ढँग से उसका निर्वाह नहीं कर पाता। जब अभिव्यक्ति के साथ भावों का तादात्म्य नहीं हो पाता तो वे ऊपर से थोपे हुए से प्रतीत होते है। बिहारी का सजग और प्रकृत कवि इस दोष से सर्वथा मुक्त है। उनकी अभिव्यक्ति में इतना बल है कि पहले कवियों की कही हुई बातें भी उनकी वाणी का संबल पाकर नित्य नवीन बनी रहती हैं। पूर्ववर्ती कवियों के साथ बिहारी की सतर्क तुलना करके उनकी विशेषताओं और सीमाओं का निर्धारण करने की चेष्टा इस अध्याय में की है। विज्ञ पाठक देखेंगे कि इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में हमने पूर्णतया निष्पक्षता की नीति अपनाई है।

बिहारी रीतिकाल के प्रवेश द्वार पर खड़े थे। यद्यपि उनके समय तक हिन्दी में काव्यशास्त्र का परिनिष्ठित रूप विकसित नहीं हो पाया था तथापि संस्कृत में वह भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। हिन्दी में भी कुछ प्रयास इस ओर हो चुके थे। बिहारी से पहले ही सूर की साहित्य-लहरी, नन्ददास की रसमञ्जरी, रहीम का बरवै नायिकाभेद, कृपाराम की हिततरंगिणी और केशव की रसिकप्रिया लिखी जा चुकी थी। अन्यान्य ग्रन्थों के साथ बिहारी ने इनका भी अध्ययन किया था और इस विषय में उनकी जानकारी रीतिकालीन अनेक आचार्यों की जानकारी से अधिक थी जिसका प्रतिफलन उनकी रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है, यही कारण है कि बहुत से आलोचकों की तो यह धारणा भी बन गई कि बिहारी ने सतसई का सर्जन काव्य शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये ही किया था। कुछ टीकाओं में नायिका-भेद के आधार पर ही बिहारी सतसई के दोहों का विभाजन और व्यवस्था की गई है। पाँचवें अध्याय में बिहारी में रीति परम्परा का प्रभाव खोजने का प्रयत्न किया गया है।

मुक्तक-रचना का महत्त्व और प्रसंग विधान के औचित्य को लेकर छठे अध्याय का प्रारम्भ हुआ है और विवेचन द्वारा निश्चित किये गये मानदण्ड पर बिहारी के मुक्तकों को परखने के साथ इसका अन्त होता है। बिहारी ने जीवन के एक ही पक्ष का चित्रण किया है। उसमें भी उन्होंने प्रसार के स्थान में गहराई का समावेश किया है। यही कारण है कि एक ओर तो उनके प्रसंगों में वैविध्य के दर्शन नहीं होते और दूसरी ओर कहीं कहीं ऐसे

प्रसंग भी मिलते है जो साधारण पाठक की समझ मे नहीं आ सकते । काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों और रूढ़िग्रस्त परम्पराओं के आधार पर खड़े हुए दोहों की आत्मा तक अनभिज्ञ पाठक पहुँच ही नहीं पाता । जब वह नायिका को नायक से यह कहते हुए सुनता है कि 'जाओ, देख ली तुम्हारी केश गूँथने की चतुराई। जो बाल मैने कठिनाई से सुखाए थे उनसे पानी टपकने लगा है' तो वह समझ नहीं पाता कि यह पानी आया कहाँ से ? निदान उसे काव्यशास्त्र की शरण लेनी पडती है, तब वह जान जाता है कि यह पानी सात्विक स्वेद के सिवाय कुछ न था । लेकिन बिहारी के दोहों में ऐसे प्रसंगों की संख्या अधिक नहीं है । परम्परा में बँधे रह कर भी उन्होंने रूढ प्रसंगों को नये ढंग से प्रस्तुत कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है । जहाँ कही समाज से प्रसंगों का चयन कर उन्होंने असामाजिक तत्वों पर व्यंग्य कसे है वहाँ उनके प्रसंग-चयन-कौशल का उत्कर्ष दृग्गोचर होता है ।

सातवे अध्याय में बिहारी के वर्ण्य विषयों पर विचार किया गया है । दरबारी कवि होने पर भी अपने युग के अनेक कवियों के विपरीत बिहारी ने आश्रयदाता की झूँठी प्रशसा कभी नही की । उनकी सतसई में आश्रयदाता की प्रशंसा के विषय में एक प्रतिशत से अधिक दोहे नही है । भक्ति और नीति से सम्बन्धित उक्तियाँ भी अधिक नहीं हैं । वास्तव में उनकी रुचि का विषय है शृंगार जिसके चित्रण मे उन्हे कमाल हासिल था । बिहारी बड़े भारी शृंगारी थे किन्तु उनके प्रेम का आदर्श बड़ा ऊँचा था । प्रेम सौन्दर्य से उत्पन्न होता है और सौन्दर्य प्रेम से । इसीलिये बिहारी सौन्दर्य को कभी विषयगत, कभी विषयीगत और कभी उभयगत मानते है । प्रेम को जागरित करने वाले रूप का विविधपक्षीय वर्णन बिहारी ने किया है । किन्तु अग प्रत्यंगों के अलग-अलग सौन्दर्य की अपेक्षा वे समष्टिगत (पूरे शरीर का) सौन्दर्य का चित्रण अधिक मार्मिक कर सके है । प्रथम आकर्षण से लेकर प्रेम की उस स्थिति तक का जिसमें मन 'पानी में को लोनु' बन जाता है । चित्रण करना बिहारी नहीं भूले है । प्रेम-विकास के चित्रण के लिये उन्होंने अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं और व्यापारों की योजना भी की है । प्रेमविकास की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण उनके दोहों में मिलता है जो मनोवैज्ञानिक और मार्मिक है । नायिका की विविध मुद्राओं, चेष्टाओं व्यापारों और अनुभावों के चित्रण में बिहारी अनुपम है । चित्रमयता उनके काव्य का प्रमुख गुण है । पूरी सतसई रमणी की विभिन्न मुद्राओ के अनेक चित्रों का एक सुन्दर अलबम कही जा सकती है । विरह-वर्णन में बिहारी इतने सफल नहीं हुए । वे संयोग के ही

कवि है। सयोग वर्णन मे वे भावना की गहराई मे डूब जाते है परन्तु वियोग में व्यथा की थाह लेने के स्थान मे, ताप की नाप-जोख करने लगते है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के भी कुछ उदाहरण बिहारी सतसई मे खोजे जा सकते है।

आठवे अध्याय मे बिहारी के लोकपर्यवेक्षण तथा बहुज्ञता पर विचार किया गया है। कवि शब्द का प्रयोग वैदिक युग में ईश्वर, क्रान्तदर्शन तथा विद्वान् आदि अर्थों में होता था, यजुर्वेद में कवि और पदवी शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। पदवी शब्द का भाष्य करते हुए माधवाचार्य ने कहा है कि 'स्खलन्ति पदानि साधुत्वेन यो योजयति स पदवी:' इसका अर्थ यह हुआ कि कवि शब्द का प्रयोग सुष्ठ पदयोजना करने वाले के लिये होता था। इस प्रकार कदाचित् वैदिक युग मे ही कवि शब्द का अर्थ अपकृष्ट होता हुआ ईश्वर से विद्वान् तक आ गया। आजकल तो यह शब्द कवि-सम्मेलनी तुक्कडों के लिये भी प्रयुक्त होने लगा है कुछ भी हो, इस शब्द का इतिहास बड़ा रोचक है और इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि कवि बनने के लिये बहुज्ञ होना बडा आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि काव्यशास्त्र मे गिनाए हुए विषयो और कामशास्त्र की कलाओं में कवि पूरा पारङ्गत हो। दूसरे शब्दों मे टैक्नीकल पाण्डित्य की आवश्यकता उसके लिये नही है। हाँ, हरफ़नमौला होना बडा जरूरी है। शास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन तो काव्य को क्लिष्ट और नीरस बना देता है। बिहारी को ज्योतिष का कुछ अच्छा ज्ञान था। दो एक श्लोकों में तो उन्होंने ग्रहों को आकाश से उतार कर नायिका का शृङ्गार भी किया है। कुछ में विशिष्ट जन्म-लग्न का फल भी वे बताने लगे हैं। इससे उनका ज्योतिष विषयक शास्त्रीय ज्ञान स्पष्ट है, किन्तु सुदर्शन और पाराभस्म का नाम लेने से या बंकबिकारी देने पर दाम के रुपैया होने की बात कहने से जो बहुत से आलोचकों ने उन्हें आयुर्वेद और गणित का ज्ञाता मान लिया है वह हमारी समझ के बाहर की चीज है। हाँ, बिहारी जिस संकुचित क्षेत्र में रहते थे उसका उन्होंने बड़ा व्यापक निरीक्षण किया था जिसका पता उनके प्रसंगविधान और अप्रस्तुत-योजना से साफ चल जाता है। इस दृष्टि से उनकी बहुज्ञता कवियों के लिये सदैव अनुकरणीय रहेगी।

नवे अध्याय मे बिहारी की भक्तिविषय उक्तियों का विश्लेषण कर उनकी भक्तिभावना के स्वरूप को खोजने का प्रयत्न है। अपनी समन्वयवादी प्रकृति के कारण बिहारी ने इस क्षेत्र में भी सामञ्जस्य घटित किया है। बिहारी को सूर, तुलसी, नन्ददास आदि की श्रेणी का भक्त हम नहीं मानते।

उनका सम्बन्ध एक विशिष्ट संप्रदाय से जरूर था किन्तु उसके दर्शन का प्रभाव अथवा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण उनकी उक्तियों में परिलक्षित नही होता। वास्तव में बिहारी पहले कवि थे बाद में कुछ और। उन्होंने सन्त बाबाओं जैसी उक्तियाँ भी कहीं है। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की झलक भी उनमें मिल सकती है। राम और कृष्ण दोनों के प्रति उन्होंने अपनी भक्ति प्रकट की है और दोनों मे अभेद स्थापित किया है। हमारा निष्कर्ष यह है कि वे भक्त थे, उतने ही जितना कोई भगवद्विश्वासी सामान्य भावुक व्यक्ति हो सकता है। उनके कवि होने के नाते भक्ति का सामान्यरूप भी सच्ची अनुभूति से अनुप्राणित होने के कारण असामान्य हो उठा है।

दशम अध्याय में बिहारी के प्रकृति-चित्रण की चर्चा की गई है। इस विषय की अन्य पुस्तकों में पूर्णतया उपक्षा करदी गई है, प्रकृति के जो विविध रूप संस्कृत गीतिकाव्य में—विशेषतया उत्तरकालीन काव्य में—परिलक्षित होते है वे ही बिहारी की रचना में भी मिलते है, उनके वर्णन भी प्राय: उद्दीपन है। कवि-समय और रूढियों का भी उन्होंने बराबर आश्रय लिया है। ऋतुवर्णन में विभिन्न-पर्व और आमोद-प्रमोदों का चित्रण ही अधिक है, फिर भी प्रकृति के इतने स्वाभाविक और सुन्दर चित्र बिहारी-सतसई में मिलते हैं कि उनकी प्रशंसा करते ही बन पड़ता है। ग्रियर्सन ने भी उसकी प्रशंसा की है और इम्पीरियल गजटीयर में बिहारी को प्रकृति-चित्रण के प्रति विशेष रूप से सावधान बताया गया है। रीतिकाल में सेनापति ही प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से बिहारी के सामने ठहरते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन दोनों सत्कवियों के प्रकृति-चित्रण का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। सेनापति की अपेक्षा बिहारी में कल्पना का संयम है। ज़बानी जमा-खर्च की आदत उनमें कम है। इसलिये सेनापति के समान ग्रीष्म को वर्षा और हिमऋतु के समान बनाने की चतुराई करने का दावा उन्होंने नही किया और न ही शिशिर का शीत दूर करने के लिये वे नायिका को सब वसनों का समाज बना सके, ग्रीष्म में छहों ऋतुओं को राजमहलों में एकत्र करने की हिम्मत भी उन्हे न हुई।

ग्यारहवे अध्याय में बिहारी की भाषा और शैली पर कुछ विस्तार के साथ विचार किया गया है। बिहारी हिन्दी-जगत् के प्रमुख शैलीकार हैं। दोहे के लघु कलेवर की गागर में भावों का उमड़ता सागर भर देने की जो समाहार शक्ति उनकी भाषा में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। व्यञ्जना की

प्रधानता उनकी शैली का सामान्य गुण है, वर्ण्यविषय और अपनी रुचि के अनुकूल उन्होंने अलंकृत और अनलंकृत शैली का प्रयोग किया है, किन्तु फारसी साहित्य के ढंग की ऊहात्मक शैली का भी, जो सस्कृत साहित्य के लिये भी सर्वथा अपरिचित वस्तु नहीं थी, आश्रय बिहारी ने कहीं-कहीं लिया है। फिर भी केवल चमत्कार पैदा करने की ओर उनकी रुचि बहुत कम रही है। वक्रता उनकी शैली का जीवन है। क्षेमेन्द्र ने जो दस प्रकार के चमत्कार का उल्लेख अपने कविकण्ठाभरण मे किया है वे सब बिहारी की शैली में देखे जा सकते हैं।

उनकी भाषा का सर्वप्रधान गुण है माधुर्य, जिसके लिये ब्रजभाषा स्वयं ही बहुत प्रसिद्ध है। भाषा का सुसंस्कृत और परिष्कृत रूप बिहारी सतसई में जैसा मिलता है वैसा रीतिकाल के बहुत ही कम कवियों की रचना में प्राप्त होता है। निःसन्देह ब्रजभाषा के शब्दरूपों के स्थिरीकरण और साहित्यिक संस्कार में बिहारी का बहुत बड़ा योग है। बिहारी का भाषा विषयक दृष्टि-कोण सूर और तुलसी के ही समान व्यापक और उदार है। उन्होंने अपने समय की अन्य प्रमुख साहित्यिक भाषाओं के, जिनके सम्पर्क में वे आए थे, शब्द भी बड़ी उदारता के साथ अपनाये हैं। प्राकृत और अपभ्रंश काल से चले आते हुये भी २-४ प्रयोग उनकी भाषा में मिल जाते हैं, दो चार शब्दों को उन्होंने तोड़ा-मरोड़ा भी है, किन्तु सामान्य रूप से भाषा के सौन्दर्य को उन्होंने निखारा ही है बिगाड़ा नहीं। कुछ विद्वानो को बिहारी की इस शक्ति के विषय में सन्देह ही नहीं भ्रान्ति भी हो गई थी जिसका निराकरण इस अध्याय में कर दिया गया है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टि से भी देखने पर बिहारी की भाषा पूर्णतया खरी उतरती है। प्रेषणीयता की दृष्टि से वह बेजोड़ कही जा सकती है। भाषा की शक्ति बढ़ाने के लिये और स्वभावानुसार प्रभाव की सृष्टि के लिये बिहारी ने लोकोक्तियाँ, मुहावरे तथा लाक्षणिक शब्दों का खुलकर व्यवहार किया है और अप्रस्तुत विधान में उन्होंने अपने व्यापक ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाया है। प्राकृतिक और लौकिक उपमानों के अतिरिक्त शास्त्रीय पौराणिक और अलौकिक उपमान तक उनके अप्रस्तुतविधान की परिधि में आ गये हैं।

अपनी इन काव्यगत विशेषताओं के कारण बिहारी परवर्ती कविवर्ग के लिये केवल प्रेरणा के स्रोत ही नहीं अनुकरणीय आदर्श भी बन गए। रीतिकाल के कवियों की बात तो जाने दीजिए इस युग तक के कवियों पर उनका प्रभाव पड़ा है और उन्होंने न केवल अपने युग के साहित्य मे अपितु

समूचे हिन्दी-साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनकी तुलना सस्कृत के प्रसिद्ध प्रगीत-मुक्तककार अमरुक से की जा सकती है। अमरुक का रचना में भाव एवं कला का जैसा उत्कृष्ट समन्वय है वैसाही बिहारी सतसई में भी है। अमरुक ने संस्कृत के कवियो को दूर तक प्रभावित किया तो बिहारी ने हिन्दी के कवियों को। अमरुक ने केवल एक शतक लिखकर अपना नाम अमर बना लिया तो बिहारी ने केवल एक सतसई लिखकर। अमरुक की कविता का अभिनन्दन सहृदयों ने 'अमरुककवेरेक: श्लोक: प्रबन्धशतायते' कह कर किया है तो बिहारी के दोहों को नावक के तीरों के समान बताया है। बारहवें अध्याय में परवर्ती कवियों पर बिहारी के प्रभाव और हिन्दी साहित्य में उनके स्थान के निर्धारण का प्रयास किया गया है।

बिहारी बड़े ही सजग कलाकार थे। उनकी सतसई का प्रत्येक दोहा बड़ी सावधानी के साथ रचा गया है। एक-एक शब्द का चयन और विन्यास उन्होंने सोचसमझ कर किया है। ऐसी दशा में उनकी रचना में दोषों को खोज निकालना सचमुच साहसिक कार्य है ? योंतो श्री मिश्रबन्धुओं ने बिहारी के दोषों की एक लम्बी सूची प्रकाशित की था किन्तु वास्तव में भ्रान्त धारणा के कारण ही अनेक दोष उन्हें प्रतीत होने लगे थे, फिर भी ध्यान देने पर काव्यशास्त्र की दृष्टि से कुछ दोष भी बिहारी सतसई में मिल सकते है। अन्तिम अध्याय में उन्हीं के ऊपर विचार किया गया है।

अन्त में परिशिष्ट में ग्राम और ग्रामीणों के सम्बन्ध में बिहारी की धारणाओं पर प्रकाश डाला गया है। बिहारी नगर सभ्यता से बहुत अधिक प्रभावित थे। राजसभाई कवि के लिये यह स्वाभाविक था भी। ग्रामीणों को उन्होंने शायद सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा। उनकी अनभिज्ञता, अरसिकता और अगुणग्राहिता उन्हें सदा अखरती रही।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में हिन्दी के अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की कृतियों से सहायता ली गई है अनेक स्थलों पर उनके साथ ऐकमत्य तथा बहुत से प्रश्नों पर विरुद्ध मान्यताएं भी प्रकट की गई हैं। साहित्यिक मतैक्य और मतभेद का प्रश्न विवेचन के अन्तर्गत आनुषङ्गिक समझते हुए भी हम उनके लिये क्षमाप्रार्थी हैं और हृदय से उनके प्रति सम्मान तथा आभार प्रकट करते हैं क्योंकि उनकी कृतियों से हम लाभान्वित तो हुए ही हैं। पुस्तक की रचना विशेषतया विद्यार्थियों की सुविधा के लिये और सामान्य रूप से बिहारी के प्रत्येक अध्येता के लिये की गई है। यदि इससे उन्हें बिहारी की रचना

व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिली तो लेखक अपना श्रम सफल समझेंगे। पुस्तक का प्रकाशन जरा शीघ्रता मे हुआ है जिससे छापे की कुछ भूलें रहगई हैं। उनसे पाठकों को जो असुविधा होगी उसके लिये भी हम क्षमायाचना करते हैं और उनके सुझावों का स्वागत करते हुए आगामी संस्करण को उनकी रुचि के अधिकाधिक अनुकूल बनाने की आशा करते हैं।

—लेखक

विषय-सूची

१—जीवन चरित

मध्य युग के अनेक भारतीय कवियों की भाँति बिहारी के जीवन-चरित के विषय में भी अधिक नहीं कहा जा सकता। उनकी रचना से अन्त साक्ष्य के आधार पर गिनी चुनी घटनाओं का ही पता चलता है। सतसई के कतिपय टीकाकारों ने भी इस दिशा में कुछ प्रकाश डाला है और आधुनिक युग के कुछ आलोचकों ने भी इस पर विचार किया है। श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने बिहारी के दो दोहाबद्ध जीवन चरितों का उल्लेख किया है। बिहारी-बिहार के प्रारम्भ में जो जीवन चरित दिया गया है उसके अनुसार इनका जन्म कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार को श्रवण नक्षत्र में सं० १६५२ में ग्वालियर में हुआ था, बचपन बुन्देलखण्ड में बीता और यौवन मथुरा में जहाँ इनकी ससुराल थी[१]।

बिहारी धौम्यगोत्री घरबारी माथुर चौबे थे और इनके पिता का नाम केशवराय था। इस विषय में निम्नलिखित दोहा अन्त:साक्ष्य के रूप में उपस्थित किया जा सकता है—

जनम लियो द्विजराजकुल स्वबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरो कलेस सब केसव केसवराइ[२]॥

मिश्र बन्धुओं का यह कथन कि "दोहे पर ग़ौर करने से प्रकट होता है कि केशवराय शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है न कि कवि के पिता के लिये" उचित नहीं क्योंकि श्रीकृष्ण के लिये तो केशव शब्द पहले ही आ गया है। बिहारी सतसई के सर्वप्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि ने, जो बिहारी के समकालीन थे और जिनकी टीका सं० १७२१ के लगभग समाप्त हुई, इस दोहे की टीका में स्पष्ट लिखा है—"केसोराइ जो मेरो पिता और केसोराय जो श्रीकृष्ण जू॥" समकालीन होने के कारण टीकाकार कृष्णलाल कवि का कथन प्रामाणिक मान लिया जा सकता है और इस प्रकार बहि:साक्ष्य से भी उक्त दोहे की पुष्टि हो जाती है।

---

१ जन्म ग्वालियर जानिये खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुघर मथुरा बसि ससुराल।

२ बिहारी सतसई १०१।

स्व० बाबू राधाकृष्णदास आदि विद्वानों ने बिहारी की रचनाओं में विशिष्ट ज्योतिषज्ञान, बुन्देलखण्डी शब्दावली तथा केशव का प्रभाव देखकर उन्हें प्रसिद्ध आचार्य केशवदास का पुत्र सिद्ध करने की चेष्टा की है जिनके पिता काशीनाथ ने प्रसिद्ध ज्योतिष पुस्तिका होड़ाचक्र की रचना की थी, किन्तु उक्त कारण इस मान्यता को असन्दिग्ध प्रमाणित नहीं कर पाते। किसी की साहित्यिक कृतियों से एक व्यक्ति का प्रभावित होना मात्र ही उनके जनकजन्यभाव का द्योतक नहीं, वे गुरु शिष्य भी हो सकते हैं, अथवा ग्रन्थों के द्वारा ही यह प्रभाव हो सकता है। बिहारी का बचपन बुन्देलखण्ड में ही बीता था, अतः बुन्देली भाषा के कुछ शब्द उनकी रचना में आ भी गए तो वे केशवदास के पुत्र नहीं सिद्ध हो जाते, न इससे उनका बुन्देलखण्डी होना सिद्ध है। 'करबी' 'लखबी' आदि बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग तुलसी ने भी किया है और सूर ने मँहगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द का प्रयोग किया है जो ठेठ पंजाबी है तो फिर तुलसी को बुन्देलखण्डी और सूर को पंजाबी मान लिया जाय ?

असनी के ठाकुर की 'सतसैया वर्णार्थ टीका में बिहारी का जो वृत्त दिया गया है उसके अनुसार बिहारी की स्त्री कवयित्री थी। इधर प्राचीन संग्रहों में केशव पुत्रबधू के नाम से एक कवयित्री का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि केशव की 'रसिक प्रिया' ने उनके पुत्र को ही आवश्यकता से अधिक रसिक बना दिया, इस पर उन्होंने विज्ञान गीता लिखी जिसके प्रभाव से वह ऐहिक भोगों का परित्याग कर 'सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या' का ही पाठ करने लगा। यह देख कर उसकी स्त्री (केशव पुत्रबधू) ने बकरे के ऊपर ढाल कर एक अन्योक्तिपरक कवित्त बनाया जिससे केशव ने अपने पुत्र को पुनः रागप्रवृत्त कर दिया। इस कथन को आधार मानकर और 'केशव-पुत्रबधू' की बिहारी की कवयित्री स्त्री (सतसैया वर्णार्थ टीका के अनुसार) के साथ अभिन्नता मानकर भी बिहारी को केशव का पुत्र बताया जाता है, किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि बिहारी के समकालीन टीकाकार कृष्णलाल ने भी इतने महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख क्यों नहीं किया ? न ही सतसई की किसी अन्य टीका में कोई ऐसा संकेत किया गया है, अतः जब तक पुष्ट प्रमाण प्राप्त न हो जायें बिहारी को केशव का पुत्र मानना समीचीन कैसे हो सकता है ?

देवकीनन्दन की वर्णार्थप्रकाशिका टीका में बिहारी का जो दोहा-बद्ध जीवनवृत्त है उसमें बीरबली लतीफे के ढंग की एक कहानी कही गई है।

उसके अनुसार बिहारी की स्त्री कविता में बड़ी निपुण थी। बिहारी राजा जयसिंह से नित्य दक्षिणा लाकर गृहस्थ का पालन करते थे। जब राजा जयसिंह ने नया विवाह किया और वे नई रानी के संमोहन में सब कुछ भूल गये तो बिहारी को भी दक्षिणा न मिल सकी। वे खाली हाथ घर लौट आये। बिहारी की स्त्री ने एक दोहा (नहिं पराग आदि) लिख कर उन्हें दिया और बिहारी ने दासी द्वारा उसे रंग महल में राजा के पास भिजवा दिया जिससे राजा की मोहनिद्रा टूट गई। राजा ने बिहारी को अञ्जलि भर स्वर्ण मुद्रायें दीं तथा अन्य इसी प्रकार के दोहे बनाने को कहा। बिहारी की पत्नी ने १४०० दोहे बनाये, प्रति दोहा एक मुहर पुरस्कार मिला। उन्हीं में से ७०० दोहे छाँट कर सतसई का संकलन किया गया। बिहारी अपनी पत्नी के परामर्श से छत्रसाल के यहाँ गये। उसने परीक्षा के लिए सतसई अपने गुरु प्राणनाथ को दी जो निर्गुणोपासक थे, उन्होंने सतसई को अश्लील घोषित किया। इस पर बिहारी की पत्नी ने कहला भेजा कि यह सतसई प्राणनाथ की पुस्तक के साथ 'पन्ना' के युगलकिशोर के मन्दिर में रात को रख दी जाय और प्रातःकाल जिस पुस्तक में युगलकिशोर के हस्ताक्षर मिलें वह पवित्र तथा अन्य अशुद्ध मानी जाय। हस्ताक्षर सतसई पर ही हुये। बिहारी वहाँ से चले आये। छत्रसाल ने उनके घर पर ही बहुत सा पुरस्कार भेजा और उन्हें अपने यहाँ बुलाया, तब बिहारी की स्त्री ने यह दोहा लिखकर पुरस्कार लौटा दिया।

> तौ अनेक औगुन भरी चाहै यहै बलाइ।
> जौ पति सम्पति हू बिना यदुपति राखे जाइ॥

प्राणनाथ ने भी बिहारी को बुलवाया उसके उत्तर में बिहारी की पत्नी ने यह दोहा लिखा—

> दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
> प्रकटत निरगुन निकट ही चंग रंग गोपाल॥

इन उत्तरों से छत्रसाल और प्राणनाथ बड़े लज्जित हुये। जब यह समाचार जयसिंह ने सुना तो उन्होंने बिहारी को पुरस्कार देकर बहुत सम्मानित किया। बिहारी की पत्नी पतिव्रता थी अतः उसने सतसई अपने नाम से नहीं अपने पति के नाम से ही प्रसिद्ध की।

यह कहानी श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' की परीक्षा-विषयक गाथा जैसी ही है। इसमें सत्यांश केवल इतना ही हो सकता है कि बिहारी की पत्नी

भी कवयित्री थी और संभवतः सतसई की रचना में उसका भी कुछ योग हो। अस्तु बिहारी की पत्नी का कवयित्री होना सिद्ध होने पर भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह आचार्य केशवदास की ही पुत्रवधू थी। यदि उसे 'केशव पुत्र वधू' नाम से ख्यात कवयित्री मान भी लिया जाय तो भी अधिक संभव यही है कि वह 'केशवराय' की पुत्रबधू थी, केशवदास की नहीं"

'केशव केशवराय' नामक कवि का इतिहास में उल्लेख न मिलने पर भी यह सत्य है कि इस नाम के एक कवि वास्तव में हुये हैं। काशी निवासी बाबू व्रजरत्नदास के पास एक हस्तलिखित पोथी में अन्यान्य कवियों के साथ इनके भी चार पद संगृहीत हैं जो श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपनी 'बिहारी की वाग्विभूति' की भूमिका में दिये भी हैं। इस पोथी का लिपि काल फाल्गुन कृष्णा सप्तमी बुधवार संवत् १७६३ दिया गया है और इसमें संवत् १६५३ तक के ज्ञात कवियों की रचनायें संगृहीत हैं। इस साहचर्य के आधार पर यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इन केशव केशवराय का समय संवत् १६५० के आसपास ही पड़ता है। बिहारी का जन्म संवत् १६५२ में माना गया है। अतः ये केशव केशवराय ही बिहारी के पिता रहे होंगे।

यह कहा जा चुका है कि बिहारी चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। ग्रियर्सन ने उन्हें 'भाट' माना है।[1] जिसका आधार 'केशवराय' में प्रयुक्त 'राय' शब्द है, किन्तु यह मत पूर्णतया भ्रान्तिपूर्ण है। आचार्य केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण थे किन्तु उन्होंने भी अपने कई छन्दों में अपने आपको 'केसौंराय' लिखा है। रीतिकालीन सुप्रसिद्ध आचार्य 'कुलपति मिश्र' बिहारी के भानजे थे उन्होंने अपने 'संग्रामस्मार' के प्रारम्भ में 'केशवराय' की वन्दना इस प्रकार की है—

कविवर मातामह सुमिरि केशव केशवराय।
करौं कथा भारत्थ की भाषा छंद बनाय।

इससे जहाँ 'केशवराय' के ब्राह्मण होने का समर्थन होता है वहाँ ऊपर प्रतिपादित उनके कवि होने की भी पुष्टि होती है क्योंकि कोई कवि अपने मातामह का स्मरण कर तभी मङ्गलाचरण कर सकता है जबकि वह काफी प्रसिद्ध कवि रहा हो। सारांश यह है कि बिहारी के पिता केशवराय चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रसिद्ध आलोचक मिश्रबन्धुओं ने बिहारीलाल जी को 'ककोर' कुल में उत्पन्न माना है। उनकी कल्पना का आधार वह किम्वदन्ती है जिसके अनुसार सतसई की पद्यात्मक टीका करने वाले कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र बताया जाता है। कृष्ण कवि के

---

१ लालचन्द्रिका की भूमिका, पृ० ४।

ककोरवंशोत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है और बिहारी क्योंकि उनके पिता थे अतः 'ककोर' थे। किन्तु इस आधार में तनिक सी भी दृढ़ता नही है। यदि कृष्णकवि बिहारी के पुत्र होते तो इस बात का उल्लेख वे अपने परिचय में अवश्य करते क्योंकि अपनी जाति अल्ल आदि का भी उन्होने उल्लेख किया है, फिर महाकवि बिहारी जैसे महामहिमशाली कवि के पुत्र होने के तथ्य को प्रकाशित करके गौरवान्वित होने का लोभ वे अवश्य ही नहीं त्याग सकते थे। बिहारी की बहिन का विबाह मिश्रकुल में हुआ था जबकि ककोर वंश वालों और मिश्रो में पारस्परिक विवाह सम्बन्ध नहीं होते। अतः बिहारी निश्चय पूर्वक ककोर वंशोद्भव नही थे। चतुर्वेदियों के वैवाहिक सम्बन्ध घरबारियों और मिश्रों में होते हैं। बिहारी की बहिन के मिश्रकुल में परिणीत होने से स्पष्ट है कि बिहारी मिश्र तो थे नहीं। अतः घरवारी थे 'महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी' का 'चतुर्वेदी-पत्रिका' में प्रकाशित यह कथन भी इस बात की पुष्टि करता है—

"जयपुर निवासी कविबर अमरसिंह जी का कुल अद्यावधि सतसईकार कवि श्रेष्ठ बिहारी लाल जी के वंशजों के नाम से प्रसिद्ध है। अमर कृष्ण जी के पास ताम्र पत्र के रूप में जयपुर नरेश की दी हुई सनद भी थी, जो पारिवारिक पारस्परिक कलह के कारण लुप्त हो गई और अब उपलब्ध नहीं है, यह अमरकृष्ण जी घरबारी हैं।"

बिहारी के एक भाई और एक बहिन भी थी। जब बिहारी की आयु ८-१० वर्ष की थी तब उनके पिता ग्वालियर से ओरछे चले आए। इस समय ओरछे की गद्दी पर राजा 'रामजीशाह' थे जिन्होंने अपने राज्य-कार्य का सारा भार अपने प्रिय अनुज इन्द्रजीतसिंह को सौंप दिया था। इन्द्रजीतसिंह स्वभाव से ही वार और नीतिदक्ष होने के साथ-साथ संगीत और काव्य के प्रेमी थे। वे कवियों, गायकों और नर्तकियों का खासा जमघट रखते थे। यहीं पर केशवराय जी का परिचय आचार्य केशवदास जी से हुआ जिनसे बिहारी को काव्य ग्रन्थों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ओरछे के पास ही दसान नदी के तट पर 'गुढौ' गाँव में 'नरहरिदास' नामक महात्मा रहते थे जो बाद में वृन्दावन में हरिदास जी के सम्प्रदाय की निधिवन गद्दी के संवत् १६८३ से सं० १७४१ तक महन्त रहे। इन महात्मा से बिहारी ने संस्कृत, प्राकृत आदि के साहित्य की शिक्षा प्राप्त की। केशवराय जी स्वयं भी इनके शिष्य हो गये थे[१]।

१ देखिये निजमत सिद्धान्त।

बिहारी को केशवदास जी के पास अध्ययन करने का अवसर अधिक नही मिला क्योकि सवत् १६६४ के लगभग इन्द्रजीतसिह का अखाड़ा छिन्न-भिन्न हो गया और केशवदास जी गङ्गातट पर निवास करने चले गये जैसा कि उनकी विज्ञान गीता के इन दोहों से प्रतीत होता है:—

वृत्ति दई पुरुषानि की, देउ बालकनि आसु।
मोहि आपनों जानिकै, गंगातट देउ बासु,
वृत्ति दई पदवी दई, दूर करौ दुख त्रास।
जाइ करौं सकलत्र श्री गंगातट बस बास॥[1]

बिहारी के पिता केशवराय भी ओरछा छोड़कर वृन्दावन चले आये। यहाँ वैष्णव भक्तों और कवियों के साहचर्य से बिहारी ने संगीत आदि का अच्छा अभ्यास कर लिया। यहीं पर हरिकृष्ण मिश्र के पुत्र परशुराम मिश्र से बिहारी की बहिन का विवाह सम्पन्न हुआ, जिसने रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य और कवि कुलपति मिश्र को जन्म दिया। कुलपति मिश्र के वंशज पं० बद्रीप्रसाद चतुर्वेदी 'बांदीकुई' में हैं और परम्परागत कथन के आधार पर वे बिहारी को उनका मामा बताते हैं। बिहारी का विवाह मथुरा के एक माथुर ब्राह्मण के यहाँ कर दिया गया और उनके भाई का विवाह शायद मैनपुरी में हुआ; उन्हीं के वंशजों का उल्लेख श्री अम्बिकादत्त व्यास ने अपनी बिहारी-बिहार की भूमिका में किया है। इसके पश्चात् केशवराय जी विरक्त हो गये और बिहारी अपनी ससुराल में जाकर रहने लगे।

इसी समय के लगभग सं० १६७५ में बिहारी के गुरु श्रीनरहरिदास जी अपने गुरु श्री सरसदेव जी के पास वृन्दावन चले आये। तुजुके जहाँगीरी के अनुसार इसी वर्ष जब जहाँगीर 'चिन्द्रूप' नामक महात्मा के दर्शन करने के लिये वृन्दावन आया तो उसके साथ युवराज शाहजहाँ भी था। शाहजहाँ नागरीदास जी के दर्शन के लिए उनकी टट्टी में गया जहाँ उसकी भेंट नरहरिदास जी से हुई, जिन्होंने उसके सामने बिहारी की प्रतिभा की सराहना की। उसने बिहारी से आगरा चलकर रहने का अनुरोध किया और वे गुरु नरहरिदास जी की आज्ञा से आगरा चले गये जिसका उल्लेख इस दोहे में हुआ है:—

श्री नरहरि नरनाह कौं दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन-आगरैं आगरै, रहत आइ सुखु पाइ॥[2]

---

१ विज्ञान गीता, २१-५६, ५७।

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन०) भाग ८, अङ्क १, पृ० १८।

आगरे में रहकर बिहारी ने फारसी भाषा का भी अच्छा अभ्यास कर लिया। शाहजहाँ के कृपापात्र होने के कारण अन्य सामन्तों और अमीरो ने भी उनका पर्याप्त मान किया। यहीं पर अब्दुर्रहीम खानखाना से उनकी भेंट हुई जो सहृदय कवि और उदारहृदय व्यक्ति थे। कहा जाता है उन्होंने गंग को एक छप्पय पर ३६ लाख रुपये पारितोषिक स्वरूप दिये। महाकवि बिहारी ने उनकी प्रशंसा में यह दोहा कहा:—

गंग गोंछ, मोछै जमुन अधरन सरसुति-रागु।
प्रकट खानखानान कै कामद बदन प्रयागु॥

कहते है कि इस पर प्रसन्न होकर रहीम ने बिहारी को कई सहस्र अशर्फियाँ दी। सचमुच रहीम विषयक ये किंवदन्तियाँ राजाभोज या महाकवि 'माघ' की स्मृति दिलाती हैं।

संवत् १६७७ में शाहजहाँ के पुत्रजन्मोत्सव पर भारत के ५२ नरेश विभिन्न राज्यों से आये। वे बिहारी की प्रतिभा से बड़े प्रभावित हुए; फिर शाहजहाँ की बिहारी पर विशेष कृपा होने के कारण उन राजाओं ने भी विशेष अनुग्रह दिखाया और उनके लिये वार्षिक वृत्ति बाँध दी। संवत् १६७८ में राजनीतिक हलचल मची। नूरजहाँ ने जहाँगीर के दूसरे पुत्र शहरयार को जिसे उसने अपनी शेर अफग़न से उत्पन्न लड़की ब्याह दी थी, जहाँगीर का उत्तराधिकारी बनाने की चेष्टा की और जहाँगीर को शाहजहाँ के विरुद्ध भड़काया, फलस्वरूप शाहजहाँ को आगरा छोड़ देना पड़ा और उसके चले जाने से बिहारी का सम्बन्ध भी आगरा दरबार से टूट सा गया। अपनी वार्षिक वृत्ति लेने के लिए वे नियमानुसार कुछ राजाओं के यहाँ जाया करते थे। संवत् १६७८ से सं० १६९१ तक बिहारी कहीं जम कर नहीं रहे किन्तु इसी बीच में उन्होंने ब्रजभाषा के प्रौढ साहित्यिक रूप का ढाँचा बना लेने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया और सतसैया के दोहों को नावक के तीरों के समान क्षमता प्रदान करने की पृष्ठ भूमि तैयार कर ली।

संवत् १६९२ में जब बिहारी अपनी वार्षिक वृत्ति लेने के लिये जयपुर गये। महाराज जयसिंह उस समय एक नवपरिणीता रानी की वयःसन्धि एवं सौन्दर्य चाकचक्य में कुछ ऐसे फँसे हुए थे कि सब कुछ भूल गये थे। राज्यकार्यों की उपेक्षा हो रही थी। उनके प्रणय-प्रसङ्ग में व्यवधान उत्पन्न करने का साहस किसे होता? उनकी पटरानी जो करौली के चौहान सरदार श्यामदास की पुत्री थी और चौहानी रानी के नाम से प्रसिद्ध थीं, इस बात

से बड़ी दुखी थीं। उन्होंने राज्य के मन्त्रियो से मिलकर राजा को विलास कर्दम से निकालने का उपाय सोचा और बिहारीलाल जी से उसे चेतावनी देने का अनुरोध किया क्योंकि वे समझते थे कि सम्राट् शाहजहाँ[1] के कृपापात्र होने के कारण महाराज रुष्ट होने पर भी उन्हे दण्ड देने की बात नहीं सोच सकते। काव्य द्वारा कान्ता-सम्मित उपदेश राजा को देने की चेष्टा में बिहारी को विकटनितम्बा की यह उक्ति याद आई:—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोल विनोदय मनः सुमनोलतासु ॥
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले।
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

तत्क्षण ही इस भाव को उन्होंने अपने शब्दों में बाँध लिया और एक कागज पर अपने उस प्रसिद्ध 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाले दोहे को लिखकर पुष्पों की डलिया में, जो नियमित रूप से मालिन महाराज की सेज सज्जा के लिये पहुँचाती थी, रख दिया और फूलो में छुपे हुए इस शूल में बिंध कर महाराज अन्तःपुर से ही नहीं शृङ्गार के तत्कालीन विलासकर्दम से भी बाहर निकले चले आये। उनकी आँखें खुल गईं और आगा-पीछा सोचने की क्षमता लौट आई। तत्काल ही अञ्जलिभर स्वर्णमुद्राएँ देकर उन्होंने बिहारी का सत्कार किया और उनकी प्रशंसा करते हुए प्रति दोहा एक स्वर्णमुद्रा पारितोषिक स्वरूप देने का वचन देकर इस प्रकार के अन्य दोहों के रचने की प्रेरणा दी। बस, यहीं से बिहारी की शृङ्गारामृत सरस सतसई की रचना का सूत्रपात हुआ। चौहानी रानी ने प्रसन्न होकर बिहारी को 'काली पहाडी' नामक ग्राम दिया और अपनी ड्योढी का कवि बनने का अनुरोध किया और बिहारी जयपुर में जमकर अपना काव्यकौशल दिखाने लगे। चौहानी रानी ने बिहारी का एक चित्र भी बनवाया जो अबतक भी जयपुर के महल में मौजूद है।

इस घटना के कुछ ही मास पश्चात् चौहानी रानी ने कुँवर रामसिंह को जन्म दिया जो जयसिंह के उत्तराधिकारी हुए। इस महोत्सव के अवसर पर शीशमहल में बड़ा भारी दरबार किया गया और अतुल सम्पत्ति दान दी गई जिसका वर्णन बिहारी ने किया है। कुँवर रामसिंह के लगभग ७-८ वर्ष के हो जाने पर चौहानी रानी की इच्छानुसार बिहारी उनके शिक्षक नियुक्त हुए। उन्होंने राजकुमार के अध्ययनार्थ ५०० दोहों का एक संग्रह

१ शाहजहाँ इस समय तक गद्दी पर बैठ गया था।

किया जिसमें अधिकांश दोहे स्वय उनके थे तथा अन्य कवियों की रचनाएँ भी संगृहीत थीं। यह आश्चर्य की बात है कि बिहारी जैसे कवि की प्रौढ़ साहित्यिक कृति, जिसको अनेक टीकाकार भी समझने में कहीं-कहीं गड़बड़ कर गये है राजकुमार के अक्षरारम्भ के लिये उपयुक्त समझी गई। अर्थगाम्भीर्य में उत्कृष्ट उदाहरण सतसई के 'दोहरे' उनकी समझ में क्या आते होंगे। हमारा अनुमान है कि भाषा का कुछ ज्ञान कराने के पश्चात् ही बिहारी ने राजकुमार को यह संग्रह पढाया होगा और इसमें अधिकांश में उनकी सूक्तियाँ, भक्ति के दोहे तथा कुछ सीधी, सरल और सयत शृङ्गारिक उक्तियाँ ही संगृहीत की गईं।

सम्वत् १७०४ में शाहजहाँ ने महाराज जयसिंह तथा औरंगजेब को बलख पर चढ़ाई करने के लिये भेजा। जयसिंह की वीरता और निपुणता से यह अभियान सफल हुआ। शत्रु से घिरी हुई सेना की उन्होंने अपने उत्तम सैन्यसंचालन द्वारा रक्षा की। आगरे में सम्राट् ने उनका बड़ा भारी स्वागत और सम्मान किया। इस अवसर से सम्बन्धित बिहारी के भी कुछ दोहे सतसई के अन्त में मिलते हैं जिससे प्रतीत होता है कि सतसई की समाप्ति इसी अवसर पर हुई और इसी समय उन्होने यह महाराज को भेंट की।

जयपुराधीश के यहाँ रहते हुए भी बिहारी का सम्बन्ध मुगल दरबार से बराबर स्थापित रहा। वे प्रायः वहाँ आया जाया करते थे। शाहजहाँ के आश्रय में रहने वाले प्रसिद्ध संस्कृत कवि एवं आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ से उनका अच्छा परिचय था जिन्होंने उनकी प्रार्थना पर उनके भानजे कुलपति मिश्र को पढ़ाया भी था। सतसई के समाप्त होते-होते बिहारी की पत्नी का भी देहावसान हो गया और अन्त मे वे अपने गुरु नरहरिदास जी के पास बृन्दावन चले आये।

बिहारी निःसन्तान थे। जनश्रुति के अनुसार उनके कृष्णलाल नामक एक पुत्र का होना पाया जाता है। परन्तु यह उनके औरस पुत्र नहीं थे। उन्होंने अपने भतीजे निरञ्जनकृष्ण को गोद ले लिया था। ये निरञ्जनकृष्ण ही कृष्ण या कृष्णलाल के नाम से भी पुकारे जाते थे। रत्नाकर जी के अनुसार "इस प्रकार के नाम खण्डित होकर आये, आधे भी पुकारे जाते हैं। इसलिये कोई उन्हें 'निरंजन' कहता होगा और कोई 'कृष्ण'।"[१] इन्हीं निरंजनकृष्ण उर्फ कृष्णलाल ने महाराज रामसिंह की आज्ञा से बिहारी

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन०) भाग ८, अङ्क २, पृष्ठ १५०।

सतसई की प्रथम टीका का बिहारी के जीवनकाल में ही प्रणयन किया जो सम्वत् १७१९ में सम्पन्न हुई जिसका निर्माण काल उसमें इस प्रकार दिया हुआ है:—

सम्वत् ग्रह शशि जलधि छिति, छठि तिथि बासर चन्द।
चैत मास पख कृष्ण में, पूरन आनन्दकन्द॥

बिहारी का देहावसान सम्वत् १७२१ के आसपास माना जाता है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

रसिक होते हुए भी बिहारी में स्वच्छन्द उच्छृङ्खलता का नितान्त अभाव था। वे सामन्तशाही युग के प्रतिनिधि कवि थे, जिसमें वैभव प्रदर्शन की लालसा ने मानव की सभी वृत्तियों को पूर्ण रूप से अभिभूत कर लिया था। सम्पत्ति की चाह हर एक को थी और उसके अर्जन में उचित अनुचित का विचार कोई नही करता था। लोग नीतिगलित होकर भी धन कमाने में तत्पर थे परन्तु बिहारी को यह बात पसन्द न थी। इस तथ्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं। बिहारी ने स्वयं कहा है:—

मित्र न नीति गलीत ह्वै जो रखिये धन जोरि।

यदि वे चाहते तो अनेक अवसरों पर अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करके अतुल सम्पत्ति पुरस्कार में पा सकते थे किन्तु उन्होंने राजा जयसिंह की अनुचित प्रशंसा कभी नही की। जयसिंह ने मुग़ल साम्राज्य के लिये शिवाजी पर जो विजय प्राप्त की थी उसके उपलक्ष में बिहारी ने कोई शब्द नहीं कहा, इससे उनके जातीय प्रेम और हिन्दुत्व के अभिमान का आभास भी मिलता है इतना ही नहीं उन्होंने प्रकारान्तर से अन्योक्ति द्वारा जयसिंह को मृदु फटकार भी दी है:—

स्वारथ सुकृत न, श्रम वृथा, देख विहंग बिचारि,
बाज पराए पानि पर, तू पच्छीनु न मारि॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दोहे ने जयसिंह को एक बार फिर उसी तरह से चौंका दिया जिस प्रकार 'अली कली' वाले दोहे ने चौंकाया था और इतिहास साक्षी है कि उसने शिवाजी से युद्ध की अपेक्षा सन्धि करना ही उचित समझा तथा उसके लिये चेष्टा भी की, यह दूसरी बात है कि औरंगज़ेब ने अपनी अदूरदर्शिता से सारा काम बिगाड़ दिया। अपने आश्रयदाता जयसिह के पूर्वज मानसिंह की प्रशंसा में बिहारी ने जो

कवित्त[१] कहा है उससे उनके विषय में अन्यथा धारणा बना लेने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये। उनकी दृष्टि से मानसिह अवसर देखकर सम्राट् से मिल गये थे और आन्तरिक रूप से अपने जातीय कर्त्तव्य के प्रति सजग थे। उन्होंने काबुल के मुसलमानों की शक्ति का नाश किया और बंगाल के पठानों को तीव्रता से कुचल दिया। अकबर भी उनसे शंकित रहने लगा था। प्रसिद्ध इतिहासकार टॉड ने अपने (Annals of Rajasthan) नामक लेख में लिखा है कि अकबर ने मानसिंह से डर कर उसे विष देने का प्रयत्न किया था जिसे वह भूल से स्वयं ही खा गया और इसीलिये उसकी मृत्यु भी हुई।

बिहारी बड़े ही हँसमुख और ज़िन्दादिल आदमी थे। जहाँ उनकी शृङ्गारिक उक्तियों से उनकी रसिकता टपकती है वहाँ उनकी सतसई में ऐसी उक्तियों का भी अभाव नहीं है जो पाठक के हृदय को गुदगुदा कर मुसकाने के लिये वाध्य करती है। इन उक्तियों में हास्य ही कवि का लक्ष्य नही है। अस्पृहणीय सामाजिक तत्त्वों पर भी तीव्र व्यंग्य करना उसका उद्देश्य प्रतीत होता है। केवल हास्य के लिये हास्य उतना प्रशस्य नही कहा जा सकता, भले ही वह शारीरिक स्वास्थ्य के लिये उपयोगी हो, परन्तु जिस हास्य के मूल में निर्माण की नव प्रेरणा निहित है वह प्रशस्य ही नही संग्राह्य भी है। बिहारी का हास्य ऐसा ही है जो उनके जीवन की मस्ती का गम्भीर चिन्तन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ अलौकिक सामञ्जस्य प्रस्तुत करता है। शिष्ट और साहित्यिक हास्य के ऐसे उदाहरण हिन्दी साहित्य में बहुत ही कम हैं। देखिये नीचे लिखे दोहे में ज्योतिषी जी के ज्योतिष ज्ञान से उनकी

---

१ महाराज मानसिंह पूरब पठान मारे,
सोनित की सरिता अजौं ना भिमिटत है;
'सुकवि बिहारी' अजौं उठत कबन्ध कूदि,
आजु लगि रन तैं रनोही ना मिटत है।
आजु लौं पिसाचन की चहलन ते चौंकि-चौंकि
सची मघवा की छतियाँ सो लपटति है;
आजु लगि ओढ़ै हैं कपाली आली-आली खालै,
आजु लगि काली मुख लाली ना मिटत है।

जोधपुर के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुन्शी देवीप्रसाद ने अपनी 'कविरत्न माला' में यह कवित्त बिहारीलाल का ही बताया है। कविराज मुरारिदान ने भी अपने जसवन्त जसोभूषण' में ऐसा ही माना है।

अज्ञता किस प्रकार बाजी ले जाती है जिसे देखकर पाठक को हंसी ही नहीं आती उस बेचारे के साथ सहानुभूति भी होती है:

> चित पितु-मारक जोगु गनि, भयौ भये सुत सोगु ।
> फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी समुझैं जारज जोगु ।।

पेशेवर चिकित्सक और कथावाचक मिश्र जी के विषय की उक्तियाँ भी ऐसी ही हैं।

इस संक्षिप्त विवेचन से बिहारी की व्यक्तिगत रुचि अरुचि और आदतों का कुछ आभास मिल जाता है। रसिकता से सम्बद्ध उनके प्रेम विषयक आदर्शों का उल्लेख ''वर्ण्य विषय' के अन्तर्गत यथास्थान किया जायगा।

२—बिहारी साहित्य की पृष्ठ-भूमि

आचार्य मम्मट ने काव्य के मूल कारणों का विवेचन करते हुये बाह्य कारणों में लोकअवेक्षण को बड़ा महत्त्व दिया है। वस्तुत: लोकनिरीक्षण के अभाव में रचना काव्यकला का उपहास मात्र बन कर रह जाती है। वह और चाहे जो कुछ हो समाज की अथवा यूं कहिये कि जीवन की व्याख्या नहीं हो सकती। सच्चे कवि में लोकनिरीक्षण की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही होती है और समाज की प्रवृत्तियाँ उस पर जाने या अनजाने अपनी छाप लगा ही देती हैं। यह सत्य है कि युगप्रवर्तक कवि समाज की धारा में न बह कर उसे अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ लिया करते है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि समाज से वे प्रभावित ही नही होते अथवा उससे संपृक्त ही नहीं रहते, इसके विपरीत वे उस धारा का आयाम, गम्भीरता, गति आदि का पूरा-पूरा ज्ञान रखते है, अपनी शक्ति और साधन का निरीक्षण करते हैं और तब धीरे-धीरे धैर्य के साथ उस ओर अग्रसर होते हैं। यह बहुत बड़ी बात है, तभी तो तुलसी, सूर और भारतेन्दु विरल ही होते हैं। किन्तु जो कवि समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकता है वह चाहे लोकनायक हो या न हो, साहित्य के क्षेत्र में नूतन पथ प्रशस्त करे या न करे; महान् अवश्य होता है। बिहारी ऐसे ही महाकवि थे। वे अपने युग में व्याप्त थे और युग उनमें व्याप्त था। प्राचीन परम्पराओं के साथ सामयिक परिस्थितियों का भी उनकी रचनाओं में ऐसा समन्वित समावेश हुआ है कि वह सूक्ष्म बुद्धि के व्यवहार का विषय बन गया है। अत: उनके कवि-कर्म का मर्म समझने के लिये उसकी पृष्ठभूमि पर भी दृष्टि डालनी होगी।

राजनीतिक दशा

बिहारी का जीवन मुगलवंश के चार महान् सम्राटों के समय से सम्बद्ध है। बचपन के ८—७ वर्ष उन्होंने अकबर के राज्य में व्यतीत किये थे, किशोर और यौवन अवस्था का पूर्वार्द्ध नूरजहां और जहाँगीर के राज्य में, अन्तिम ६—७ वर्ष औरङ्गजेब के काल में और आयु का एक बड़ा और स्वर्णिम अंश मयूर सिंहासन तथा ताजमहल के निर्मापक मुमताजप्रिय शाहजहाँ के समय में, समय मे ही नहीं उसके निकट सम्पर्क में और उसके सरदारों की छत्रछाया में।

जहाँगीर और शाहजहाँ का शासनकाल मध्य युगीन भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण शान्ति, सुव्यवस्था, कला और साहित्य की उन्नति का काल माना जाता है। अकबर ने अपने जीवन में विशाल साम्राज्य का संगठन कर दिया था। राजस्थान के राजपूतों को उसने बल तथा नीति से अपना वशवर्ती और सहायक बना लिया था। महाराणा प्रताप ही इसके अपवाद थे। सं० १६७१ के लगभग उनके पुत्र अमरसिंह ने जहाँगीर के समक्ष घुटने टेक दिए थे और इस प्रकार अन्तिम राजपूत शासक भी उसके अधीन हो गया और इस प्रकार पश्चिम में फारस की पूर्वी सीमाओं से लेकर आसाम तथा ब्रह्मदेश की पश्चिमी सीमा तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में महानदी और गोदावरी के मध्य प्रदेश पर्यन्त प्राय: समस्त देश बादशाह के शासन में आ गया था। शाहजहाँ के समय में दक्षिण का भी एक बहुत बड़ा भाग विजित कर लिया गया तथा खानदेश, बरार, दौलताबाद और तेलंगाना के चार सूबे और बढ गये। इस प्रकार दक्षिण के एक छोटे से प्रदेश के अतिरिक्त समूचे भारत पर शाहजहाँ का एकछत्र राज्य हो गया।

उस युग में जबकि यातायात का तीव्रतम साधन घोड़ा ही था, इतने बड़े भू-भाग का शासन दिल्ली में बैठे रह कर करना आसान न था। अत; समस्त साम्राज्य को सूबों में विभाजित कर दिया गया था। जिनमें सम्राटों द्वारा नियुक्त सूबेदार शासन करता था। यह नागरिक शासन के अतिरिक्त अपने सूबे की समस्त सेना का सेनापति भी होता था। शासन और सेना दोनों का प्रमुख होने के कारण सूबेदारों की शक्ति बहुत बड़ी होती थी और उनकी ओर से बादशाह को सदा ही विद्रोह का सन्देह बना रहता था। महत्त्वाकांक्षी सूबेदारों की ओर से तो और भी अधिक डर था। इसीलिये सम्राट् अपने विश्वस्ततम व्यक्ति को ही सूबेदार नियुक्त करता था और उसे भी थोड़े-थोड़े समय पर एक सूबे से दूसरे सूबे में स्थानान्तरित कर दिया जाता था। अधिकतर शाहज़ादे ही इस पद पर नियुक्त किये जाते थे। प्रत्येक सूबे में केन्द्र के द्वारा एक दीवान नियुक्त होता था। जो प्रान्तीय शासन की गति विधि से केन्द्र को अवगत करता रहता था। यह सूबेदार की शक्ति पर एक प्रकार से अंकुश का कार्य करता था, फिर भी सूबेदारों के विद्रोह होते रहते थे। स्वयं शाहजहाँ ने जहाँगीर के विरुद्ध इस प्रकार का विद्रोह किया था। वास्तव में मुसलमानी शासन का इतिहास बादशाह और सरदारों की शक्ति के संघर्ष का इतिहास है जिसमें बादशाह की व्यक्तिगत योग्यता तथा शक्ति के ऊपर बहुत कुछ निर्भर होता था। जब कभी केन्द्रीय शासन में

निर्बलता आई तभी प्रभावशाली प्रान्तीय शासक अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर देते थे किन्तु युद्ध में हारने पर उन्हें प्रायः प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। उत्तराधिकार की समस्या भी तलवार के बल पर तय होती थी, अतः यह कोई नही कह सकता था कि उत्तराधिकारी कौन होगा। उत्तराधिकार युद्ध में एक का साथ देने पर सामन्त लोग दूसरे के कोपभाजन बन जाते थे, उनकी तटस्थता भी घातक ही हो जाती थी। विजित हिन्दू राजाओं को बादशाह की आज्ञा माननी होती थी। उनके उत्तराधिकारी की नियुक्ति बादशाह की सहमति के बिना नही हो सकती थी, उन्हें समय समय पर बादशाह के दरबार में उपस्थित रहना पड़ता था। वे बादशाह के मनसबदार होते थे और उनकी ओर से युद्ध भी करते थे। षड्यन्त्र के सन्देह मात्र से सरदारों को अपदस्थ कर दिया जाता था। कविवर रहीम को इसी प्रकार कई बार बादशाह का कोपभाजन बनना पड़ा था।

मुगल शासन में कोई भी सेवा (नौकरी) निश्चित नहीं थी। सेवा विषयक कोई नियम भी नही थे, सब कुछ बादशाह की इच्छा पर निर्भर था। वह चाहता तो किसी को निम्नतम पद से उठाकर उच्चतम पद पर आसीन कर देता, उसके मन में आता तो ऊँचे से ऊँचे पदाधिकारों को छोटे से पद पर काम करने के लिये बाध्य कर देता। विभिन्न विभागों के उच्च अधिकारी अपने सहायक तथा निम्नश्रेणी के अधिकारियों और नौकरों की नियुक्ति स्वयं किया करते थे। नौकरी में तरक्की स्थायिता आदि का नियम न होने के कारण हेर-फेर होते रहते थे। जब कोई उच्चाधिकारी परिवर्तित होता तभी पूरी व्यवस्था का कायाकल्प हो जाता था। वह अपने कृपापात्रों और सम्बन्धियों की नियुक्ति कर देता तथा अपने विरुद्ध या असमर्थक कर्मचारियों को अलग कर देता था तथा उनके वेतन भी इच्छानुसार न्यून-अधिक कर दिया करता था। कभी-कभी तो अकारण ही केवल अपनी शक्ति दिखाने के लिये ही वह हेर-फेर कर देता था। कभी-कभी निम्न वर्ग के व्यक्ति भी उच्च पदों पर पहुँच जाते थे।

बिहारी के जीवन-चरित से स्पष्ट है कि शाहजहाँ के दरबार से उनका विशेष सम्पर्क रहा और उनको संरक्षण देने वाला आमेर (जयपुर) का वह राजवंश था जिसने सब से पहले मुगलों से राजनीतिक तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और कई पीढ़ियों तक मुगल सम्राटों का दाहिना हाथ बना रहा। मानसिह की बुआ, बहिन और पोती मुगलों से ब्याही गई थीं। उसका चचा भगवानदास अकबर का मनसबदार था और वह स्वयं मुगल

सेना का यशस्वी सेनापति था जिसने अनेक युद्धों और विद्रोहों की झंझा में इधर-उधर झुकते हुए साम्राज्य की जड को सशक्त बनाया। उसने खोतान से लेकर सागर पर्यन्त के प्रदेश को विजित किया, आसाम को अधीनस्थ बनाया, उड़ीसा पर प्रभुत्व स्थापित किया और काबुल को आज्ञापालन करने के लिये विवश किया। बिहारी ने मानसिंह की प्रशस्ति में एक कवित्त लिखा था जिसका उल्लेख हम पीछे कर आए है। मानसिंह कई सूबों मे सम्राट् का प्रतिनिधि भी रहा। वह इतना शक्तिशाली हो गया था कि अकबर को भी उससे भय लगता था और उसकी बात का समर्थन करना पडता था। मानसिंह अपने भानजे शाहजादा खुसरू को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था और अकबर को संकोचवश उसी का पक्ष लेना पड़ा जिससे सलीम ने विद्रोह कर दिया था। मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् जहांगीर की अप्रसन्नता और मानसिंह के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण सत्ता जोधपुर के हाथ में चली गई किन्तु कुछ समय पश्चात् जोधाबाई की सिफारिश से जहांगीर ने मानसिंह के प्रपौत्र जयसिंह को यह पद प्रदान कर दिया। जयसिंह वीर तथा प्रतिभाशाली शासक था। उसने साम्राज्य को दृढ़ करने में अनुपम योग दिया। उसने औरंगजेब के पक्ष में दारा का दमन किया, छत्रसाल से सन्धि कराई और शिवाजी को दरबार में उपस्थित होने के लिये बाध्य किया। कर्नल टाड के अनुसार जयसिंह का कथन था कि मेरी एक मुट्ठी में सूरत है और दूसरी में दिल्ली, सूरत को मैने पटक दिया है और दिल्ली को जब चाहूं पकट सकता हूँ। औरंगजेब उससे इतना ही चिन्तित हो गया था जितना मानसिंह से अकबर। अकबर ने मानसिंह को विष देकर मारने के प्रयास में भूल से स्वयं खाकर प्राण खोये थे किन्तु कुटिल तथा कृतघ्न औरंगजेब जयसिंह को उसके पुत्र रामसिंह द्वारा विष देकर मरवाने में सफल हो गया।

मुगल साम्राज्य ही नही हिन्दू राज्यों की भी यही दशा थी। राजस्थान के राजपूत पारस्परिक फूट से ग्रस्त थे। वे शक्ति संचय कर समवेत रूप से मुगल सम्राट् के विरुद्ध उठने की बात भी नहीं सोच सकते थे, बल्कि उसकी खुशामद और दूसरे की बुराई द्वारा उसके कृपापात्र बनने में एक दूसरे से आगे रहना चाहते थे। मुगल दरबार और हरम की भांति इनके अन्तःपुर भी ईर्ष्या, द्वेष और षड्यन्त्र के क्षेत्र बने हुए थे। व्यक्ति की प्रधानता वहां भी थी। राजा का व्यक्तित्व ही शासन का आधार था। वैयक्तिक प्रतिद्वन्द्वो के कारण उनकी शक्ति का ह्रास हो रहा था और वे नैतिक पतन के गर्त में बड़ी तेजी के साथ गिरते जा रहे थे। यदि दिल्ली का औरंगजेब सिंहासन के

लिये अपने भाइयों का वध कर सकता था तो आगरे का रामसिह मुगलों की कृपा पर निर्भर छोटे से राज्य के लिये अन्य व्यक्ति के सकेत पर विष द्वारा अपने पिता की हत्या कर सकता था।

इन सब परिस्थितियो का प्रभाव बिहारी पर भी पडा जो उनके अनेक दोहो में अभिव्यक्त हुआ है। बिहारी की स्वयं अपनी कुछ राजनीतिक एवं प्रशासनिक मान्यताएँ थी जिनका स्पष्ट उल्लेख तो उन्होंने नही किया है किन्तु अन्योक्तियों के रूप में अभिव्यञ्जित अवश्य कर दिया है। उनकी कितनी ही उक्तियाँ तत्कालीन सम्राट् की राजनीति और शासन तथा जयसिह की राजनीति से उनके सैद्धान्तिक संघर्ष की परिचायिका हैं। राजकर्मचारियों की मनमानी, दुहरे शासन का उत्पीडन, जनता का त्रास आदि उन्हे असह्य थे अतः किसी न किसी रूप में उनकी विरुद्धभावना, रोष और वेदना प्रकट हो ही गए हैं। बिहारी के राजनीतिक दृष्टिकोण पर उनके 'जीवनदर्शन' का विवेचन करते हुए कुछ प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त होगा कि सतसई के अध्ययन से तत्कालीन शासन की अवस्था का परिचय भलीभाँति मिल जाता है।

हिन्दू राजाओं और मुसलमान सम्राट् के दुहरे शासन में जनता पिस रही थी। राजाओं का दलन भीषण होता था, बड़े-बड़े व्यक्ति तो चक्कर में नहीं आते थे किन्तु गरीव निःशक्त लोगों को तो हर प्रकार से दबना पड़ता ही था। बड़ों के विरुद्ध कुछ कहने की हिम्मत कौन कर सकता था? अधिकारी वर्ग अपने पक्ष को बढ़ावा देते थे। आमिल लोग मनमाने ढंग से कर की रकम को बढ़ा घटा देते थे। शासन-व्यवस्था में शिथिलता थी; जिससे चोर डाकू उत्पात मचा रहे थे। पर्वतीय मार्ग विशेष रूप से असुरक्षित थे, ठग और लुटेरों के संगठन भी बने हुए थे। यदि एक ठग किसी यात्री को ठगने में असफल हो जाता तो वह उसे दूसरे ठग को बेच भी देता था। बिहारी ने ऐसे ठगों का भी उल्लेख किया है जो जादू टोने आदि के द्वारा यात्री को वशवर्ती बना कर लूट लेते थे।

सामाजिक दशा

सम्राट् तथा सामन्त वर्ग

जहाँगीर सुरा और सुन्दरी का उपासक था। सुन्दरी मिहरुन्निसा को प्राप्त करने के लिये उसने शेर अफग़ान जैसे विश्वस्त सरदार को मरवा डाला और सुरा के लिये अपने प्राणों की ही बाजी लगा दी तथा अन्त में

प्राण छोड़ने पसन्द किये किन्तु सुरा के प्रति बेवफाई न की। इस समय तक मुगल साम्राज्य दृढ़ हो गया था। राजकोष धन से परिपूर्ण था। भर्तृहरि के अनुसार धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग तथा नाश। जो व्यक्ति न तो दान ही देता है और न धन का ही उपभोग करता है। उसके धन की तीसरी गति (नाश) होती है। इस मामले में मुगल सम्राटों ने मध्यम मार्ग (भोग) पर चलता ही उचित समझा परन्तु उसे मध्य में नहीं छोड़ा और पराकाष्ठा पर पहुँच कर ही चैन लिया। शाहजहाँ के युग में तो दक्षिण का बहुत सा भू-भाग साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने के कारण आय और भी अधिक बढ़ गई थी। शाही कोष में २२ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष आता था। उस समय रुपये का मूल्य आज की अपेक्षा लगभग दस गुना था। शाहजहाँ ने उसका यथासंभव उपभोग किया और विलास का ऐसा मादक वातावरण उत्पन्न कर दिया जिसमें उच्चवर्ग के सभी व्यक्ति, सामन्त, अधिकारी, आदि पूर्णतया सराबोर हो गये।

शाहजहाँ का राज्यकाल, वैभव एवं तज्जन्य विलास से विलसित था। बर्नियर, ट्रेवर्नियर, मनूची आदि विदेशी यात्रियों ने उसके दरबार का आँखों देखा वर्णन किया है। जिसकी शान-शौकत को देखकर वे दंग रह गये थे। सम्राट् का व्यक्तिगत व्यय अपार था। मुगल परिवार में रत्नों और मणियों का मुक्तहस्त प्रयोग होता था। शाहजहाँ वैभव और विलास का साकार रूप था। वह स्वर्ण जटित वस्त्रों, बहुमूल्य रत्नहारों और इत्रों से सराबोर रहता था। उसका अन्तःपुर इन्द्रभवन से भी बढ़कर प्रतीत होता था। बर्नियर ने लिखा है:—मैंने (शाहजहाँ के अन्तःपुर में) लगभग सभी तरह के रत्न देखे हैं जिनमें कोई-कोई तो असाधारण ही हैं ......। वे इन मुक्तामालाओं को ओढ़नी की भाँति कन्धों पर पहनती हैं। इनके साथ दोनों तरफ मोतियों की कितनी ही मालायें होती हैं। सिर में वे मोतियों का गुच्छा-सा पहनती है, जो माथे तक पहुँचता है और जिसके साथ जवाहिरात का बना हुआ सूरज और चाँद के आकार का बहुमूल्य आभूषण होता है। दाहिनी तरफ एक छोटा-सा गोल गहना होता है जिसमें दो मोतियों के बीच एक छोटा-सा लाल जड़ा रहता है। कानों में बहुमूल्य अलङ्कार और गर्दन के चारों ओर बड़े-बड़े मोतियों तथा बहुमूल्य रत्नों के हार पहनती हैं'' आदि आदि। रीतिकालीन वासकसज्जाओं की ये साकार मूर्तियाँ थीं।

वैभव विलास का जनक होता है। जिस मुगल सम्राट का यह अप्रतिम ऐश्वर्य था उसके अन्तःपुर में सहस्रों स्त्रियाँ रहती थीं। बर्नियर के

आँखों देखे वृत्त के अनुसार बादशाह के हरम में विभिन्न जातियों और वर्णों की २००० स्त्रियाँ रहती थीं जिनके विभिन्न कर्तव्य निर्धारित थे। कुछ बादशाह की सेवा के लिए, कुछ शाहजादियों की शिक्षा और मनोरञ्जन आदि के लिये होती थीं। कितनी ही बूढ़ी औरतें जासूसी का कार्य करती थीं और स्थान-स्थान से सुन्दरियों को फँसाकर राजमहल की अतिथि बनाती थीं। सुन्दरियों के साथ सुरा का भी उन्मुक्त सेवन सम्राट् के महल में होता था। युद्ध-भूमि में भी सम्राट् एवं अमीरों के अन्तःपुर साथ रहते थे। दिन भर लड़ाई के संघर्ष से श्रान्त सैनिकों को सुन्दरियों के कटाक्षों से तरोताज़ा करने की यह मुगलों की अपनी मौलिक युक्ति थी।

सामन्तगरण तथा अधिकृत नृप-समुदाय

यह कहा जा चुका है कि मुगलशासन सामन्तशाही था। राज्य के उच्च पदों पर अमीर नियुक्त किये जाते थे जिनके ऊपर सारी शासन-व्यवस्था निर्भर थी। ऐश्वर्यसंपन्न सम्राट् के सरदार भी ऐश्वर्यसंपन्न थे। राज्य के नियम के अनुसार सामन्तों की सम्पत्ति उनकी मृत्यु के उपरान्त राज्य-कोष में चली जाती थी। अतः अपने जीवन-काल में सम्पत्ति और अधिकार के पूरे-पूरे उपभोग को ही ये अपना परम लक्ष्य समझते थे। मुगलों का ही नहीं, सभी मुसलमान बादशाहों का शासन अमीरों की एक लम्बी शृङ्खला पर आधारित था जो ठाट-बाट में उनसे पीछे नहीं रहना चाहते थे। औरङ्गजेब ने अतिचार के निवारण का कुछ प्रयत्न किया था और सुरा आदि मादक वस्तुओं का प्रयोग निषिद्ध कर दिया तथा वेश्याओं को घर बसाने के लिये बाध्य किया किन्तु उसके आज्ञापत्रों को ही अमीर उमराओं ने सुरा की सुराही में डुबो दिया। सुन्दरी और सुरा के अतिरिक्त विलास के अन्य साधन भी थे जिनकी कुछ झाँकी पद्माकर के इस बदनाम कवित्त में दीख पड़ती है :—

गुलगुली गिलमें गलीचा है गुनीजन हैं,
चाँदनी है चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज हैं सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं बिनोद के रसाला है,
सुबाला हैं दुशाला हैं बिशाला चित्रशाला है।

अधिकृत राजा भी सम्राट् का अनुसरण कर रहे थे। अवध के नवाबों की ऐयाशी की तो अनेक कहानियाँ जनसाधारण में प्रचलित है। उन्हीं की बदौलत लखनऊ का नाम आज भी नजाकत, नफ़ासत और स्त्रैणता के लिये प्रसिद्ध है। राजस्थान के हिन्दू राजा भी कुछ कम नही थे। बिहारी के आश्रयदाता मिर्जा राजा जयसिंह अलि बने हुए नई कली से बँध ही गये थे। उनके ऐश्वर्य की झलक बिहारी के इस दोहे में देखिये'—

प्रतिबिम्बित जयसाह दुति दीपति दरपन-धाम।
सब जगु जीतन कौं करचौ, काय ब्यूह मनु काम॥

मध्यम तथा निम्नवर्ग

सामन्तों के नीचे राज्य के विभिन्न विभागों के कुछ और छोटे पदों पर काम करने वालों का एक अलग वर्ग था। राजकीय सेवा में होने का गौरव प्राप्त होने के कारण इस वर्ग के व्यक्ति निम्नवर्ग के अतिरिक्त व्यापारी, साहूकार, दुकानदार आदि के वर्ग पर भी अपना प्रभुत्व जमाते थे जो मध्यम-वर्ग में आते हैं। राजकीय नौकरों का यह वर्ग उच्च-मध्यमवर्ग माना जा सकता है। व्यापारी, दुकानदार आदि आर्थिक दृष्टि से मध्यमवर्ग की स्थिति में होते हुए भी शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से हीन थे। उच्च-मध्यमवर्ग भी अपनी आय के अनुसार ठाठ का जीवन बिताता था और इन सब के ठाठ का भार निम्नवर्ग की कमर तोड़े हुए था जिसका जीवन अत्यन्त विपन्न और दयनीय था। इस वर्ग में निम्न स्तर के नौकरीपेशा लोगों और मजदूरों के अतिरिक्त भारतीय कृषक वर्ग भी था जो सोना पैदा करके मिट्टी पर गुजर कर रहा था। सामन्त-वर्ग और निम्नवर्ग के बीच में बड़ी भारी खाई थी। फ्रांसिको पेलसर्ट ने लिखा है:—

"तीन श्रेणी के मनुष्य ऐसे हैं जो कहने को तो स्वतन्त्र हैं परन्तु उनकी स्थिति में ऐच्छिक दासता से बहुत कम अन्तर है, वे हैं—मजदूर, चपरासी, नौकर और दुकानदार। मजदूरों को कम मजदूरी मिलती है उन्हें सामन्त और राजकीय अधिकारी सताते हैं और वे उनसे बल्पात् बेगार लेते हैं" डा० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार "आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक उत्पादक वर्ग और दूसरा भोक्ता वर्ग। उत्पादक वर्ग में कृषक और मजदूर थे जो शासन और युद्ध के झंझट से बिलकुल अलग रहकर खेती व्यापार आदि कार्य करते थे, सरकार को कर देते थे और उसके बदले में बाहरी तथा भीतरी उपद्रवों से त्राण पाते थे। भोक्ता वर्ग सम्राट् के परिवार और दरबारियों से लेकर उनके

नौकर चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था, इसलिये उत्पादक वर्ग पर इसका पूरा प्रभुत्व था—सामाजिक स्थिति भी स्वभावत: इनकी अच्छी थी। इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तर था—शासक और शासित—शोषक और शोषित का।

सर यदुनाथ सरकार का कथन है कि—"मुगल कालीन इतिहास के विचारशील अध्येता के लिये सामन्तवर्ग के पतन से अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कोई वस्तु नहीं है" इसी प्रकार पेलसर्ट का कहना है कि "सामन्तों की कामुक लंपटता, निरुद्देश्य प्रमोद और अत्यधिक ठाठ-बाट की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। अपनी आय के अनुसार इनका अन्त:पुर भी भिन्न-भिन्न प्रकार की स्त्रियों से भरा रहता था।"

कवि तथा कलावन्त

इनके अतिरिक्त विद्वानों और कलाकारों का एक अन्य वर्ग था। ये लोग जन्म से तो प्राय. मध्यमवर्ग या निम्नवर्ग से सम्बन्धित थे किन्तु राजाओं, नवाबों और अमीरों के आश्रय में रहते थे; इस प्रकार इनका व्यक्तित्व उच्च और निम्नवर्ग के दुहरे संस्कारों से निर्मित था। यद्यपि, जैसा कि डा० नगेन्द्र ने अपनी रीतिकाव्य की भूमिका में लिखा है, "उसमें प्रधानता उच्चवर्ग के संस्कारों और उसी की आशा आकांक्षाओं की रहती थी, क्योंकि बाद में निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नही रह जाता था। निम्नवर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इनकी कृतियों का पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके," तथापि यह तो मानना ही होगा कि दरबारी वातावरण में पलकर भी इन कवियों के मध्यवर्गीय संस्कारों का सर्वथा लोप नही हो गया था। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि इस काल के प्राय: सभी कवियों ने प्रेम की आदर्शात्मक व्याख्या तो की है पर वह सैद्धान्तिक ही है उनके व्यावहारिक कथन उससे सामञ्जस्य नही रखते क्योंकि दरबारी वातावरण उनके आदर्शों के अनुकूल नहीं था। साम्राज्य की शक्ति के विकेन्द्रीकरण हो जाने और देश में हलचल होने के कारण कवियों और कलावन्तों को आश्रय के लिये भटकना पड़ा और इनकी भी सामाजिक स्थिति काफी अवनत हो गई।

नैतिक पतन

राजनीतिक अव्यवस्था और सामाजिक पतन का स्वाभाविक परिणाम था नैतिक हीनता। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इन्द्रिय-लिप्सा में जकड़े

हुए थे। इन्द्रियलोलुपता के अनुचर अन्य दुर्गुण भी समाज में—विशेष कर उच्च एवं मध्यमवर्ग में—अपना साम्राज्य फैला चुके थे। सम्राट् से लेकर साधारण चपरासी तक सब रिश्वतखोर थे। बादशाह ओहदे और मनसब बेचता था। औरंगजेब ने तो कई किले किलेदारों को घूस देकर विजित किये। राजाओं और अमीरों में रखैल स्त्रियों और वेश्याओं की चढ़ थी। वे उन्हें अपने संकेतों पर नचाती थीं। सामन्तों एवं अमीरों की सन्तान आवारागर्द हो रही थी। बाह्य विषमता से ऊबकर लोगों की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर निकृष्ट काम-वासना में डूब चुकी थी।

धार्मिक स्थिति

नैतिक आचार का पतन धार्मिक अवनति का अग्रदूत है। सामाजिक अव्यवस्था और नैतिक पतन के इस युग में धर्म की बड़ी दुर्गति हो गई थी। हिन्दी प्रान्तों में इस समय वैष्णव धर्म के सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों का ही अधिक प्रचार था। वैष्णव-भक्ति के विराट् आन्दोलन ने देश को आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि से नई स्फूर्ति प्रदान की थी। इसके पहले के अनेक सम्प्रदाय अपने मूल-सिद्धान्तों को विस्मृत कर भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये थे। हीनयान और सहजयान जो महायान के आत्मनिषेधक सिद्धान्तों के विरोध-स्वरूप प्रचलित हुए थे आत्मरति की ओर भयङ्कर रूप से झुक चुके थे। वामाचारी तान्त्रिक मतवाद ने मुद्रा के रूप में स्त्रियों के उपभोग का जो गुह्य-विवेचन किया उसका प्रभाव धर्मपोषित व्यभिचार के रूप में सामने आया। वैष्णव भक्ति पर भी इसका प्रभाव पड़ा। राधा को श्रीकृष्ण की शक्ति मानने के मूल में तांत्रिकों की शक्ति-उपासना की भावना भी बड़े भारी अंश में निहित है।[1] प्राचीन वासुदेवोपासना में राधातत्व का सम्मिश्रण था और उसका इतना महत्त्व हो गया था कि वैष्णव आचार्य उसकी उपेक्षा न कर सके। वल्लभ-सम्प्रदाय इससे विशेषरूप में प्रभावित हुआ।

आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत भक्ति-मार्ग में पुष्टि-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्टि-मार्ग में कृष्ण की उपासना, बाल, स्वकीया और परकीया, तीनों भावों में गृहीत है। सूर ने इन तीनों भावों की अभिव्यक्ति की है। यशोदा और नन्द का वात्सल्य बालभाव की उपासना का उत्कृष्ट उदाहरण है। इन तीनो भावों में माधुर्य भाव ही इस सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हुआ। सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के सभी कवियों ने इस पर ही विशेषरूप

१ ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्ति वरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठितम्॥ उज्ज्वल नीलमणि

से ध्यान केन्द्रित किया और भक्ति के साथ शृङ्गार का अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया। गौड़ीय भक्तो ने पूरे नायिका-भेद को कृष्ण-भक्ति में फिट कर दिया। खण्डिता, विप्रलब्धा, बासकसज्जा आदि अनेक नायिकाओं के रंगीन चित्र सूरसागर में भी कुछ कम नही है जो रीति-काल के चित्रों के अनुकार्य रहे। इन चित्रों पर अलौकिकता अथवा धार्मिकता का जो रंग चढ़ाया गया था वह रीतिकाल की विलासधारा में एकदम घुल गया। यह एक ध्रुव सत्य है कि कृष्ण भक्त कवियों के माधुर्यभावजन्य इन शृङ्गारिक चित्रों का प्रभाव लोकजीवन पर स्वास्थ्यकर नही पड़ा। बल्लभ-सम्प्रदाय में राधा को स्वकीया माना गया है। रूप गोस्वामी ने भी अनेक तर्कों से उसे स्वकीया सिद्ध किया। किन्तु ये धार्मिक आवरण लोकरुचि की आँखों के लिये इतने झीने रहे कि जनसाधारण ने उनके भीतर से राधिका का परकीया रूप ही देखा।

वैष्णव धर्म-गुरुओं ने धर्म के आध्यात्मिक तत्त्व को तिलाञ्जलि देकर उसके बाह्य आडम्बरो को प्रधानता दे दी और राधाकृष्ण के अलौकिक प्रेम को अपने जीवन में भौतिक रूप देकर उतारना प्रारम्भ किया। कप्तान मैकमुर्डो का यह कथन कितना लोम हर्षक है—

The Maharaj is the master of their property, and disposes of it as he pleases; and such is the veneration in which he is held, that the most respectful families consider themselves honoured by his cohabiting with their wives and daughters."

गौड़ीय सम्प्रदाय के राधावल्लभी और सखी सम्प्रदाय इससे भी आगे थे। जब धर्म-गुरुओं की यह दशा थी तो साधारण व्यक्तियों का क्या कहना—

मुक्तानामप्यवस्थेयं के वय स्मरकिंकराः।

फिर रीतिकालीन कवियों ने राधाकृष्ण के माध्यम से अपनी उद्दाम शृङ्गारिक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त किया तो उनका क्या दोप ? यह तो स्वाभाविक ही था।

रीति काव्य की साहित्यिक पृष्ठ भूमि

उक्त सामाजिक परिस्थितियों के कारण रीति कालीन कवियों की झुकाव स्वभावतः ही उत्तर कालीन संस्कृत काव्य की ओर हुआ जिसमें उनकी

रुचि का मसाला प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। संस्कृत में सुदीर्घ काल से श्रृङ्गारिक मुक्तकों की एक अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही थी। कालिदास के ग्रन्थों में श्रृङ्गार का आदर्श स्वरूप और शैली की स्वभाविकता अक्षुण्ण है। प्राकृतकवियों की रचनाओं में इसका बड़ा मधुर रूप मिलता है। ऐहिक जीवन में नित्य प्रति अनुभव में आने वाले सहज द्वन्द्वों का चित्रण इन कवियों की विशेषता है और यौन सम्बन्धों में स्पष्टता होते हुये भी गाथा सप्तशती की गाथाओं में श्रृङ्गारिक उच्छृङ्खलता का प्राय: अभाव ही है। अतिशयोक्ति को प्रश्रय न देकर स्वभावोक्ति ही इनका वैशिष्ट्य है। अमरुक के शतक में भी ये सब गुण अपने परम उत्कर्ष में प्राप्त हैं यही कारण है कि उसका एक ही श्लोक अनेक प्रबन्धों के समान रसमय है—

"अमरुककवेरेक: श्लोक: प्रबन्धशतायते।"

किन्तु धीरे-धीरे शैली की स्वभाविकता का स्थान पाण्डित्य प्रदर्शन से प्रेरित वाह्य आडम्बर ने ले लिया, स्वभावोक्ति के ऊपर अतिशयोक्ति ने विजय पाई और प्राकृतिक वातावरण के स्थान पर नागरिक कृत्रिमता की स्थापना हुई। संस्कृत की आर्यासप्तशती, चौरपञ्चाशिका आदि इनके उदाहरण हैं। इन रचनाओं में श्रृङ्गार का वह गार्हस्थिक रूप भी न रह गया था जो गाथा सप्तशती में मिलता है। इधर भक्ति के पुनरुत्थान काल में देवद्वन्द्व विषयक जिन स्तोत्रों की रचना हुई उन पर भी इन श्रृङ्गारिक उक्तियों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और भक्ति के साथ श्रृङ्गार का नीर-क्षीर का सा सम्मिश्रण हो गया। चण्डीशतक, वक्रोक्तिपञ्चाशिका कृष्णलीलामृत आदि स्तोत्रों की आत्मा भक्तिमय ही सही किन्तु उनका वाह्य स्वरूप घोर श्रृङ्गारमय है। इन स्तोत्रों का भी प्रभाव रीति कालीन कवियों पर अवश्य पड़ा होगा। हमारा तो यही विचार है कि रीतिकालीन राधा-कृष्ण का नायक-नायिका का प्रतीक बन जाना इन्हीं की कृपा का फल है। डा० नगेन्द्र का यह कथन उल्लेखनीय है कि "वास्तव में रीति-काव्य की आत्मा का सम्बन्ध यदि ऐहिक मुक्तकों की परम्परा से मानें तो उसके वाह्य रूप (Form) [जिसमें राधा कृष्ण के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है] के विधान में इन स्तोत्रों के कुछ स्पर्श अनिवार्यत: मानने पड़ेंगे।"[१] इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि स्तोत्रों की यह परम्परा रीतिकाल में भी बराबर चलती रही थी।

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ १८३।

काम शास्त्रीय परम्परा का प्रभाव

रीतिकाल के कवियों ने कामशास्त्र के भी अनेक तत्त्वों का उपयोग अपनी कविता में किया है। नायिकाओं के आचार-व्यवहार, चेष्टायें तथा आलिगन, चुबंन, दूती, सहेटस्थल आदि प्रकरणों में से अपने अनुकूल बातें लेकर उन्होंने अपनी कविता कामिनी के विलासमय रूप को सँवारा। कामशास्त्र के अनुसार पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हस्तिनी ये चार जाति की स्त्रियाँ होती है। भरत, धनंजय और विश्वनाथ ने इनका उल्लेख किया है। रीतिकाल के केशव देव आदि कवियों ने भी इनका उल्लेख किया है। कामशास्त्र की यह धारा अत्यन्त प्राचीन थी किन्तु परवर्ती संस्कृत-काव्यो पर इसका प्रभाव अधिक पड़ा और जैसा कि हम कह चुके है, रीतिकालीन कवियों का उपजीव्य यही काव्य रहा भी है।

काम शास्त्र परम्परा में वात्स्यायन की कृति सबसे महत्वपूर्ण है। डा० नगेन्द्र ने इसे विज्ञान की अपेक्षा विचार और काव्य के अधिक निकट बताया है,[1] फिर भी हमारे विचार से उसका 'कामशास्त्र' इस विषय की प्रथम व्यवस्थित रचना है। भारतीय आदर्शो की अवहेलना न करते हुये वात्स्यायन ने काम को धर्म के अंकुश में रखा है। उसका मुख्य लक्ष्य था लोक-कल्याण। यह सत्य है कि उसने अवैध-प्रेम की भी चर्चा की है पर वह मानव के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अनुसार ही है, मानव हृदय की स्वाभाविक दुर्बलता का यह भी तो एक पहलू है। इस विषय में प्रो० चकलादर का यह कथन द्रष्टव्य है—

"वात्स्यायन ने स्वयं ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत किया था। कामसूत्र की रचना करते समय उसकी दृष्टि में संसार के कल्याण की भावना निहित थी। सासारिक विषय वासनाओं को उद्दीप्त करना उनकी रचना का ध्येय नहीं था" परन्तु संस्कृत काव्यधारा के समान ही कामशास्त्रधारा भी समय के अनुसार परिवर्तित होती गई।' 'रति रहस्य' तक आते-आते वात्स्यायन के लोक-कल्याण के स्थान में ऐकान्तिक विलास ही कामशास्त्र का उद्देश्य माना जाने लगा। वश में न आने वाली स्त्री वशीभूत होकर प्रीति करने लगे और सम्यक् रति करे यही इस शास्त्र का प्रयोजन रह गया।[2] पन्द्रहवीं शताब्दी

१ रीति काव्य की भूमिका, पृ० १८६।

२ असाध्यायाः सुखं सिद्धिः भिद्धायाश्चानुरञ्जनम्।
रक्तायाश्च रतिः सम्यक् कामशास्त्रप्रयोजनम्॥ (रति रहस्य)

के अन्त में 'अनंगरंग' की रचना हुई। इसमें केवल उन्हीं बातों का वर्णन है जिनका ऐहिक वासनाओं से सीधा लगाव है। नारी विशेष से संतोष न होकर नारी मात्र की ओर रुझान प्रेम के आदर्श की हत्या है और 'अनङ्गरंग' में इसी को परमानन्द तुल्य बताया गया है—

निःसारे जगति प्रपञ्चसदृशे सारं कुरङ्गीदशा -
मेकं भोगसुखं परात्म-परमानन्देन तुल्यं विदुः ।।

रीति कालीन प्रसिद्ध महाकवि देव की इन पंक्तियों को भी साथ ही रख लीजिये—

काम अन्धकारी जगत् लखै न रूप कुरूप ।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप ।
तातैं कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद ।
राचै पागै प्रेम रस, मेटै मन के खेद ।
रची राम संग भीलनी, जदुपति संग अहीरि ।
प्रबल सदा बनवासिनी नबल नागरिन पीर ।
कौन गनै पुर वन, नगर, कामिनि एकै रीति ।

इन सब परिस्थितियों का प्रभाव किसी भी कृति के ऊपर पड़ना स्वाभाविक ही है, फिर बिहारी जैसा सजग, तीव्रदृष्टि और सहृदय कवि इसका अपवाद कैसे हो सकता था। उनकी रचनाओं में अनेक सामाजिक परिस्थितियाँ रीति-रिवाज आदि का स्पष्ट उल्लेख अथवा प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है जिसका यथास्थान उल्लेख किया जायेगा।

३—बिहारी का जीवन-दर्शन

कविवर बिहारीलाल बड़े ही रसिक व्यक्ति थे, किन्तु उनकी रसिकता केशव जैसी नही थी जो इसलिये कुएँ में जाकर निवास करना चाहते थे कि वहाँ पानी भरने वाली विधुवदनियों के कुचों की पवित्र छाया उन पर पड़ती रहे और जो बुढ़ापे को इसलिये कोसते थे कि मृगनयनी उन्हें 'बाबा' कहने लगी थीं। कदाचित् ऐसे ही रसिक वृद्ध को लक्ष्य करके बिहारी ने कहा है :—

जम करि मुँह-तरहरि परचौ, इहि धरि हरि चित लाउ।
बिषयतृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥

निःसन्देह बिहारी के दोहों में विपरीत रति आदि के भी चित्र हैं जिन्हें किसी हद तक अश्लील कहा जा सकता है। परकीया-प्रेम और उसे प्राप्त करने के दाँव-पेच भी उनमें मिलते हैं, किन्तु इनके आधार पर बिहारी के वैयक्तिक जीवन की कल्पना करना उनके प्रति घोर अन्याय होगा। कारण यह है कि यह सब उनके कविकर्म से ही संबद्ध है, व्यक्तिगत जीवन से नहीं। इसमें लोकरुचि और लोकजीवन की छाया तो है, पर बिहारी के आचरण की नहीं। केशव के जिन दोहों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उनमें आत्म-वर्णन और स्वकीय अनुभूति का अधिक पुट है और लोकपक्ष गौण पड़ गया है। दूसरी बात यह है कि बिहारी की रसिकता का मेरुदण्ड विलासिता नहीं कलाप्रियता है। उनका स्पष्ट मत है कि जो संगीत काव्य और रतिरंग में नहीं डूबा, वह डूब गया। उसका जीवन व्यर्थ है और जो इनका रसास्वादन करता है उसका जन्म सफल हो गया :—

तन्त्रीनाद कवित्त रस सरस राग रतिरङ्ग।
अनबूडे बूडे तिरे जो बूडे सब अङ्ग॥

उनका यह मत भर्तृहरि के "साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः" के ही अनुसार है। बिहारी भी अरसिक लोगों को, जिनके मानस में प्रेम का अजस्र स्रोत नहीं उमड़ता, पशु ही मानते है :—

गिरि तै ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा नर पसुन को प्रेमपयोधि पगार॥

प्रेम के क्षेत्र में बिहारी भ्रमर-धर्म के कायल नहीं है। कली-कली का रस लेने

वाली उथली प्रेमभावना उन्हें पसन्द नहीं, उनका प्रेम वास्तव मे पयोधि है जिसमें गम्भीरता और प्रसाद दोनो हे और है मर्यादा में रहने की प्रवृत्ति । वह चटक नही छोडता, समाप्त भले ही हो जाय

चटक न छाँड़तु घटत हूँ, सज्जन नेहुँ गभीरु ।
फीको परै न, बरु घटै, रंग्यौ चोलरंग चीरु ।।

उनकी रसिकता की अन्य विशेपता उसकी नागरिकता में निहित है, यद्यपि उन्होंने प्राय: सामान्य-जीवन से ही अपने वर्ण्य-विपय ग्रहण किये हैं तथापि वे नागरिकता के ही पोषक थे। नागरिक नायिकाओ ने ही उन्हें ग्रामीण नायिकाओं की अपेक्षा आकृष्ट किया और उन्हें बराबर ही यह चिन्ता रहरी थी कि कही कोई नागरी गाँव में न पहुँच जाये और उसकी गणना वहाँ मूढ़ों में न होने लगे या उसका मजाक न बनाया जाने लगे। उनके स्वाभाव में जो विनोद और व्यंग्यप्रियता दीख पड़ती है वह भी इसी तथ्य का समर्थन करती है। इस सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है, "भगवान् से न तारने के लिए अड़ने की उक्ति से यह भी लक्षित होता है कि ये बड़े मस्त जीव थे। कहने की यह बक्रता, इनके स्वभाव की वक्रता का भी संकेत करती है।"[1] बिहारी के मनमौजी और मस्त होने से तो इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु जिस उदाहरण के द्वारा मिश्र जी ने उनके इस तत्त्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह विचारणीय अवश्य है। उनके भगवान् से अड़जाने में जो मस्ती है वह भक्ति-भावावेश की मस्ती है जो 'सूर' आदि कृष्णभक्त कवियों में प्रचुर रूप से पाई जाती है। सख्यभाव-भावित हृदय में आराध्य के प्रति इस प्रकार की चुहल उठना स्वाभाविक ही है। बिहारी की भक्तिभावना तुलसी की भाँति सामाजिक न होकर सूर की भाँति वैयक्तिक थी। आराध्य के प्रति उनकी मुखरता का रहस्य यही व्यक्तिगत सम्पर्क प्रतीत होता है। सामान्य जीवन में अत्यन्त गम्भीर व्यक्ति भी जीवन के विशिष्ट क्षणों में विशेषत: अपने मित्र-मण्डल में—मुखर होते देखे जाते है। स्वभाव की वक्रता' बिहारी पर मिश्र जी का एक गम्भीर आरोप है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अनजाने ही इन शब्दों का प्रयोग कर गए हैं उनके वास्तविक अर्थ पर उनका ध्यान नहीं रहा होगा। विनोदी और व्यंग्यप्रिय होना और बात हैं तथा वक्र स्वभाव और। जीवन का अनुभव बताता है कि प्राय: विनोदी व्यक्ति हृदय के सरल होते हैं। वाग्वैदग्ध्य और स्वभाव की वक्रता निश्चयात्मकता के साथ दो अत्यन्त भिन्न वस्तुएँ हैं अत:

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ६

इसके आधार पर उन्हें वक्र स्वभाव नहीं ठहराया जा सकता। जिस व्यक्ति का सिद्धान्त 'मो संपति जदुपति सदा' हो, जो 'दर्द दई सु कबूल' में विश्वास रखता हो और जो भगवान् के हृदय प्रवेश के लिए 'निपट जटे कपट-कपाटों' को खोल देने का हिमायती हो वह यदि ढोंगी नही है तो वक्र स्वभाव का हो ही नही सकता और यह निश्चय है कि बिहारी ढोंगी नहीं थे। उनका हृदय सच्चा था और वे झूठ से दूर थे। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि उन्होंने कही भी अपने आश्रयदाता की झूठी प्रशंसा नही की जो उस समय के कवियों का फैशन हो गया था। बिहारी के लिए भी यह रास्ता बन्द नही था और इस पर जाकर वे अपने सप्राप्त वैभव एव सम्मान से कही अधिक पा सकते थे।

सांसारिक वैभव की बिहारी को उसी सीमा तक चाह थी जिस तक उनका काम चलता रहे और मर्यादा बनी रहे। जीवन-निर्वाह के लिये पैसा तो चाहिये ही किन्तु वे 'औगुन भरी' सम्पत्ति के दास नहीं बन सकते थे। यदि बिना पैसे के ही उनका निर्वाह हो जाता तो उन्हे इस चपला की कोई आवश्यकता न थी :—

तौ अनेक औगुन भरिहिं चाहै याहि बलाय।
जौ पति संपतिहू बिना, जदुपति राखे जाइ॥

इससे स्पष्ट है कि बिहारी ने धन को साध्य समझने की गलती नही की, वे हमेशा इसे साधन ही समझते रहे। यही कारण है कि वे पेट काटकर धन जोडने के विरुद्ध थे 'खाये खरचे जो जुरै तौ जोरिये करोरि में उनका फक्कड़ स्वभाव स्पष्ट प्रतिबिम्बित हुआ है। लोभ का चश्मा चढ़ाना उन्हें बिलकुल नापसन्द था और आत्मगौरव की रक्षा के वे हामी थे। संपत्ति के प्रति उनके उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण के मूल में दो बातें प्रमुख थीं—एक तो वे पूर्णतया आस्तिक थे और भगवान् को ही अपनी संपत्ति समझते थे। उनका विश्वास था कि जगत् का समस्त व्यापार उस जगन्नियन्ता के संकेत पर ही चलता है। "हानि-लाभ जीवन-मरण जस-अपजस विधि हाथ" में उनकी पूरी आस्था थी। इस आस्था के कारण उनके जीवन में अस्थिरता और निराशा का पदार्पण कभी नही हुआ और वे 'सुखदुःखे समे कृत्वा' प्रसादपूर्ण जीवन के निर्वाहक बने। बिहारी धैर्यशाली थे और दुःख पड़ते ही दैव को कोसने लगना उन्हें अनुचित प्रतीत होता था।

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहि न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि॥

दियौ सु सीस चढाइ कै, आछी भाँति ग्रहेरि ।
जापै सुखु चाहतु लियौ ताके दुखहि न फेरि ।।

दूसरा कारण यह था कि वे आवश्यकताओं को यथासाध्य कम करने के पक्ष में थे और "संतोष एव पुरुपस्य परं निधानम्" में विश्वास रखते थे। मनुष्य अपने चारों ओर आवश्यकता का जितना विस्तृत जाल बुनता जा रहा है, उतना ही वह दुखी है। बिहारी के सुखी जीवन का आदर्श देखिये—

पटु पाँखै भखु काकरै, सपर परेई संग ।
सुखी परेवा पुहुमि में, एकै तुही विहंग ।।

मोटा खाना सादा पहिनना और गृहस्थ रहना सुख के ये तीन सुदृढ स्तम्भ हैं। महाभारत में यक्ष के "को मोदते ?" (कौन सुखी है) प्रश्न का युधिष्ठिर ने ऐसा ही उत्तर दिया था—

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर ! मोदते ।।

अर्थात् वही व्यक्ति सुखी है जो अपने घर पर रहता है और किसी का कर्जदार नहीं चाहे उसके यहाँ साग भी पाँचवें छठे दिन पकता हो।

धार्मिक साधना के क्षेत्र में बिहारी सहिष्णुता की भावना के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने इस सार्वभौम सत्य का अनुभव किया था कि सभी धर्मों का मूलतत्त्व एक है, वाह्य आडम्बर व्यर्थ है और निष्कपट तथा शुद्ध हृदय ही भगवान् का मन्दिर है। साम्प्रदायिकता उन्हें छू तक नहीं गई थी। अपने-अपने मत के लिए शोर मचाना उन्हें अच्छा नहीं लगता था—

अपने अपने मत लगै वादि मचावत सोर ।
ज्यों त्यों सबको सेइबौ एकै नन्दकिसोर ।।

रसिक और शृङ्गारी प्रकृति के होते हुए भी परमार्थ-दृष्टि से वे 'कामिनी' को सन्तों के समान ही साधना में बाधक समझते थे—

या भव पारावार कों उलंघि पार को जाइ ।
तिय छबि-छायाग्राहिनी गहै बीच ही आइ ।।

बिहारी की भक्ति-भावना पर एक स्वतन्त्र अध्याय में विचार किया गया है, यहाँ इतना ही संकेत पर्याप्त प्रतीत होता है।

धार्मिक क्रिया-कलाप एवं कर्मकाण्ड की अपेक्षा बिहारी सत्संगति को अधिक महत्त्व देते है। जीवनमुक्त सच्चे साधुओं का संग वास्तव में इसी लोक को स्वर्ग बना देता है—

अजौ तरचौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग ।
नाकबास बेसरि लह्यौ मिलि मुकुतनु के संग ।।

नम्रता को उन्होंने मनुष्य का आभूषण ही नही माना अपितु उत्थान का साधन भी स्वीकार किया है । उनके अनुसार मनुष्य जितना नम्र होगा उतनी ही उन्नति करेगा—

जेतौ नीचौ ह्वै चले तेतौ ऊँचौ होइ ।

भर्तृहरि का "अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः" बिहारी के दोहे में इस प्रकार प्रतिबिंबित हुआ है—

संपति केस सुदेस नर, नवत दुहुनि एक बानि ।
बिभव सतर कुच नीचनर, नरम बिभव की हानि ।

नम्रता को प्रश्रय देने और जीवन का एक आदर्श मान लेने के कारण बाह्य आडम्बर, मिथ्या अहंकार और पण्डितम्मन्यता को हेय समझना बिहारी के लिए स्वाभाविक ही था । झूँठी बड़ाई पाकर या नाममात्र के लिये बड़ों का अनुकरण कर अपना बड़प्पन प्रदर्शन करने की लत वाले मानसिक रोगियों के लिये बिहारी का निम्नलिखित दोहा उचित पथ्य है—

बड़े न हूजै गुननु बिनु, बिरद बड़ाई पाइ ।
कहत धतूरे सौ कनकु, गहनौ गढ़यौ न जाइ ।। १-९

"मेरे गुन-औगुन-गनन गनौ, न गोपीनाथ" में भी बिहारी की यही नम्रता प्रभु के प्रति दैन्यभाव से मिश्रित होकर प्रकट हुई है । किंतु सामान्य जीवन में बिहारी 'नम्रता' का अर्थ दीनता अथवा 'कातरता' नहीं समझते थे । स्वाभिमान के अभाव को वे अच्छा नहीं मानते थे । संतोष, धैर्य, अपरिग्रह, अलोभ, आदि गुणों वाला व्यक्ति स्वाभिमानी न हो, यह हो ही नहीं सकता । बिहारी में ये गुण थे अतः वे स्वाभिमानी भी थे और इसीलिये गुणवान् होकर भी किसी के गले पड़े रहना या पिछलग्गू होना उन्हें पसन्द नहीं था—

जनमु जलधि पानिपु बिमल, भौ जग आघु अपारु ।
रहै गुनी ह्वै गर परयो, भलै न मुकता-हारु ।। २६८

आत्म-गौरव के स्वास्थ्यकर गिरि से गिरा कर दूसरों के गले पड़ने के लिये बाध्य करने वाला तत्त्व लोभ है जो मनुष्य को संसार की दृष्टि में हेय और उपसहनीय बना देता है ।

गहै न नैकौ गुन-गरब, हँसो सबै संसारु ।
कुच-उचपद-लालच रहै, गरैं परैं हू हारु ।।

यह लोभ वास्तव में बुरा बला है जिसकी आंखों पर इसका चश्मा चढ़ गया उसकी आँखों से शर्म का परदा हट जाता है और उसे दूसरे छोटे भी बड़े नजर आते हैं किन्तु अपने गुण महान् होते हुए भी बिलकुल नहीं दीख पड़ते।

बिहारी की नीति-विषयक उक्तियाँ जीवन के अनुभवों पर आधारित है। उन्होंने लोक का विस्तृत निरीक्षण और अनुभव किया था, उनकी अनुभूति अत्यन्त तीव्र और दृष्टि बड़ी पैनी थी। इन सब कारणों से ये उक्तियाँ बाहर आने से पहले उनके जीवन मे सिद्धान्त रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उदाहरणार्थ उनकी यह उक्ति प्रस्तुत की जा सकती है :—

आवत जात न जानियतु तेजहि तजि सियरानु।
घरहुँ जँवाई लौ घट्यौ खरौ पूस-दिन-मानु॥

पूस के दिन का मान (माप) बहुत छोटा होता है, कब निकला और कब छुप गया, पता ही नही चलता, सूर्य तेजोहीन हो जाता है, श्वसुरालय में रहने वाले जामाता की तरह। श्वसुर-गृहवासी जामाता का प्रभाव भी जाता रहता है, उसके आने जाने का कोई महत्त्व नहीं रहता और सबसे अस्पृहणीय बात यह होती है कि मान घट जाता है। बिहारी स्वयं अपनी सुसराल में रहे थे। उन्हें इस कटु सत्यका अनुभव अवश्य हुआ होगा जिसका संकेत उन्होंने यहाँ किया है। ग्रामीणों में भी यह कथन प्रचलित है कि—

सुसरार सुख की सार।
जो रहै दिन दो चार।
जो रहै मास पखवारा।
हाथे खुरपी बगल में खारा।

यही बात संस्कृत के एक श्लोक में प्रकारान्तर से कही गई है—

श्वसुरपुरनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्।
यदि वसति विवेकी पञ्च षड् वासराणाम्।
यदि मधुघृत लोभान्मासमेकं वसेत्तु
स भवति खरतुल्यो मानवो मानवानाम्।

बिहारी की मित्रता का आदर्श उच्च सात्त्विक भावों पर आधारित है। कपट रज का एक कण भी स्नेह भरे हृदय को मलिन कर सकता है और हृदय में मलिनता आने पर सौहार्द कहाँ रहा? इसलिए राजसी भावनाएँ मैत्री के पवित्र क्षेत्र में प्रविष्ट ही नहीं होनी चाहिये—

जौ चाहत चटक न घटै, मैलो होइ न मित्त ।
रज राजसु न छुग्राइये नेह-चीकने चित्त ।।

बिहारी साध्य वस्तु की सिद्धि के स्वरूप को ही साधन की कसौटी मानते है । साधन बड़ा हो या छोटा, यदि उससे अभीष्ट की सिद्धि होती है तो वही महत्वपूर्ण है—

अति अगाध अति औथरौ, नदी कूप सरु बाइ ।
सो ताकौ सागरु जहाँ ज्राकी प्यास बुझाइ ।।

इस दोहे में बिहारी ने मानव जाति के एक सामान्य जीवन-आदर्श की प्रतिष्ठा की है जिसका आधार मनोवैज्ञानिक है । मानव का हृदय बड़ा ही ममत्वप्रेमी होता है । यह ममत्व ही मानव की किसी वस्तु को प्राथमिकता अथवा महत्ता देने के लिये विवश करता है । जिस वस्तु से मनुष्य की कोई मानसिक अथवा भौतिक आवश्यकता पूरी हो उसके प्रति ममत्व एवं तत्प्रेरित महत्व स्वीकृति की भावना स्वाभाविक ही है । इसके विपरीत आवश्यकता को पूरी न करने वाली वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति यह भावना आ ही नहीं पाती चाहे वस्तुत: उसका महत्त्व कुछ भी है । यह उपयोगितावाद अपने परिष्कृत या विकृत रूप में पाई जाने वाली एक सार्वभौम, सार्वकालिक, एवं विश्वजनीन मनोवृत्ति है जिसका मूल कोरे आदर्श में नही क्रियात्मक जीवन-दर्शन में पैठा हुआ है । निम्नलिखित दोहों में यह बिल्कुल नग्न रूप में प्रकट हुआ है:—

प्यासे दुपहर जेठ के, फिरे सबै जल सोधि ।
मरुथर पाइ मतीरुहीं, मारू कहति पयोधि ।।
विषम वृषादित की तृषा, जिये मतीरन सोधि ।
अमित अगाध अपार जल मारौ मूड़ पयोधि ।।

ईश्वर में अडिग विश्वास होने के कारण बिहारी आशावादी थे । उनकी रसिकता और मस्ती ने जीवन को भार कभी नही माना । जिन्दादिली उन्हे बताती रही कि ज़िन्दगी कोई बेगार की तरह रोते-बिसूरते पूरी की जाने वाली चीज नहीं है अपितु मिलन-वेला के समान सोत्साह, सोल्लास उपभोग करने की वस्तु है । उन्होंने जीवन में अनेक उत्थान-पतन देखे थे, अनेक मधुर कटु अनुभवों का आस्वादन किया था किन्तु वे जीवन के प्रति अपनी मान्यताओं के क्षेत्र में हिमालय के समान अडिग हैं, यद्यपि कहीं-कहीं उनमें निराशा की हलकी सी झलक दीख पड़ती है:—

"समै-पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल।
भौ अकरुन करुनाकरौ इहि कपूत कलिकाल॥"

और इस निराशा के कारण वे पलायनवादी से प्रतीत होते है—

हरि! कीजति विनती यहै, तुमसों बार हजार।
जिहिं तिहिं भांति डर्यौ रहौ पर्यौ रहौं दरबार॥

पर यह स्थिति स्थायी नहीं, क्षणिक है। और यदि यह कहा जाये कि यह बाह्य परिस्थितिजन्य विजातीय द्रव्य है, उनके हृदय का नहीं" तो अत्युक्ति न होगी। भक्तिपरक व्याख्या का आश्रय लेने से इन उक्तियों की ऐहिक महत्ता उतनी रह भी नही जाती। यद्यपि इन उक्तियों के अवचेतन में सांसारिक सफलता की कुण्ठा के स्फुरण का आभास मिलता है तथापि बिहारी के ईश-विश्वास और मनोराज्य विचरण के प्रकाश में इस कुण्ठा के प्रभाव का प्रश्न ही नही उठता। समय पलट जाये, प्रकृति बदल जाये और पल भर के लिए करुणाकर भी कानों में तेल डाल कर बैठ जायें, पर वे हमेशा के लिए नहीं बैठ सकते। उन्हीं के प्रभाव से—

जाकै एकाएक हूँ, जग व्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै, आकु डहडहौ होइ॥

यही आशावाद बिहारी की चारित्रिक विशेषताओं संतोष धैर्य, अलोभ आदि के लिये उत्तरदायी हैं और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'सबके दाताराम' के सदृश परिलक्षित होता हुआ भी वास्तव में यह उतना निष्क्रिय नहीं है।

मानव-प्रकृति को बिहारी भी 'स्वभावो दुरतिक्रमः के अनुसार अपरिवर्तनीय मानते हैं—

कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जल ऊँचै चढ़ै अन्त नीच को नीचु॥

बिहारी का यह कथन उनके ही, समै पलट पलटै प्रकृति को न तजै निज चाल" के विरुद्ध प्रतीत होता है। किन्तु थोड़ा ध्यान देने पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पहली उक्ति में दुर्जन-स्वभाव का वर्णन है दुष्ट स्वभाव बदला नही जा सकता चाहे कोई कोटि-कोटि यत्न करे। दूसरी उक्ति में सज्जन स्वभाव ध्वनित है, समय बुरा आने पर सज्जन भी अपने अच्छे स्वभाव को छोड़ देते है। यह अनुभवसिद्ध बात है कि बुरे स्वभाव को अच्छा बनाने की अपेक्षा अच्छे को बुरा बना लेना सहज है। दूसरे, 'कोरि जतन

कोऊ करै" मे एकाकी मानव के प्रयत्नों का उल्लेख है। एकाकी मानव-प्रयत्नों से प्राय: स्वभाव नही बदला जा सकता किन्तु समय पलटने पर वह सम्भव है क्योकि समय की पलट केवल कालचक्र का परिवर्त्तन ही नहीं हैं उसके साथ समाज और उसकी विचारधारा भी जुडे हुये है।

अपने राजनीतिक सिद्धान्तों में बिहारी जातीय विचारधारा के पोषक थे। यद्यपि उन्होंने भूषण की भाँति पूरे जोश के साथ इस भावना की अभिव्यक्ति नहीं की तथापि अनेक उक्तियों में अभिव्यञ्जना अवश्य की है। इस सम्बन्ध में भूषण से उनकी परिस्थितियाँ भिन्न भी थीं। भूषण एक ऐसे राजा के संरक्षण में थे जिसका जीवन ही मुगलों का विरोध करने में व्यतीत हुआ और बिहारी ऐसे नरेश के आश्रय में थे जिसने अपना जीवन मुगल साम्राज्य की जड़ सुदृढ़ करने में ही खोया। इसके अतिरिक्त जहाँगीर और शाहजहाँ का व्यवहार हिन्दू जनता के प्रति इतना बुरा नहीं था। वे उदार और न्यायप्रिय के रूप में प्रख्यात थे। औरङ्गजेब भी जयसिंह के जीते जी हिन्दुओं के प्रति अत्याचार नही कर सका था। उसे षड्यन्त्र द्वारा स्वर्ग का अतिथि बनाने के बाद ही उसकी असहिष्णुता खुलकर सामने आई, फिर भी मुगलों के प्रति जयसिंह का पक्षपात बिहारी को रुचिकर प्रतीत नहीं होता था। वे स्वाभिमानी थे अतः जयसिंह की झूँठी प्रशंसा उन्होंने कभी नहीं की। अत्युक्तिप्रिय होते हुए भी इस सम्बन्ध में वे अत्युक्ति से दूर ही रहे। मुगल सम्राट् की ओर से जयसिंह का हिन्दू नरेशो से युद्ध करना और उन्हें बरबाद कर देना बिहारी को अच्छा नहीं लगता था। इसीलिए उन्होंने अन्योक्ति के सहारे तीखा व्यंग्य भी किया है—

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा देखु विहंग विचारि।
बाज पराये पानि पर तू पंछीनु न मारि।।

शिकारी के आश्रय में रहकर बाज पक्षियों को मारता है। इसमें उसका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि मारे हुये पक्षी को शिकारी स्वयं ले लेता है। यदि बाज को ही पक्षी का मांस मिल जाता तो उसका स्वार्थ सिद्ध हुआ माना जा सकता था। स्वार्थ तो सिद्ध होता ही नहीं कोई पुण्य भी नही होता उलटा पाप ही लगता है। अतः उसका पक्षियों को मारना अनुचित है। दोहे के पूर्वार्ध में विहंग शब्द व्यर्थ सा प्रतीत होता है क्योंकि साधारणतया उसके बिना भी काम चल सकता है किन्तु बिहारी के दोहों में भरती का शब्द होना आश्चर्यजनक ही माना जायेगा। यहाँ भी विहङ्ग

सभिप्राय प्रयुक्त शब्द है। विहङ्ग द्वारा पंक्षियों का नाश करना--स्वयं ही अपनी जाति का अहित करना—क्या उचित हो सकता है ?

अनधिकारी व्यक्ति को उच्च पद पर आसीन होता देखकर बिहारी के मन में बड़ा ही क्षोभ उत्पन्न होता था—

गोधन तू हरस्यौ हिये घरियक लेहि पुजाइ।
जानि परैगी सीस पर परत पसुन के पाइ॥

अपने अनुभवों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि राजा लोग गुणों की अपेक्षा निकटवर्तिता और जीहुजूरी अधिक पसन्द करते हैं—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल॥

बिहारी दुष्ट बुद्धि का सुधार असंभव मानते हैं—

सङ्गति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होय सुगन्ध॥

इसीलिये ये दुर्जन का विश्वास नहीं करते और उससे सर्वदा आशंकित रहते हैं—

न ए बिससियहि लखि नए, दुरजन दुसह-सुभाइ।
आँटै परि प्राननु हरत, काँटै लौं लगि पाइ॥

संस्कृत के प्रसिद्ध गद्यकार बाण ने शुकनास द्वारा अभिनव यौवन को अनर्थ परम्परा की प्रथम कड़ी माना है। बिहारी भी इसे 'औगुन कारी' मानते हैं—

"किते न औगुन जग करैं, बै-नै चढ़ती बार।"

संक्षेप में बिहारी के सिद्धान्त वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के शतशः अनुभवों का निचोड़ है और उनके आदर्श भगवन्निष्ठा और सजीव जीवन के सुदृढ स्तम्भों पर टिके है, कोरे हवाई किले नहीं हैं। रसकिता, मस्ती, फक्कड़पन, स्वाभिमान आदि जन्मजात गुणों ने उनके जीवन-दर्शन को सहज व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया जिसमें आकर्षण है किन्तु आसक्ति नहीं, उच्चता है किन्तु दुर्गमता नहीं, गम्भीरता है किन्तु अभेद्य सघनता नहीं। अतएव वह सराहनीय ही नहीं स्पृहणीय भी है और स्पृहणीय ही नहीं महत्तीय भी हैं।

४—पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

बिहारी का अध्ययन बडा विस्तृत था। उनकी बहुज्ञता के ऊपर अन्यत्र विचार किया गया है। यहाँ इतना संकेत पर्याप्त होगा कि प्राचीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य का उन्होंने मनन किया था और शृंगार विषयक रचनाओं को विशेष रूप से हृदयंगम किया था, अतः उसका प्रभाव इनकी रचनाओं में स्वाभाविक ही है। कदाचित् अपने मुक्तकों को सात सौ की संख्या में बांध कर 'सतसई' नाम देने की प्रेरणा भी उन्हे हाल की 'सत्तसई' अथवा गाथासप्तशती से ही मिली। यदि यह मान भी लिया जाये कि हिन्दी में 'तुलसी सतसई' बिहारी से पहले ही अपने वर्त्तमान रूप में प्रणीत हो चुकी थी तो भी इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारी से पहले हिन्दी में शृङ्गारिक मुक्तकों की कोई सतसई नहीं थी। प्राकृत में हाल की 'गाहासत्तसई' और संस्कृत में गोवर्धन की आर्यासप्तशती इस प्रकार की सर्वप्रथम रचनाएँ हैं। प्राकृत में जब से हाल की गाथा सप्तशती का संग्रह हुआ तब से शृङ्गार के वैसे ही रसपूर्ण मुक्तकों की रचना करने का औरों को भी हौसला होने लगा। इसके परिणाम स्वरूप आर्यासप्तशती और अमरुकशतक ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई।[1] अस्तु हिन्दी में शृङ्गार सतसइयों का प्रारम्भ बिहारी सतसई से ही हुआ और बिहारी ने यह प्रेरणा गाथासप्तशती से ली। बिहारी के दोहों पर अनेक संस्कृत कवियों की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है किन्तु जितना प्रभाव गाथासप्तशती का है उतना किसी अन्य ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार का नहीं। अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के दोहा-ग्रन्थों को भी उन्होंने देखा था।

शृङ्गारिक सतसई की परम्परा हिन्दी में बिहारी से प्रारम्भ हुई किन्तु शृङ्गारिक मुक्तक उनसे पहले भी रचे जाते रहे थे। यह एक बंधी हुई सुनिश्चित परम्परा प्रतीत होती है क्योंकि बिहारी के पूर्ववर्त्ती रहीम आदि कवियों की जो एतद्विषयक रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनकी प्रौढ़ता इस परम्परा की ओर संकेत करती है किन्तु अधिक सामग्री न मिल सकने के कारण यह निश्चित करना असम्भव है कि बिहारी पर इन रचनाओं का कितना प्रभाव पड़ा।

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ३१

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी का प्रभाव तो उनकी रचनाओं पर यत्र तत्र लक्षित होता ही है।

अपने पूर्ववर्त्ती कवियों से प्रभावित होकर भी बिहारी अन्धानुकरण करने वाले नही थे। उन्होंने अध्ययन और मनन द्वारा उनके भावों को आत्मसात् कर लिया और फिर उन्हे अपने ढंग से प्रस्तुत किया। अतएव इस अनुसरण में मौलिकता का अभाव नहीं है। कहीं-कही वे मूलग्रन्थ के भाव का सदृश निर्वाह नहीं कर पाये तो कही कहीं उससे भी उत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ हुए हैं। सामान्यत: उनकी इस प्रकार की रचना भावों के सन्तुलित निर्वहण की द्योतक है। उदाहरण लीजिये—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥

बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा गाथासप्तशती की इस गाथा पर आधारित है—

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ ५-४४
यावन्न कोशविकासं प्राप्नोतीषन्मालिकाकलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥

गाथा में कलिका के रस का लोभी भँवरा उसका मर्दन करता है। स्वयं उस पर इससे कोई अवाञ्छनीय प्रभाव पडता नही प्रतीत होता। वह उच्छृङ्खल है, स्वच्छन्द है। कली का मर्दन करने पर भी उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है। अहित कली का ही हुआ भँवरे का कुछ नहीं, किन्तु बिहारी ने इस गाथा के भाव को अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित कर लिया है। नवोढा रानी मे आसक्त जयसिंह अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा है, वह उससे बँध गया। प्रणय-बन्धन में पडना उतना अनुचित नहीं, अनुचित है उसमें बँध कर निष्क्रिय हो जाना और कर्त्तव्य की अवहेलना करना। इसका परिणाम सदैव भयावह होता है (पृथ्वीराज और संयुक्ता उदाहरण हैं) 'आगै कौन हवाल' कह कर बिहारी ने इसी की ओर संकेत किया है। अतएव दोहा गाथा से अधिक काम कर सका, वह उससे अधिक मार्मिक है।

भ्रमर और कलिका के विषय में गाथा सप्तशती में एक और ऐसी ही गाथा है—

अविहत्तसंधिबन्धं पढमसुब्भेअपाणलोहिल्लो।
उव्वेलिउं ण जाणइ खण्डइ कलिआमुहं भमरो ॥७-१३

कली के प्रथम मकरन्दरस का लोभी भ्रमर उसका अविकसित संधिबन्ध (मुँह का जोड़) खण्डित कर रहा है, उसे विकसित होने देना वह नहीं जानता।

गोवर्धनाचार्य की यह आर्या भी देखिये—

पिव मधुप ! वकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ।। ३६७

मधुप ! बकुलकलिका का रस दूर से जिह्वा के अग्रभाग से ही पी लो। उसमे अधिक रस नहीं है, मुँह लगाकर पीने से वह अधरों पर लिप्त होकर ही रह जायेगा, व्यर्थ मुँह क्यो डालते हो ?

और विकटनितम्बा का यह श्लोक—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामाजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ।।

हे भ्रमर ! अन्य पुष्पित लताओं में जो तुम्हारे द्वारा किये जाने वाले मर्दन को सहने मे समर्थ है, अपने चंचल मन को बहलाओ नवमल्लिका की मुग्धा कलिका को जिसमें अभी पराग तक नहीं है, क्यों कष्ट देते हो ? (मुग्धा और अजातरजस=रजोदर्शन का अभाव, नायिका की अज्ञातयौवना एवं अप्राप्तयौवना अवस्था को प्रकट करते है)।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन उक्तियो में से किसी में भी बिहारी के दोहे जैसी स्पष्टता, प्रासादिकता, अर्थ-गाम्भीर्य एवं प्रभावशालिता नही हैं।

किं रुअसि ओणमुही धवलाअन्तेसु सालिछेत्तेसु।
हरिआल मण्डिअमुही णण्डिव्व सणवाडिआ जाआ ।। गाथा० १।६

शालि क्षेत्रों के पक जाने पर नीचे मुख किये हुये क्यों रो रही हो देखो तो सन की बाड़ी हरताल द्वारा प्रसाधित मुख वाली नटी के समान हो गई है। (एक संकेत स्थल नष्ट होने वाला है तो दूसरा तैयार है, चिन्ता की बात क्या है ?)

अब बिहारी का दोहा देखिये—

सन सूख्यौ वीत्यो बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौ धरि धरहरि उर नारि ।।

गाथाकार ने एक ही सहेट शालिक्षेत्र के समाप्त होने का संकेत दिया हे किन्तु बिहारी की नायिका के तो सभी संकेत-स्थल सनवाटी, कपास का

खेत और ऊख सभी समाप्त हो गये। अतः गाथा की नतमुखी रोदनशीला नायिका की अपेक्षा बिहारी की नायिका की बेचैनी अनभिहित होकर भी कहीं अधिक है। सखी के सान्त्वना शब्द "धरि धरिहरि उर नारि" उसके पुटपाक सदृश ताप को व्यंजित करते हैं। निःसंदेह गाथा की अपेक्षा दोहा अधिक व्यापक है। दूसरी पंक्ति में 'र' का अनुप्रास नायिका के हृदय-कम्पन का नादात्मक चित्र उपस्थित करता है।"

प्रणय-कुपित नायक को मनाती हुई नायिका कहती है—

'बालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअम्
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि ॥ ५–१५

हे बालम ! आपसे अधिक मुझे अपना जीवन प्यारा है खेद है कि वह तुम्हारे बिना रह नहीं सकता इसीलिए आपको मना रही हूँ।

इस भाव पर बिहारी का दोहा यह है—

अपनी गरजनि बोलियत कहा निहोरो तोहि।
तू प्यारौ मो जीय को मो जिय प्यारो मोहि ॥

दोनों नायिकाओं का उद्देश्य एक ही है--नायक के प्रति प्रगाढ़ अनुराग सूचित करना। बिहारी की नायिका 'तू प्यारो मो जीय को' (तू मेरे प्राणों का प्यारा है) कह कर ही रह जाती है किन्तु गाथा की नायिका वियोग में अपने मरण की अवश्यम्भाविता की सूचना देकर प्रेम की पराकाष्ठा ही प्रकट नहीं करती अपितु परोक्षरूप से 'इस प्रकार मान नहीं करना चाहिये' यह भी समझा देती है। स्पष्ट है कि गाथा का भाव लेकर भी बिहारी ने उसका उस स्तर पर निर्वाह नहीं किया। प्रियवस्तु का अपहार हो जाने पर भी सन्तोष करना ही पड़ता है, लोग करते ही हैं, पर जिस वस्तु के बिना प्राण रह ही न सकें उसके अलग होने की कल्पना भी रोंगटे खड़े कर देगी।

देवर की नाजायज हरकतों से तंग आई कुलबधू की दशा का चित्रण देखिये—

असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोह्णा ॥ १-५६ गाथा

निर्मल-हृदया वधू दूषित मन वाले देवर की बात कुटुम्ब का विघटन होने के डर से नहीं कहती क्योंकि पति का स्वभाव तेज है, वह बेचारी सूखती जा रही है।

कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराय ।।
पंजरगत मंजार ढिग सुग लौं सूकति जाय ।।

गाथाकार ने देवर की हरकतों की शिकायत न करने का जो कारण दिया है वह अधिक प्रबल है । स्नुषा शब्द श्वशुर आदि के होने का भी संकेत करता है । इस प्रकार के सम्मिलित परिवार का विघटन न हो जाय । यही सोच कर वह बेचारी चुप रहती है । कलह की अपेक्षा कुटुम्ब के टूट जाने का डर अधिक उचित है, फिर पतिदेव का स्वभाव विषम है । अतः बात खुल जाने पर कुल विघटन अवश्यम्भावी है । बिहारी की नायिका की दृष्टि केवल कलह तक ही जाती है किन्तु 'पंजरगत मंजार ढिग सुग लौं' सूखने का जो चाक्षुष चित्र बिहारी ने दिया है वह गाथा मे नहीं है ।

धरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण ।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गग्रं पइणा ।। गाथा० १-१३

गृहिण्या माहानसकर्ममसीमलिनितेन हस्तेन ।
स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थांगतं पत्या ।।

भोजन बनाने में व्यस्त पत्नी के मलिन हाथ से स्पृष्ट होने के कारण चन्द्रमा की अवस्था को प्राप्त (चन्द्रमा के समान प्रतीत होने वाले) मुख का पति उपहास कर रहा है ।

पिय तिय सों हँसि कें कह्यौ लख्यौ डिठोना दीन ।
चन्द्रमुखी मुख चन्द्र सों भलो चन्द्रसम कीन ।।

बिहारी ने गाथाकार के भाव को लिया है । दोनों ही नायिका के मुख को चन्द्रमा से सुन्दर मानकर चले है । अन्तर केवल इतना है कि गाथाकार ने यह काम व्यञ्जना से किया है और दोहाकार ने अभिधा से । कालिमा के संयोग से मुख का चन्द्रमा के सदृश हो जाना भी दोनों में समान है पर दोनों के कारण में भेद है । गाथाकार की नायिका का (कोयले आदि से) मलिन हाथ (अनजाने) उसके मुख से छू गया है पर बिहारी की नायिका ने जान-बूझ कर डिठौना लगाया है । अतः कालिमा के संयोग में एकत्र सहजता है तो अपरत्र कृत्रिमता । गाथाकार की नायिका में भोलापन है और बिहारी की नायिका में रूप का गर्व । उत्कर्ष कहाँ है यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

जह जह उव्वहइ वहू णवजोव्वणमणहराइ अङ्गाइं ।
तह तह से तणुआअइ मज्झो दइओ अ पडिवक्खो ।। ३९२ ।।

यथा यथोद्वहते वधूर्नवयौवनमनोहराण्यङ्गानि ।
तथा तथा तस्यास्तनूयते मध्यो दयितश्च प्रतिपक्षः ।।

जैसे-जैसे वधू के अङ्ग नव यौवन से मनोहर होते जाते हैं, वैसे-वैसे उसका कटि प्रदेश, प्रियतम और सपत्नी-समुदाय कृश होते जाते हैं। कटि प्रदेश यौवन के स्वभाव से, प्रिय अत्यासक्ति के कारण और सपत्नियाँ ईर्ष्यावश कृश होती हैं।

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यों ज्यों जोबन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति ।। (बिहारी)

दोनों उक्तियाँ समान भाव पर आधारित हैं। दोनों ने नायिका की वयःसन्धि और उसके प्रभाव का वर्णन किया है। नवयौवनज्योति रूप गुण से सौतों की मुखमलिनता रूप दोष का उदय होने से दोहे में उल्लास अलङ्कार है, प्रसाद गुण और व्रजमाधुर्य से ओत प्रोत होने के कारण इसकी आस्वाद्यता असन्दिग्ध है। गाथा में चढ़ते यौवन की कान्ति का तो वर्णन है ही मध्य भाग के कृश होने का उल्लेख भी हुआ है। और उसका प्रभाव जहाँ सौतों को कृश करने वाला है वहाँ पति को भी अनुरागातिशय के कारण क्षीण बनाता है। अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से गाथा दोहे से निःसन्देह आगे है।

प्रसङ्गवश नायक के नाम ग्रहण से हर्षित होने के कारण लक्षितानुराग नायिका का गाथा सप्तशती में इस प्रकार वर्णन हुआ है—

जइ सो ण वल्लहो च्चिअ गोत्तग्गहेण तस्स सहि कीस,
होइ मुहं ते रविकरफंसव्विसदं व तामरसम् । ४१३ गाथा
यदि स न वल्लभ एव गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।
भवति मुखं तव रविकरस्पर्शविकसितमिव तामरसम्,

सखि ! यदि वह प्रिय नहीं है तो उसके नामग्रहण से तेरा मुख सूर्य की किरणों से विकसित कमल के समान क्यों हो गया ?

इस भाव को बिहारी ने अधिक सुन्दरता से प्रकट किया है—

नाम सुनत ही ह्वै गयो तन औरै मन और।
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यौ कहा चढ़ाये त्यौर ।।

गाथा की नायिका पर नाम-ग्रहण की प्रतिक्रिया 'मुख-विकास' द्वारा बताई गई है। प्रतिक्रिया का यह स्वरूप मानसिक दशा को सूचित करता हुआ भी प्रत्यक्ष रूप में शारीरिक ही है। बिहारी ने 'तन औरै मन और' कहकर शारीरिक एवं मानसिक दशा की जिस अनिर्वचनीयता की ओर संकेत

किया है, उसे शब्दो में बाँधा ही नही जा सकता। ढकी बात को निरावृत होती देख कृतक रोशावेश और 'त्यौर चढ़ाने' से नयिका के अनुराग की पुष्टि भी मनोवैज्ञानिक ढंग से हो गई। इस प्रकार दोहे में नायिका के रागाभिव्यक्ति करने वाले स्वरूप के साथ साथ तज्जन्य प्रतिक्रियाप्रसूत स्वरूप का सौन्दर्य भी देखने को मिलता है जिसका गाथा में नाम भी नही।

निर्दय-सुरत-पीडित कोमलाङ्गी नायिका का चित्र देखिये—

सहइ सहइ त्ति तह तेरा रामिश्रा सुरअदुव्विअद्धेरा।
पम्माअसिरीसाइ व जह से जाआँइ अङ्गाई।।६-५५।। गाथा

सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि।

सौकुमार्य का ध्यान न रखने के कारण रतिक्रीड़ादुर्विदग्ध नायक ने "इस ढंग से रमण करने पर भी यह सह रही है, इस ढँग से भी सह रही है" इस प्रकार सोचकर अनेकानेक प्रकार से इसके साथ ऐसा रमण किया कि इसके अङ्ग मसले हुये शिरीष के पुष्प के समान हो गये।

इस भाव को बिहारी ने ज्यों का त्यों अपनाया है—

यों दलमलियत निर्दई, दई कुसुम से गात।
कर धर देखो धरधरा, अजौं न उर को जात।।

'सुरतदु-विदग्ध' और निर्दयी' शब्द एक से वजन के है। दोहे में सामान्य कुसुम द्वारा नायिका के अङ्गों का सौकुमार्य प्रकट किया है किन्तु गाथाकार ने शिरीष पुष्प का प्रयोग किया है जो कदाचित् पुष्पों में कोमलतम होता है। (महाकवि कालिदास ने शिरीष पुष्प को ही कोमलता का प्रतीक प्रायः माना है) दोहाकार ने 'दलमलियत' कहकर अंगों के अत्यन्त पीड़न का अभिधा द्वारा उल्लेख किया है, गाथाकार ने उपमान शिरीष के साथ 'म्लान' विशेषण जोड़कर उसकी व्यञ्जना की है। दोहे में 'उर का धरहरा' सुरतजन्य आयासाधिक्य का सूचक है तो गाथा में 'सहते सहते' वीप्सा सुरत की दीर्घता की द्योतक है।

अण्णाणँ वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइं दीहकसणाइं
णअणाँइ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठु ण जाणन्ति।। गाथा० ५–७०

पक्ष्मल, आयत और कजरोर नयन तो अन्य सुन्दरियों के भी है किन्तु वे देखना नहीं जानतीं।

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान।। बिहारी

यहाँ एक बात कह देना उचित प्रतीत होता है। वह यह कि बिहारी के वाहवाहवादी आलोचक पं० पद्मसिंह शर्मा ने गाथाकार की गाथाओं से तुलना करने में बिहारी का अनुचित रूप से पक्षपात किया है। सच्चे आलोचक के समान शर्मा जी निष्पक्ष नहीं रह सके। उक्त दोहे की गाथा से तुलना करते हुए वे कहते हैं—"आँखें देखना नहीं जानतीं, क्यों? क्या कोई विचित्र बीमारी तो नहीं है? कहीं चित्रलिखित आँखे तो नहीं है? शर्मा जी को अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि को पहचानना चाहिये था। 'द्रष्टु न जानन्ति' का लाक्षणिक अर्थ है सम्यक् प्रकार से देखना नही जानतीं (विवेक नही रखतीं) इसीलिये वे सुन्दरियाँ असदृश नायकों से प्रेम कर बैठती हैं। यह नायिका अच्छी प्रकार देखना जानती है, इसे गुणों की पहचान है इसीलिये तो तुमसे अनुराग करती है।" यह ध्वनित करके दूतिका नायक को नायिका की ओर आकृष्ट करती हैं। अथवा 'द्रष्टुं न जानन्ति' अर्थात् चतुरतापूर्वक कटाक्षादि करना नहीं जानती। शर्मा जी ने अनेकत्र इसी प्रकार की उक्तियाँ कहीं है। प्रसङ्गवश हमने यही संकेत कर दिया है। क्योंकि इस थोथे विवाद में कुछ नहीं रखा है। निःसन्देह दोहे का उत्तरार्ध अधिक मार्मिक है।

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्त व लिक्खए लेहे।
तुह विरहे ज दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो।। ६–७१

वाणी से क्या कहा जाये? और लेख में कितना लिखा जा सकता है? (कथनीय अनन्त है) तुम्हारे विरह में जितना दुख है वह तुम ही जानते हो।

कागद पर लिखत न बनै कहत संदेश लजात।
कहिहै सब तेरौ हियौ मेरे हिय कौ बात।। बिहारी

बिहारी की नायिका लज्जा के कारण नहीं कह पाती किन्तु गाथा की नायिका का संदेश वागतीत ही है।

पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अ आणन्ती।
मुद्धबहू थणवहे दिण्णं दइएण णहरवअम्।। ५–३३

मुग्धा नायिका अपने उरोजस्थल पर दिये हुए प्रिय के नखचिह्न की वास्तविकता को न समझती हुई (यह क्या है? यह सोचकर उसे छुड़ाने की इच्छा से) कभी उसे वस्त्रादि से पोंछती है, कभी धोती है और कभी झाड़ती है।

इस भाव पर बिहारी का यह दोहा है—

छिनकु उघारत छिन छुवत राखत छिनक छिपाय।
सब दिन पिय खण्डित अधर दरपन देखत जाय।

गाथा की नायिका मुग्धा है और दोहे की प्रेमगर्विता। नायिका का मुखचन्द्र कैसी भ्रान्ति फैला रहा है—

ओसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण अइच्चिरं हसिओ।
चन्दोत्ति तुज्झ वअणे विइण्णकुसुमञ्जलिविलिक्खो ॥ ४-४६ गाथा

सखि! तेरा रूप इतना है कि व्रतधारिणी स्त्रियों ने तेरे मुख को चन्द्रमा समझकर कुसुमाञ्जलि सहित अर्थ प्रदान कर दिया किन्तु वास्तविकता का ज्ञान होने पर वे लज्जित हुई और पति ने उनका मजाक उड़ाया।

तू रहि हौंही ससि लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल।
सबहिनु बिनुही ससि लखैं दैहै अरघ अकाल।

नायिका के मुख में चन्द्रमा की भ्रान्ति दोनों का अभीष्ट आशय है। गाथा में वे मुखको चन्द्रमा समझकर बेचारी उपवासिनियों ने अर्घ दे ही दिया। लज्जित होना पडा और हँसी उड़ी वह अलग रही। बिहारी की नायिका की सखी ने बुद्धिमानी की जो नायिका को चन्द्रमा को देखने के लिये अटारी पर चढ़ने ही न दिया और अपनी सतर्कता से गाथा वाली दुर्घटना होने से बचा ली।

जेठ के मध्याह्न में छाया भी आतप के भय से शरीर के बिलकुल नीचे विश्राम करने लगती है। अपनी हेतु-कल्पना से भीषण गर्मी रूप सत्य की मार्मिक अभिव्यक्ति गाथाकार ने की है—

थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥ १-४९

आतप से खिन्न पथिक जिस छाया में विश्राम करते है वह अचेतन छाया भी आतपभय से बाहर नहीं निकलती, चेतन प्राणियों का तो कहना ही क्या। अतः निशङ्क मन से इस विविक्त समय में मुझे भी छाया के समान अपने अङ्गों में लीन करलो" यह व्यञ्जित करती हुई स्वयं-दूतिका नायिका पथिक से कहती है—

देखो, शरीर के नीचे छिपी हुई छाया भी आतप के भय से मध्याह्न में तनिक भी नहीं निकलती। पथिक ऐसे समय में भला तुम विश्राम क्यों नहीं करते?

बिहारी ने इस भाव को अपना कर कुछ व्यापक रूप दिया है—

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन माँहि।
देखि दुपहरी जेठ की छाहौ चाहति छाँहि ।। ५६६ ।

बिहारी की पैनी दृष्टि केवल गात्रतललीन छाया तक ही नही पहुँची अपितु सघन बन एवं सदन में बठी हुई छाया को भी उमने देखा है। उद्देश्य दोनों का एक ही है—नायिका द्वारा पथिक को निमन्त्रण।

गाथा की नायिका वाम आँख के स्पन्दन से प्रवासी प्रियतम के आने की सम्भावना कर उसे (आँख को) परिलुष्ट करने का विचित्र उपाय सोचती है—

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ अता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम् ।।२—३७

हे बामाक्षि ! तेरे स्पन्दित होने फलस्वरूप यदि मेरे प्रियतम आयेंगे तो दक्षिण नेत्र को मूंद का तुझ से ही देर तक उन्हें निहारूगी।

यही भाव बिहारी ने आँख से उठाकर बाहु पर आरोपित किया है—

वाम बाहु फरकत मिलै जो हरि जीवन मूरि
तौ तोही सों भेंट हों सखि दाहिनों दूरी (बिहारी)

बिहारी के समर्थकों ने गाथाकार पर आक्षेप करते हुए कहा है कि एक आँख से देखने वाली नायिका ठीक नहीं रही जब कि गाथाकार के समर्थक कहते हैं कि एक आँख से तो दर्शन होने में कोई रुकवाट नहीं होती एक आँख द्वारा भी वह उतनी ही पूर्णता के साथ सम्भव है जितना दोनों के द्वारा किन्तु एक बाहु से 'भेटना' तो सुकर हो ही नही सकता। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ निष्पक्ष आलोचना से बहुत दूर हैं। तथ्य यह कि बिहारी का दोहा गाथा का रूपान्तर ही है।

इसी प्रकार—अज्यौं न आये सहजरंग विरह दूबरे गात।
अबकी कहा चलाइयत ललन चलन की बात। ? बिहारी

तथा—नाह गरज नाहरगरज, बचन सुनायो टेरि।
फँसी फौज विच बन्दि में, हँसी सबन मुख हेरि।

ये दोनों दोहे क्रमशः—

अव्वो दुक्कर आरक पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीय तरङ्गिणो चिउरा। ३-७३

अहो ! कठोर आचरण करने वाले ! पुनः प्रवास गमन को बात सोचने लगे। वेणी के कुटिल केश (जो तुम्हारे विदेश में रहने से न सँवारे जाने के कारण कुटिल हो गये थे) अभी सीधे भी नही हो पाये।

वज्ज पडणाइरिक्क पइणो सोऊणसिञ्जिनीघोसम्।
पुसिआइं करिमरिएँ सरिसबन्दीणं पि णअणाइं ॥१-५४

पति के वज्रपान से भी कठोर प्रत्यञ्चा-घोष को सुनकर बन्दिनी ने अपने समान अन्य बन्दिनियों के भो नयन मार्जित किये।

गाथाओ के रूपान्तर के अतिरिक्त कुछ भी नही है।

तीज परब सौतिन सजे भूपन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी, वहै मरगजे तीर। बिहारी

तीज महोत्सव पर सभी सहेलियाँ शृङ्गार-प्रसाधन करती है किन्तु स्वाधीनपतिका उसी मसली हुई साड़ी को पहने है जो रात्रि में पति के साथ सुरत क्रीडाओं में मलिन हो गई थी। इसी वेष में उसे देख कर बनी-ठनी सपत्नियो का मुख ईर्ष्यावश मलिन हो गया।

यह दोहा इस गाथा की छायामात्र है:—

हल्लफलह्णाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम्।
'अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम्।१-७९

'स्नान प्रसाधन आदि से प्रिय हमारे वश में हो जायेगा' यह सोचकर अत्यन्त उत्साह-चापल्य से स्नान करने वाली सपत्नियो को स्वाधीन पतिका नायिका ने स्नानादि के प्रति अधिक उत्सुकता प्रकट न करके अपनी प्रिय-प्रियता व्यक्त कर दी। पं० पद्मसिंह शर्मा ने यहाँ भी दोहाकार की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये गाथा की नयिका को स्नान न करने के कारण गलीज आदि कहा है किन्तु उन्होंने गाथा को समझने का प्रयत्न शायद नहीं किया मज्जनादर का अर्थ यही है कि अन्य युवतियों के समान उसने मार्जन और प्रसाधन में उत्साह नही प्रदर्शित किया क्योंकि पति साज-सज्जा के बिना ही उसके अधीन है। इस गाथा की अपेक्षा एक अन्य गाथा बिहारी के दोहे का मूल आधार अधिक सम्भव प्रतीत होती है:—

सिहिपेहुणावअंसा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
गहमोत्तिअरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥१-७३

मोर पंखों से सजी हुई भिल्लवधू गजमुक्ताओं से सम्यक् प्रसाधित

निज सपत्नियो मे गर्व के साथ भ्रमण करती है। (क्योंकि वह नायक की प्रिया है और पतिप्रेम के सौभाग्य के सामने सांसारिक वैभव हेय है।

कही कही विपरीत ढंग से भी गाथाभावों को बिहारी ने ग्रहण किया है। उदाहरण लिखिये:—

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिस्सिग्राएँ वेयमाणाए।
मिसिणेमित्ति पिग्रग्रमं हत्थे गन्धोदग्रं जाग्रम्।।४-१२

फाग खेलते समय नायिका ने मुट्ठी में गुलाल लेकर ज्योंही यह सोचा कि इसे प्रियतम के मुखपर लगाऊँ त्योंही (सात्विक स्वेद के कारण) वह सुगन्धित द्रव के रूप में परिणत हो गया।

मैं लै दयो लयो सुकर, छुवत छनक गौ नीर।
बाल तिहारों अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीर।। बिहारी

दूती ने ज्यों ही नायक के द्वारा भेजा हुआ पिष्टातक वियोगिनी नायिका के हाथ में दिया त्योंही तापाधिक्य के कारण उसका जलांश छन से जल गया और वह शुष्क होकर अबीर जैसा हो गया।

गाथाकार ने सात्त्विक स्वेद के कारण अबीर को अरगजा बना दिया तो बिहारी ने ताप के कारण अरगजा को अबीर बनाकर उड़ा दिया।

कालिदास ने इन्दुमती को 'सञ्चारिणी दीपशिखा' के रूप में देखा जहाँ एक ओर विशेषण शारीरिक लावण्य का द्योतक है वहाँ 'सञ्चारिणी' पद के साहाय्य से यह भी सूचित करने में समर्थ है कि जैसे आगे चलता हुआ दीपक अपने पीछे अन्धकार छोड़ता जाता है और आगे प्रकाश करता जाता है उसी प्रकार स्वयबंर में पति का चुनाव करने के लिये राजाओं की पंक्ति के सामने गुजरती हुई इन्दुमती पीछे छोड़े गये राजाओं के हृदय में निराशा के गहन तम का आविर्भाव करती थी और जिनकी ओर बढ़ती थी उनके हृदय में आशा का प्रकाश चमक उठता था। गाथाकार ने भी इसी प्रकार अनेकार्थ व्यञ्जक रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है:—

चोरि अर असद्धालुइ या पुत्ति भमसु अन्धआरम्मि।
अहिग्रग्ररं लक्खिज्जसि तमभरिए दीवहीहव्व।। ५-१५

कोई प्रौढा किसी अभिसारिका से कहती है लुक-छिप कर अभिसार करने वाली! बेटी देख अन्धेरे में मत घूमा कर क्योंकि तू दीपशिखा के समान अँधेरे में और भी अधिक लक्षित होती है। 'अँधेरे में किसी को पता नहीं चलेगा' यह तेरा भ्रम ही है।

यहाँ पर भी दीपशिखा एक ओर तो शारीरिक सौन्दर्य को प्रकट करती हैं और दूसरी ओर अभिसार के प्रकाशित होने की ओर भी संकेत करती हैं।

बिहारी ने भी इस भाव को अपनाया है किन्तु शारीरिक सौन्दर्य द्योतित करने मे ही:—

सघन कुंज घन-घन तिमिर, अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरि है स्याम वह दीपसिखा सी जाति।
"कहो दुराई क्यों दुरै दीपसिखा सी देह।"
"अङ्ग अङ्ग नग जगमगत दीपसिखा सी देह"

"जलचादर के दीप लौं जगमगात तन जोति"

विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं दिये जा सकते। बिहारी के सैकड़ों दोहों पर गाथा सप्तशती का प्रभाव देखा जा सकता है। अमरुक के श्लोकों के भाव भी बिहारी ने लिये है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥७७॥

पत्नी ने देखा घर के सभी आदमी सो गये हैं, घर सूना है, धीरे से कुछ उठकर देर तक पति महाशय के मुख को देखती रही जो चुपचाप दड़ मारे निद्रालीन होने का स्वांग किये हुए थे, पत्नी उनकी चाल समझ न सकी और निःशङ्क एक चुम्बन पतिदेव के कपोलों पर जड़ दिया, वे महाशय क्षणभर फिर भी चुप ही लेटे रहे, किन्तु चुम्बन के कारण उनका कपोल पुलकित हो गया। नायिका को अपनी गलती मालूम हुई। समझ गई धोखा हुआ और मेरी चोरी पकड़ी गई, इसलिए लज्जा से मुख नीचा हो गया और पतिदेव ने उसके हाव-भावों पर मुग्ध होकर उसे गाढ़ आलिङ्गन से जकड़ लिया।

बिहारी ने इतने बड़े मजमून को दोहे के छोटे से कलेवर में इस खूबी से बाँधा है कि देखते ही वन पड़ता है—

हौं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाइ,
हँस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यौ रही गरै लपटाइ ॥६४२॥

बिहारी के दोहे में 'शून्यं वासगृहं विलोक्य' वाली बात नहीं है, उसकी उतनी आवश्यकता भी नहीं। कार्य से ही वातावरण व्यञ्जित है। इसी प्रकार गण्डस्थली का पुलकित होना भी। श्लोक में नायक की बहानेबाजी का भण्डाफोड़ गण्डस्थली के पुलकित होने से हुआ है, दोहे का नायक इतनी देर के लिये भी हँसी नहीं रोक सका। उसकी पोल हँसी से खुली, पुलक आदि सात्विक भाव उसी में खो गए। 'लज्जानम्रमुखी' और 'खिस्यानी' उभयत्र नायिका की समान मनोदशा के सूचक हैं। इसके पश्चात् श्लोक में पति के ही व्यापार (चुम्बन) का वर्णन है किन्तु दोहाकार की दृष्टि नायिका पर भी जमी है, वैसे उसने 'बाला चिरं चुम्बिता' के जैसा ही वजनी 'गल गह्यौ' लाकर रख दिया है। यानी श्लोक का नायक चुम्बन के बदले चुम्बन ही जड़ता है किन्तु दोहे का नायक आलिङ्गन द्वारा ईंट का जवाब पत्थर से देता है। इसके बाद नायिका पर जो प्रतिक्रिया हुई उसका श्लोक में उल्लेख नहीं है किन्तु बिहारी ने उसको अपनी पैनी दृष्टि से पकड़ लिया है और कह दिया "रही गरैं लपटाइ।" 'रही गरैं लपटाइ' में नायक के आलिंगन के बदले में आलिङ्गन वाली भावना उतनी नहीं (शायद बिलकुल ही नहीं है) जितनी लज्जा की भावना। कहने का आशय यह है कि नायक के हँसने पर नायिका लज्जित हुई और जब नायक ने उसे आलिङ्गन में जकड़ लिया तो उसकी लज्जा और भी प्रगाढ़ हो उठी और वह 'रही गरैं लपटाइ।' लज्जा आलिङ्गन के कारण ही प्रगाढ नहीं हुई। 'खिस्यानी' में उसका अंकुर फूटा था वह स्वाभाविक रूप से बढ़ता ही, बीच में नायक का आलिङ्गन-व्यापार आगया जिससे लज्जा की प्रगाढ़ता उक्त चेष्टा द्वारा अभिव्यक्त हुई। कुल मिलाकर अमरुक के श्लोक में एक चाक्षुष गत्यात्मक चित्र है, उसका प्रभाव सिने-दृश्य से कम नहीं, बिहारी के चित्र में न उतना उभार आ पाया है और न गति ही किन्तु उसकी मार्मिकता सूक्ष्म निरीक्षण और मनोग्राह्यता में है। दोहे के सूक्ष्मकलेवर में व्यापारों के लम्बे चित्र की गुञ्जाइश भी तो नहीं।

भ्रूभंगे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते॥
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने॥२४)

प्रणय-केलियों में निष्णात सखी ने मुग्धा नायिका से पूछा कि कभी मान-मनाव का भी अनुभव किया है? वह बोली मैं तो मान की बात सोच

भी नहीं सकती क्योंकि किसी तरह यदि भ्रकुटि चढ़ा भी ली तो भी ये नयन नहीं मानते, बडी ही उत्सुकता से देखने लगते है, जैसे तैसे चित्त को पत्थर बना भी लिया तो शरीर साथ नही देता, वह रोमाञ्चित हो उठता है। प्रेमालाप पर नियन्त्रण किया तो दुष्ट मुख मुसका तो देता ही है। प्रिय के परोक्ष में ही मान की बात सोचती हूँ उसके सम्मुख होने पर तो मान का निर्वाह असम्भव ही है।

अब बिहारी का दोहा देखिये—

> मोहि लजावत निलज ये हुलसि मिले सब गात।
> भानु उदै की ओस लौं मान न जान्यौ जात॥

भाव एक ही है। अन्तर सिर्फ अभिव्यक्ति में है अमरुक ने कह दिया है बिहारी ने व्यञ्जित कर दिया है। श्लोक में हर्ष के कारण दृष्टि का उत्सुक होना, शरीर का रोमांचित होना और मुख का सस्मित होना पृथक्-पृथक् वर्णित है। बिहारी ने "हुलसि मिले सब गात" में यह सब कुछ भर दिया है। श्लोक में प्यार-भरी खीझ का द्योतक 'दग्ध' विशेषण मुख से ही सम्बद्ध है, अन्य अङ्गों से नहीं किन्तु दोहे का 'निलज' सभी अंगों को झिडक रहा है। साथ ही स्वयं निर्लज्ज होकर भी ये नायिका को सलज्ज करते हैं" में जो बाँकपन है वह बिहारी की वैयक्तिक छाप की स्पष्ट घोषणा करता है। यह सब कुछ होते हुए भी श्लोक की सरल, सहज शैली ही मुग्धा की उक्ति के लिये अधिक उपयुक्त है, बाँकपन और मुग्धत्व का मेल कहाँ?

इसी भाव पर बिहारी का दूसरा दोहा भी है—

> कपट सतर भौंहै करीं, मुख अनखौंहैं बैन।
> सहज हसौंहैं जानिकै सौंहैं करति न नैन।

वास्तव में यह दोहा अमरुक के उक्त श्लोक के पूर्वार्ध पर और इससे पहले उल्लिखित दोहा उत्तरार्ध पर अवलम्बित है।

बिहारी की नायिका भौहैं तो तान लेती है किन्तु नयनों के सहज हँसोड़ होने के कारण उन्हें नायक के सम्मुख नहीं करती। लेकिन जब आँखें उठी ही नहीं तो भ्रूभंग की भी क्या सार्थकता? अमरुक की नायिका भ्रूभंग के साथ नायक पर दृष्टि भी डालती है यह दिखाने के लिए कि मैं मानवती हूँ। पर आँखें हैं कि वे औत्सुक्यवश दर्शन का आनन्द ही लेने लगती हैं। किन्तु आँखों की मूक भाषा को पढ़ लेना अपेक्षाकृत कुछ कठिन है विशेषतया उस समय जब मुख भी बिलकुल मौन हो। अतः कृतक मान की क्षणिकता को

प्रकट करने के लिये अमरुक ने मुस्कान का आश्रय लिया जो मान के तनाव की स्थिति में स्पष्ट ही सन्धि का शुभ संदेश है। बिहारी की मुसकराहट मुख पर नहीं आँखों में है। यह अमरुक के 'औत्सुक्य' का लाक्षणिक संस्करण ही तो है। मानाभिव्यक्ति की दशा में दोनों नायिकाओं के मुख की प्रतिक्रिया में महान् अन्तर है। अमरुक की नायिका ओठों पर कोई फरियाद नहीं लाती (और शायद प्रणय-जगत् में फरियाद करने का सर्वाधिक उपयोगी और सफल ढँग यही है) बिहारी की नायिका 'अनखौहे' वचनों से पेश आती है। मुख पर कपट-कटु-वचन और आँखों में उल्लास, यह भी मान-निर्वहण की असम्भवता के द्योतन की मार्मिक स्थिति है पर क्या उतनी ही मार्मिक जितनी आँखों में औत्सुक्य, वाणी का सर्वथा अवरोध और अधरों पर मुस्कराहट वाली स्थिति। कृतकमानावधि की आत्यन्तिक लघुता, जो दोनों ही रचनाओं में अभिप्रेत है प्रथम प्रकार की चेष्टाओं से अधिक व्यक्त है या दूसरे प्रकार के अनुभावों से ?

शिक्षा देने वाली सखी भी नायिका से मान कराने के लिये तुली हुई ही जान पड़ती है किन्तु उत्तर में और भी अधिक भोला कथन पाती है जिसमें मुग्धत्व वास्तव में मुग्ध करने वाला बन गया है—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते।
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना।
नीचैः शंस हृदिस्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति।

मुग्धे ! सारा समय भोलेपन में ही क्यों गुज़ारे दे रही हो। कभी मान भी धारण किया करो। धैर्य से काम लो, प्रिय के साथ अधिक ऋजुता ठीक नहीं होती। सखी न जाने और क्या-क्या कहती कि नायिका भयभीत होकर बोल उठी—ज़रा धीरे से कहो, मेरे प्रियतम मेरे हृदय में ही हैं, वे सुन रहे होंगे। हद हो गई सरलता की ! सखी का उपदेश सुनकर ही तो टाल दिया, जान बूझकर नहीं, मुग्धा की प्रकृति ही जो ठहरी।

बिहारी द्वारा इसका दोहा—संस्करण देखिये—

सखी सिखावति मान-बिधि सैंननि बरजति बाल।
हरुए कहि मो मन बसै सदा बिहारीलाल।।

अन्तर फिर वही है ! बिहारी की बाला सखी को 'सैन आँखों के इशारे से बरजती है, यद्यपि फिर वह धीरे से कहने को ताकीद करने के लिये मुँह भी खोलती है और वही कहती है जो अमरुक की नायिका ने कहा था

किन्तु 'सैननि' आदि की अदा उसकी अपनी है, उसे यदि छोड़ दे तो उसका पृथक् व्यक्तित्व कहाँ रहा। 'भीतानना आह' और 'सैननि बरजति' मे कौन मौजूँ है ? इस पर अधिक कहना व्यर्थ है।

त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणी।
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।।
शय्योपान्तनिविष्ट-सस्मित-सखी-नेत्रोत्सवानन्दितो।
निर्यातः शनकैरलीक-वचनोपन्यासमालीजनः ।।

स्वकीया नायिका अपनी सखियों के साथ बैठी हुई है। पतिदेव ने अनङ्ग के रंग में कहना शुरू किया "मुग्धविलोकने ! तुम अँगिया के बिना ही सुन्दर लगती हो" यह कहते कहते उन्होंने उसके बँध का स्पर्श किया, उधर नायिका ने पास बैसी हुई सखियों की ओर मुसका कर देखा, उसकी आँखों में चमकते हुए उल्लास से आनन्दित सखियाँ भी शनैः शनैः झूठे बहाने बना कर (कि उन्हें आवश्यक काम है) चली गईं।

इस भाव पर बिहारी का दोहा यह है—

पति रति की बतियाँ कहीं सखी लखी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटली अली चलीं सुख पाइ ।।

बिहारी का नायक अधिक सभ्य है, श्लोक का नायक 'रति की बतियाँ' कहने के साथ साथ सखियों के सामने ही कञ्चुक-बन्ध खोलने की निर्लज्जता भी करता है। किन्तु बिहारी के नायक ने रति की क्या बतियाँ कही ? यह जिज्ञासा रह जाती है। रसास्वादन में इस कथन से कोई सहायता नहीं मिलती। बिहारी की उक्ति में स्वशब्दवाच्यत्व दोष का परिहार भी यदि किया जा सके तो भी उसे तथ्य-कथन मात्र से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अनुभावों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति वाली बात इतने अंश में (या यह कहिये नायक की ओर से) नहीं हुई। हाँ, नायिका के मुसकाकर सखी को देखने में रसोद्बोधक शक्ति है। संस्कृत भाषा की समाहार शक्ति और शार्दूलविक्रीडित छन्द के विस्तृत क्षेत्र के कारण श्लोक में रसपरिपाक के और भी साधन आ गये है जो दोहे में संभव नहीं हो सके।

नव-परिणीता बधू के अनुभावों का एक सुन्दर शब्द-चित्र अमरुक ने इस प्रकार खींचा है—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालाप माभाषिता।
शय्यायां परिवर्त्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते ।।

निर्यान्तीषु गतीषु वासभवनान्निर्गन्तु मेवेहते ।
जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यं नवोढा वधू ।।

मैं उसकी ओर देखता हूँ तो आंख नीचे कर लेती है, बोलने पर बोलती नहीं, एक ही शय्या पर सोते समय विमुख होकर पड़ रहती है, बलात् आलिगन करने पर कॉप उठती है। कमरे से सखियों के निकल जाने पर स्वयं भी निकल जाना चाहती है। इस प्रकार विपरीत आचरण करने पर भी नवोढा प्रिया मेरे प्रेम को पुष्ट ही करती है।

नहिं नचाइ चितवतु द्दगन, नहिं बोलत मुसकाइ ।
ज्यौं ज्यौं रूखी रुख करति, त्यों त्यौं चित चिकनाइ ।।

श्लोक की पहली और अन्तिम पंक्ति के भावों पर ही यह दोहा पूर्णतया आधारित है। श्लोक की नायिका नायक द्वारा देखने पर भी नहीं देखती और बोलने पर भी नहीं बोलती। तभी तो वह 'वामता' का प्रदर्शन करती है। दोहे का नायक 'दर्शन' और 'आलाप' का प्रारम्भ नायिका की ओर से ही चाहता है या स्वयं उसने 'पहल' की है फिर भी उचित प्रत्युत्तर प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये उसे शिकायत है ? यदि पहली बात है तो नायिका का रूखापन अधिक पुष्ट नहीं होता। यदि मामला दूसरा है तो वास्तव में उसकी रूक्षता और श्लोक की नायिका की 'वामता' समान है। रूखी रुख से भी चित्त को चिकनाने की वक्रता अवश्य द्दष्टव्य है। बिहारी का एक दोहा है जिसमें प्रवत्स्यत्पतिका की दयनीय दशा देख कर पति परदेश जाने से रुक जाता है—

बिलखी डभकौं है चखन तिय लखि गवन बराइ ।
पिय गहबरिआयें गरैं राखी गरैं लगाइ ।।

अर्थात् नायिका की आँसू भरी आँखें देख कर नायक ने प्रस्थान स्थगित कर दिया और रुँधे हुये गले से प्रियतमा को गले लगा लिगा।

अमरुक का भी ऐसा ही एक श्लोक है—

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते ।
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।।
लज्जामन्थर तारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा ।
द्दष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ।।

प्रस्थान-स्थगन का कारण पूछे जाने पर नायक की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है—चलते समय मैंने अपनी प्रिया से कहा, जाने वाले क्या फिर मिलते नही है ? मेरे लिये चिन्ता मत करना, तू वैसे ही अधिक दुर्बल है।

यह कहते कहते मेरी आँखों में आँसू आ गये। उसने मुझे लज्जा से मन्थर तारा वाले नेत्रों से देखा जिनमें टपकने के लिये प्रस्तुत आँसुओं को अमङ्गल के भय से बलात् रोक लिया गया था, और मुसकान द्वारा (वियोग मे) अपने भावी मरण की सूचना दी (इसी लिए मैने जाना स्थगित कर दिया) श्लोक के उत्तरार्ध का भाव ही दोहे में ग्रहण किया गया है। बिहारी का नायक नायिका के डबडबाये नेत्रो को देख कर ही जाना स्थगित कर देता है किन्तु यह प्रस्थान-स्थगन के लिये पर्याप्त पुष्ट कारण प्रतीत नही होता, हाँ, भाव-भरी फीकी यान्त्रिक मुसकान से नायिका के मरण का आभास पाकर नायक का घबरा कर काँप उठना और अत्यन्त आवश्यक होने पर भी प्रवासी बनने का ख़याल छोड़ देना अधिक स्वाभाविक है।

स्मृति सञ्चारी का व्यञ्जक दोहा और देखिये—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जात अजौं बहै, उहि जमुना के तीर॥

बिहारी के इस दोहे पर शिला भट्टारिका के इस श्लोक का प्रभाव स्पष्ट है।

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा,
स्ते चोन्मीलित-मालती-सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारक्रीडाविधौ,
रेवा है रोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

वही वर जिसने प्रथम समागम में कौमार्य का हरण किया था, वही चैत्र की मधुर रात्रियाँ, वैसा ही विकसित मालती के गन्ध से सुरभित कदम्ब वृक्षों से छनकर आता हुआ प्रौढ समीर, वही मै स्वयम्, सब कुछ वही तो है, फिर भी प्रणयकेलिहेतु रेवा नदी के तट पर स्थित वेत्रपादप के नीचे चलने की उत्कण्ठा चित्त में समाई हुई है।

मानग्रस्त दम्पती के नेत्रों की हरकत देखिये जो दोनो के मान-विमोचन में चतुर दूती को भी मात दे रहे है :—

खिचै मान अपराध हूँ चलिगै बढै अचैन।
जुरत डीठि तजि रिसखिसी हँसे दुहुन के नैन।

यह दोहा अमरुक के इस श्लोक पर आधारित है :—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो,
रन्योन्यस्य हृदिस्थितेप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्मोः शनकैरपागवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुपो—
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः।

पति पत्नी एक ही शयन पर मुँह फेर कर लेटे हुए है, दोनों ही सन्धि चाहते है किन्तु पहल किसकी ओर से हो ? अपनी-अपनी बात पर दोनों अड़े हुए है। प्रत्येक सोचता है पहले मैं क्यों बोलू ? हठवश अपने गौरव की रक्षा कर रहे हैं। मन की उत्सुकता ने नयनों को इशारा किया, दोनों के नयन शनैः शनैः एक दूसरे की ओर घूमे और उनके कोनों की टक्कर होते ही मान टूट गया, दोनों हँस पड़े और इसके पश्चात् वे परस्पर दृढ़ आलिंगनपाश में आबद्ध थे। आँखों ने कितना बड़ा काम किया। दोनों की बात रह गई; कोई भी एक दूसरे को ताना नही दे सकता कि जाओ तुमसे ही न रहा गया, हार तुम्हारी हुई सन्धि का प्रस्ताव तुमने पेश किया।

दोहे में गागर में सागर भरने का प्रयास किया गया है किन्तु चित्र की समग्रता श्लोक में हैं। श्लोक की प्रथम अढ़ाई पंक्तियों का भाव दोहे की पहली पंक्ति में है। बिहारी ने औत्सुक्य को "चलिगैं बढैं अचैन" द्वारा साफ शब्दों में कह दिया है किन्तु अमरुक मानगृहीतों के मन में अनुनय भाव के प्रवेश द्वारा औत्सुक्य का संकेत-मात्र करते हैं और 'गौरव-संरक्षण' की भावना का अंकुश उस पर रखते हैं। नयनों के 'शनकैः' घूमने का कारण भी यही है। उनके टकराने से बीच में आये हुए मान का टूट जाना स्वाभाविक ही है। दोहे का "चलिगै बढैं अचैन" नेत्र-व्यापार में औत्सुक्य-जन्य तीव्रता का द्योतक है। क्योंकि 'गौरव संरक्षण जैसा कोई अंकुश यहाँ नहीं है' चमत्कार नेत्रों के एक दम मिल जाने में है या शनैः शनैः ? इस नेत्र-मिलन की प्रतिक्रिया क्या हुई ? दोहाकार ने उसे सहृदय पाठक की कल्पना के लिये छोड़ दिया है पर अमरुक उसे भी कह गये हैं। बिहारी का एक दोहा और है उसे यदि उक्त दोहे से पहले पढ़ा जाये तो श्लोक का पूरा भाव आ जाता है :—

दोऊ अधिकाई भरे, एकै गौं गहराइ।
कौन मनावै को मनै मानै मन ठहराइ ।।५५६

संस्कृत के अन्य कवियों की कृतियों का भी अध्ययन बिहारी ने किया था और स्थान-स्थान पर उनके भाव, कहीं अविकल रूप में, कहीं परिवर्तित रूप में और कहीं छाया रूप में, उन्होंने ग्रहण किये हैं।

चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वामियमंगुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ।। आर्या सप्तशती २३१

केशप्रसाधन में लगी हुई, तिरछी और झुकी हुई ग्रीवा किये हुए पीठ फेरे बैठी हुई नायिका अंगुलियों से बालों के मध्य मे जगह बनाकर तुम्हें देख रही है।

कंजनयनि मजन किएं बैठी व्यौरत बार।
कच अँगुरिनु बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार। बिहारी
भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव।
आवर्त्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ॥ आर्या० ४३२

तुम्हारे प्रणय रूपी सलिल में चक्कर काटकर और उसी में स्थित होकर वह नायिका विनय को त्यागकर भँवर में पड़ी हुई नौका के समान हो गई है।

फिरि फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि झौर मैं, भयो भौर की नाव॥ बिहारी

दोहे में रूपक का उचित निर्वाह हुआ है चित्त के नौकात्व की सिद्धि के लिये लाज का लाव बनना उपयुक्त ही था। इस लाज में और 'आर्या' के विनय में तात्त्विक अन्तर कुछ नहीं है।

शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले।
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुसज्जा॥

इन्दुकले! इस अभिमान में न रह कि मैं शंकर के सिर पर पैर रख कर स्थित हूँ। इसका नतीजा होगा चण्डी की चरणरज से तुम्हारा अलंकृत होना।

बिहारी ने कृष्ण के विषय में ऐसी ही उक्ति कही है—

मोर चन्द्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमानु।
लखिवी पाइनु पर लुठति सुनियत राधा मानु॥

अन्तर केवल इतना है कि आर्या में पार्वती का मान व्यंग्य है और दोहा में राधा का मान अभिहित। इसी प्रकार—

स्वारथु सुकृत न श्रम वृथा देखि विहंग बिचारि।
बाज परायें पानि पर तूँ पच्छीनु न मारि॥

यह अन्योक्ति आर्यासप्तशती की निम्ननिर्दिष्ट अन्योक्ति का रूपान्तर ही है—

आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय! तव सारः।
त्वामपसार्या विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः॥

बिहारी ने उद्दाम सुरत के सामने मुक्ति को भी कुछ नहीं माना है—

चमक तमक, हाँसी, ससक, मसक झपट लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकति अतिहानि॥

गोवर्धन आचार्य ने भी रति के सामने ब्रह्मानन्द को तृणवत् माना है—

असती कुलजा धीरा प्रौढा प्रतिवेशिनी यदासक्तिम् ।
कुरुते सरसा च तदा ब्रह्मानन्दं तृणं मन्ये ।।

गोवर्धनाचार्य की नायिका स्पष्टतः परकीया है, किन्तु बिहारी ने ऐसा स्पष्ट सकेत नहीं किया है। उसकी नायिका कदाचित् स्वकीया ही है क्योंकि रति का जो स्वछन्द स्वरूप दोहे में दिया गया है वह स्वकीया के पक्ष की ही अधिक पुष्टि करता है। शब्द-रणन, भाषा-सौष्ठव और अनुभावों के वर्णन से दोहाकार आर्याकार से स्पष्ट रूप में उत्कृष्ट है।

आर्यासप्तशती के पचासों पद्यों का भाव बिहारी के दोहों में किसी न किसी रूप में मिलता है विस्तारभय से सब का उद्धरण नहीं किया जा सकता।

शिव की प्राप्ति के लिये तपस्या में संलग्न पार्वती के ऊपर पड़ी वर्षा की प्रथम बूँदों के मार्ग का वर्णन करने के बहाने कालिदास ने उसके अंगों के सौन्दर्य की स्वानुरूप मार्मिक व्यंजना की है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदविन्दवः ।।[1]

प्रथम वर्षा के जलकण क्षण भर के लिये पार्वती की बरूनियों (पलकों) में रुके (इससे पलकों की सघनता प्रतीत होती है जो सौन्दर्य का चिह्न है) तत्पश्चात् अधर पर आघात करते हुए (ताडित शब्द अधरों की कोमलता का अभिव्यंजक है अधर इतने कोमल हैं कि जलकणों के गिरने से उन्हें चोट पहुँचती है) उसके उभरे उरोजों पर गिर कर चूर्णित हो गये। (उत्सेध शब्द से कुचों की उत्तुंगता तथा जलकणों के चूर्ण हो जाने से उनका काठिन्य व्यंजित है) इसके पश्चात् त्रिवलि में रुक रुक कर बढ़ते हुए वे बहुत देर पश्चात् नाभि में पहुँचे। (नाभि से निकल कर आगे बहने का उल्लेख नहीं है। इससे नाभि की गम्भीरता प्रकट होती है।)

इसी भाव को लेकर बिहारी ने वियोगिनी के अश्रुकणों का वर्णन किया है।

पलनु प्रकटि बरनीनु बढ़ि नहिं कपोल ठहरात ।
अँसुआ परि छतियाँ छिनकु छनछनाइ छिपि जात ।।

१ कुमार संभव सर्ग ५

अश्रु कणों का कपोल पर न ठहर सकना उनका पुष्ट और चिक्करण होना प्रकट करता है। किन्तु तापाधिक्य सूचित करने के लिये बिहारी ने ऊहा का आश्रय लेकर नायिका के वक्ष को जलाता हुआ तवा बना दिया है जिस पर पड़ते ही आँसू छनछनाकर छिप जाता है। इस ऊहा के कारण स्वाभाविकता समूल नष्ट हो गई और दोहे में वह मार्मिकता विकल रूप में भी न आ सकी जो कविकुलगुरु के श्लोक में है।

यह आँसुओं के विरहानल संतप्त छातियों पर गिर कर छनछनाने की कल्पना भी बिहारी की अपनी नहीं है। यह भी अमरुक के इस श्लोक के आधार पर है जिसमें कोई प्रवासी नायक अपनी वियोगिनी प्रेयसी की अवस्था की कल्पना कर रहा है—

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभिरापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः।
मन्मार्गवीक्षणनिवेशित दीनदृष्टे नूनं छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति।

अर्थात् दीन दृष्टि से मेरी बाट जोहती हुई प्रियतमा के विरहानल की महान् लपटों से तप्त, पाण्डुर कुचतट वाले हृदय पर वाष्पकण छम्छम् की ध्वनि करते हुए गिरते होंगे।

बिहारी की कुशलता इसमें है कि उन्होंने दो श्लोकों की बात एक दोहे में कहने का प्रयत्न किया और दो भिन्न देश काल की उक्तियों में ऐसा जोड़ लगाया जो दीख ही नहीं पडता। इस दोहे में मौलिकता बिलकुल न हो यह बात नहीं है। आँसुओं के छनछनाकर गिरने की बात ही अमरुक ने कही है। इसके बाद की बात "छिपि जाइ" बिहारी ने ही कही है। यह उनकी अपनी है।

सिंचन-कार्य में मल्लिकालता के हिल जाने के कारण उससे उड़कर शकुन्तला के मुख पर मण्डराते हुए भौंरे को लक्ष्य कर कालिदास ने दुष्यन्त के मुख से कहलाया है—

× × × ×

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्।
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हता बत त्वं कृती॥

अर्थात् अपसारण के लिए हाथ हिलाती हुई शकुन्तला के रति-सर्वस्व अधर का तुम पान कर रहे हो।

मधुकर ! हम तो इसी तत्त्वान्वेषण में लगे रहे कि यह सुन्दरी किस कुल और जाति में उत्पन्न हुई है, हमे ग्राह्य है अथवा नहीं ? और तुम अपना काम कर गये।

लगभग इसी भाव पर बिहारी का यह दोहा देखिये—

बेसरि मोती धनि तुही, को बूझै कुल जाति।
पीवौ करि तिय-ओठ कौ, रसु निधरक दिनराति।।

बिहारी का—'सबै सुहाये ई लगैं, बसैं सुहाए ठाम', कालिदास के—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' द्वारा ध्वनित भाव का अक्षरशः 'अभिधेय-संस्करण' ही तो है।

इसी प्रकार बिहारी का विपरीत रति का चित्र खींचने वाला दोहा—

पर्‍यौ जोरु, विपरीत रति, रुपी सुरत रनधीर।
करति कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौन मंजीर।। १२६

सुभाषितावली में संगृहीत इस श्लोक का भावानुवाद ही है—

प्रशान्ते नूपुरारावे श्रूयते मेखलाध्वनिः।
नूनं कान्ते रतिश्रान्ते कामिनी पुरुषायते।।

अर्थात् नूपुर का बजना बन्द हो गया, करधनी की ध्वनि ही सुन पड़ रही है। स्पष्ट है कि नायक रतिक्रीडा में थक चुका है और इसलिये अब नायिका पुरुषवत् रति कर रही है।

बिहारी ने "रुपी सुरत रनधीर" में रति के प्रति नायिका के जिस जोश की बात कही है वही श्लोक मे तनिक सभ्यता के साथ व्यंजित किया गया है। नायक के थक जाने पर भी नायिका नहीं थकी इसी से उसकी रति-क्षमता का अतिरेक प्रकट है और इसीलिए श्लोककार ने उसे 'कामिनी' कहा है। यह कामिनी शब्द यहाँ साभिप्राय है। उसे बदला ही नहीं जा सकता।

विहारी ने एक दोहे में सलौने रूप से आँखों की प्यास न बुझने की शिकायत की है "सगुन सलौने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ" किन्तु अमरुक-शतक में एक श्लोक में सलौने आधार का रसपान करने से प्यास के न बुझने की ही नही द्विगुणित हो जाने की शिकायत की गई है। यद्यपि बहुत से टीकाकारों ने इसे प्रक्षिप्त माना है तथापि इसमें तो सन्देह नहीं कि यह बिहारी से बहुत पहले उक्त काव्य में अपना स्थान [illegible] चुका था, सम्भव है बिहारी ने इसे देखा हो। वह श्लोक यह है—

पीतो यतः प्रभृतिकामपिपासितेन, तस्या मयाऽधररसः प्रचुरः प्रियायाः।
तृष्णा ततः प्रभृति मे द्विगुणत्वमेति लावण्यमस्ति बहु तत्र किमत्र चित्रम् ॥

अर्थात् मैंने काम पिपासा को शान्त करने के लिए प्रिया के अधर रस का बहुत पान किया किन्तु प्यास बुझने के स्थान में दुगुनी हो गई इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योकि उसमें बहुत लावण्य (सौंदर्य तथा खारापन) है न।

दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पुनर्यदिनेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथ स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥
(नैषधीय चरित सर्ग ४)

अग्नि में जलने से उत्पन्न व्यथा इतनी असह्य नहीं होती जितनी वियोग में जलने की अन्यथा प्रिय के निधन पर स्त्रियाँ अग्नि में क्यों जलतीं ?

मरन भलौ बरु बिरह तैं यह निश्चय करि जोइ। (बिहारी १४८)
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ (कालिदास, अभि० शा०)

सुन्दर आकृति वाले के लिए क्या वस्तु अलङ्कार नही बन जाती ! अर्थात् सब कुछ अलङ्कार हो जाती है।

सबै सुहाएई लसैं बसैं सुहाए ठाम। (बिहारी २७१)

जो बात कालिदास ने व्यंजना द्वारा प्रकट की है वही बिहारीं ने अभिधा से कह दी है।

महामहानील शिलारुचः पुरो निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥(माघ प्र०सर्ग)

नीलमणि की महान् शिला जैसी कान्ति वाले कृष्ण के सामने बैठे हुए नारद ने उदयाचल पर स्थित सायंकालीन चन्द्रमा की शोभा धारण की।

सोहत ओढे पीतपट स्याम सलौने गात।
मनहु नीलमणिसैल पर आतप पर्‍यौ प्रभात ॥ बिहारी
कि त्वं निगूहसे दूति ! स्तनौ वक्त्रं च पाणिना।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराः अधराः पयोधराः ॥ अज्ञात

अर्थात् हे दूति ! तू अपने कुच एवं मुख को हाथ से क्यों छिपा रही है। शूर, अधर तथा पयोधर तो खण्डित ही शोभायमान होते है। बिहारी ने यह भाव इस प्रकार प्रकट किया है—

पट के ढिग कत ढाकियत सोभित सुभग सुबेख।
हद रद-छद छवि देत यह मदरद छद की रेख ॥

श्लोक में नायिका की दूती के प्रति किन्तु दोहे में नायिका की नायक के प्रति उपालम्भोक्ति है।

पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताहूयत चन्द्रवैरिणी ।। नैषध १-१००
बन-बाटुन पिक बट-परा लखि बिरहिनु मत मैन।
कुहौ-कुहौ कहि कहि उटैं, करि-करि राते नैन ।। बिहारी ४७३
कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते।
न स विरौति न चापि विशोभते भवति योजयितुर्वचनीयता। (अज्ञात)

स्वर्ण-आभूषण में जड़े जाने योग्य मणि को यदि काँच में जड़ दिया जाये तो न तो वह बजेगी और न ही शोभायमान होगी, उलटे जड़ने वाले की निन्दा ही उससे होगी।

जो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा राइ।
प्रगटत जडता अपनिय, सु मुकुट पहिरत पाइ ।।
सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात् कथं मदः।
नाम साम्यादहो यस्य धुत्तूरोऽपि मदप्रदः ।।

बिहारी का नीचे दिया हुआ दोहा इसी श्लोक का रूपान्तर है।

कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ।
उहि खाएँ बौराइ जग इहि पाएँ बौराइ ।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्लोक की अपेक्षा दोहे का अर्थान्तर-न्यास अधिक चमत्कारी है।

प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टिस्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्गदृष्टेः।
धत्ते गृहस्तम्भनिवर्त्तितेन कम्पं यथा श्वास समीरणेन ।। विल्हण

तुम्हारे वियोग में उस मृगनयनी की शरीर लतिका इतनी कृश हो गई है कि घर के स्तम्भ से टकरा कर लौटी हुई श्वास-वायु से भी काँपने लगती है—

इत आवति चलि जाति उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं-सैं रहै, लगी उमासनु साथ ।। (बिहारी)

मम्मट द्वारा काव्य प्रकाश में उदाहृत एक श्लोक है जिसमें कृष्ण पर आसक्त कोई गोपिका कृष्ण से कह रही है—

गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते।
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।।

× × × ×

अर्थात् हे कृष्ण ! लो मै जा रही हूँ, क्या तुम्हारे दर्शनमात्र से ही तृप्ति संभव है ? (नहीं) फिर इस प्रकार हम लोगों को एकान्त में देखकर दुष्ट लोग अन्यथा आशंका करते है।

इसी भाव पर बिहारी का यह दोहा लीजिए—

झूठै ही ब्रज में लग्यौ मोहि कलङ्क गुपाल।
सपने मैं कबहू हियै लगे न तुम नन्दलाल॥

अन्तर सिर्फ इतना है कि श्लोक की प्रथम पक्ति का भाव दोहे की दूसरी मे और दूसरी का पहली में अपनाया गया है। श्लोक की नायिका ने जहाँ 'क्या दर्शन से ही तृप्ति हो जाती है ?' कह कर कृष्ण विषयक अपने रत्यभिलाष को विदग्धता से व्यंजित किया है, वहाँ दोहे की नायिका मुँहफट होकर स्वप्न में भी आलिङ्गन न करने की शिकायत कर रही है जो जरा ग्राम्य सा जँचता है।

अपभ्रंश की रचनाओं को भी बिहारी ने उलटा-पलटा था। अतः उनके भावो पर भी कुछ दोहे आधारित है यथा—

भमरा एत्थु बि लिम्बडर केवि दियहडा विलम्बु।
घणपत्तलु छाया बहुलु फुल्लहिं जाम कयम्बु॥
(ना० प्र० प० भाग २ अंक ४)

हे भ्रमर ! यहाँ नीवड़ी में कुछ दिवस ठहर जब तक, सघन पत्तों वाला छायाबहुल कदम्ब पुष्पित नहीं हो जाता।

इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाव कै मूल।
ऐहैं फेरि बसंत ऋतु इन डारनु वे फूल॥

यही भाव संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक का है—

अलिरसौ नलिनीदलवल्लभः कमलिनीदलकेलिकलारतः।
विधिवशेन विदेशमुपागतः कुटजपुष्परसं बहुमन्यते॥

अर्थात्—कमलिनियों के समूह में केलि करने वाला नलिनी प्रिय यह मधुप दुर्भाग्य से प्रवासी बन कुटज पुष्प के (कड़वे) रस से ही संतोष कर लेता है।

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधि चिन्तिज्जर माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण की जेअइ आपाणु॥ ना० प्र० प० भा०२ अंक ४

मातः ! स्वस्थावस्था में ही सुख से मान की बात सोची जा सकती है। प्रिय के दृष्टिपथ में आते ही हड़बड़ी के कारण अपनी भी चेतना नहीं रहती।

तुहूँ कहति हौ आपुही समुझति सबै समानु ।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौ मानु ।। बिहारी ४५८

सूर और तुलसी के प्रभाव से भी बिहारी अछूते नहीं है। सूर के भक्तिविषयक समान भावों के उदाहरण 'बिहारी की भक्ति भावना' शीर्षक अध्याय में दिये गये है ।

घूँघट के झीने पट में नायिका के नयन मीनो की चुलबुलाहट बिहारी ने इस प्रकार चित्रित की है—

चमचमात चञ्चल नयन, बिच घूँघट पट झीन ।
मानहु सुरसरिता बिमल जल उछरत युग मीन ।।

तुलसी ने सीता की आँखों का भी कुछ ऐसा ही वर्णन किया है—

रामहिं चितइ चितइ महि, राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीनयुग, जनु बिधुमण्डल डोल ।

अन्य उदाहरण लीजिये—

माला फेरत युग गया गया न मन का फेर ।
करका 'मनका छाँड़ि कै मनका मनका फेर ।। (कबीर)
जपमाला छापै तिलक सरै न एकौ काम ।
मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम ।।" (बिहारी)
जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरपत भेल । (विद्यापति)
त्यौ त्यौ प्यासेई रहत ज्यों ज्यौं पियत अघाइ ।।
सगुन सलोने रूप की जुन चखतृषा बुझाइ ।। (बिहारी)
प्रेम छिपाया ना छिपै जा घट परगत होय ।
जो पै मुख बोलत नहीं नैन देत हैं रोय ।। (कबीर)
प्रेम अडोल डुलै नहीं मुहुँ बोले अनखाइ ।
चित उनकी मूरति बसी चितवन माँहि लखाइ ।। (बिहारी)
मोको एता दीजिये जामें कुटुम समाय ।
आपु न भूखा मैं रहूँ साधु न भूखा जाय ।। (कबीर)
तौ अनेक औगुन भरिहि चाहे याहि बलाइ ।
जौ पति सम्पतिहू बिना जदुपति राखे जाइ ।। (बिहारी)

सूरदास के पदों से भी मिलते जुलते अनेक दोहे बिहारी-सतसई में मिलते है। जिनका उल्लेख उनकी भक्ति भावना पर प्रकाश डालते समय यथास्थान किया जायेगा ।

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तुहि पाहीं, जानु प्रेमरस एतनेहि माहीं ।। (तुलसी)

कागद पर लिखत न बनत कहत संदेस लजात।
कहिहै सबु तेरो हियौ मेरे जिय की बात ।। (बिहारी)
किधौ गोद चन्दजू के खेले सुत चन्द को। (केशव)

तिय मुख लखि हीराजरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत सनेह मानहुँ लियौ विधु-पूरन बुध गोद ।। (बिहारी)

फूलि फूलि भेटति है मोहि कहा मेरी भट्ट।
भेटे किन जाइ वै जु भेटिवे को ठाढे है ।। (केशव)

वे ठाढे उमदाहु उत जल न बुझै बडवागि।
जा ही सौ लाग्यौ हियो ताही के हिय लागि ।। (बिहारी)
"नहि कलि कर्म न भक्ति विवेकू।
राम नाम अवलबन एकू ।। (तुलसी)

यह बिरिया नहि और की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि ।। (बिहारी)
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति (अज्ञात)
ज्यौ त्यौ सब कौं सेइबौ एकै नन्द किसोर (बिहारी)
"औरन के धन-धाम सदा तुलसी घर राम के नाम खजाना" (तुलसी)

कोऊ कोरिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा विपति बिदारन हार। (बिहारी)

तौ वलियै भलियैं बनी नागर नन्द किसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ मो करनी की ओर (बिहारी)
जो करनी समुझ प्रभु मोरी, नहि निस्तार कल्पशत कोरी (तुलसी)

शृङ्गारिक मुक्तकों की जो परम्परा प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश काव्य-धाराओं में अक्षुण्ण रूप से चली आ रही थी वह हिन्दी में भी बिहारी से बहुत पहले प्रतिष्ठित हो चुकी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार की अनेक प्रारम्भिक रचनाओं के नष्ट हो जाने पर भी प्रमाणस्वरूप कतिपय रचनाय आज भी उपलब्ध हैं। कृपाराम की हित-तरङ्गिणी और रहीम के बरवै-नायिका-भेद, नगर शोभा तथा रहीम-दोहावली इसी प्रकार की कृतियाँ हैं।

कृपाराम ने अपनी हित तरङ्गिणी में, जो ईसा की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी गई थी, लिखा है :—

बरनत कवि सिगार रस छंद बड़े विस्तारि ।
मैं बरन्यौ दोहान बिच यातें सुघर विचारि ।। (हिततरंगिणी–४)

शृंगार-रस के बड़े छन्दों में रचित जिन ग्रन्थों का उल्लेख इस दोहे में हुआ है वे कालगतिवश आज उपलब्ध नहीं है। बड़े छन्दों वाली पद्धति चारणों की कवित्त-सवैया वाली पद्धति है। स्वयं पृथ्वीराजरासों में भी छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग शृंगार-वर्णन में किया गया है। कृपाराम ने शृंगार-वर्णन के लिये दोहा छन्द को अपनाया किन्तु इसका अर्थ यह नही कि इसके पूर्व इस प्रकार की रचनाएँ 'दोहा' में होती ही नहीं थीं फिर भी उसका प्रचार अपेक्षाकृत कम अवश्य रहा होगा। रीतियुग में भी कवित्त-सवैया-पद्धति का भी प्रचलन कुछ कम न था। रहीम दोहे की समाहार शक्ति की प्रशंसा करते है।

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहि ।
ज्यौं रहीम नट कुण्डली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं । (रहीम दो० ६६)

रूप कथा पद चारु पट कंचन 'दोहा' लाल ।
ज्यौं ज्यौं निरखत सूक्ष्म गति, मोल रहीम विसाल ।। (वही, २४१)

तुलसी ने भी दोहा को मणिमय दीप बताया है:—

मनिमय दोहा दीप जहँ उरघर करैं प्रकास ।

ये सब उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि बिहारी के दोहे ही दोहो की शृंगारिक शाखा के मूल नही हैं और उनसे पहले भी इस कोटि की रचनाएँ मौजूद थीं।

बिहारी के ऊपर इन रचनाओं का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। भाव, भाषा और शैली तीनों की ही दृष्टि से—

खेलति चोर मिहीचनी, निजु सखि डीठि बनाइ ।
स्याम दुरे तिहि कोन में, दुरत लए उर लाइ ।
(हित तरङ्गिणी पृष्ठ १६)

दोऊ चोर मिहीचनी खेलु न खेलि अघात ।
दुरै हियैं लपटाइ कै, छुवत हियै लपटात । (बिहारी ५३०)

मोहि रुचै सोई करै अति उदार प्यौ जान ।
मो मन साध रहै सदा, करौं कौन विधि मान ।। (हित तरंगिणी)

करत नही अपरधवा सपनेहुँ पीव ।
मान करै की सधवा, रहि गइ जीव ।। (रहीम बरवै-नायिकाभेद, ६६)

राति द्यौस हौंसै रहै मानु न ठिकु ठहराइ ।
जेतौ औगुन ढूँढियै, गुनै हाथ परि जाइ ।। (बिहारी–४५३)

बिहारी के समकालीन और परवर्ती कवि बिहारी से प्रभावित हैं—

कहूं बनमाल कहूँ गुंजन की माल कहूँ
संग सखा ग्वाल ऐसे हाल भूलि गये हैं।
कहूँ मोर चन्द्रिका कहूँ लकुट पीतपट
मुरली मुकुट कहूँ न्यारे डार दए है।
कुण्डल अडोल कहूँ सुन्दर न बौले बोल,
लोचन अलोल मानो कहूँ हर लये हैं।
घूँघट की ओट ह्वै के चितयौ कि चौट करी,
लालन तौ लोट पोट तबही ते भये है ।। (सुन्दरदास)

कहा लडैते दृग करे परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल ।। (बिहारी)

लटकी लट ,वा लटकीलीते और
गई बढि कै छबि आनन की यों ।
आँकु बढै दिये दूजी बिकारी के,
मुहरैं होति रुपैयन की ज्यौ ।। (सुन्दरदास)

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढिगौ इतो उदोत ।
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत ।। (बिहारी)

कहै कवि तोष जिय जानि दुखकाती तातै ।
छाती की तबीज पियपाती को किये रहैं । (तोषनिधि)

माथे लै चढाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि,
छाती लपटाई राखी पाती प्रानपति की ।। (सेनापति)

कर लै चूमि चढाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति धरति समेटि ।। (बिहारी)

जोन्ह ते खाली छपाकर भो छन में छनदा अब चाहति चाली ।
कूजि उठी चटकाली चहुँ दिसि फैलि गई नभ ऊपर लाली ।।
साली मनोजविथा उरमें निपटै निठुराई धरे बनमाली ।
आली कहा कहिये कहि तोष कहूँ प्रिय प्रीति नई प्रतिपाली ।।(तोष०)

नभलाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न ।। (बिहारी)

रावरी तिमहले की बैठी छविवारी बाल,
देखति तमासौ गुटि अलिन लगायौ है।
परि गये नजर हरिन नैनी जू के हरि,
हरिहू ने तिरछि कटाछनि चलायौ है।
मैन-सरवारी तरफरी गिरी परी ऐसी,
बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायौ है ॥ (तोष०)

हेरि हिंडौरे गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूटि ॥ (बिहारी)

इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि बिहारी ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियो के काव्य का गहन अध्ययन किया था और यत्र-तत्र उनके भावों को भी अपनाया है। इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित होगा कि उनकी ये रचनाएँ कोरी नकल है और इनमें कोई मौलिकता नहीं है। वास्तव में मौलिकता का प्रश्न भाव और विषय से इतना सम्बद्ध नहीं है जितना अभिव्यक्ति से। एक ही भाव की अभिव्यक्ति विभिन्न कवि अपने-अपने ढँग से करते हैं और सच्चे कवियों की ये रचनाएँ अपनी अलग विशेपता रखती हैं, यही उनकी मौलिकता है। भाव साम्य तो कभी-कभी प्रभावजन्य न होकर आकस्मिक भी हुआ करता है। बिहारी का एक दोहा लीजिये :—

चितुवितु वचत न हरत हठि, लालन दृग बरजोर।
सावधान के बटपरा ए जागत के चोर।

इससे मिलना जुलता भाव शेक्सपियर की पोर्शिया के बसेनियों के प्रति कहे गए इस कथन में हैं :—

Beshrew your eyes,
They have over looked and divided me;
One half of me is yours, the other half yours—
Mine am, I would say; but if mine, then yours,
And so all yours.

"रही लट्टू ह्वै लाल हौ लखि वह बाल अनूप।" (बिहारी) को बर्न्स की इस पंक्ति के साथ रखकर पढ़िये :—

To see her is to love her,
An' love her but for ever.

स्पष्ट है कि यह भाव-साम्य सांयोगिक है न बिहारी ने शेक्सपियर और बर्न्स को पढ़ा और न इन्होने बिहारी को।

सारांश यह कि बिहारी ने पूर्व कवियो के भावों को अपनाया तो है पर अभिव्यक्ति उनकी अपनी है। इसीलिये कही वे मूल से बाजी ले गए है तो कहीं पीछे रह गए हैं। जितने औत्सुक्य के साथ बिहारी पूर्ववर्त्ती कवियों से प्रभावित हुए हैं, उससे कहीं अधिक दबदबे के साथ उन्होंने अपने परवर्त्ती कवियों को प्रभावित भी किया है जिसका विस्तृत विवेचन यथा-स्थान किया जायेगा।

फारसी कवियों का प्रभाव

बिहारी पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव पर विचार करते समय यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या उनपर फारसी कवियो का भी कोई प्रभाव है ? जब दो विभिन्न जातियाँ एक सामान्य समाज बनाकर रहती है तो उनका पारस्परिक आदान-प्रदान भी होता है जो स्थूल वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहता। उनके रहने-सहने, सोचने-विचारने पर भी इसका प्रभाव पड़ता है जो आगे चलकर रुचि-अरुचि को भी प्रभावित कर देता है। यदि वे जातियाँ सभ्य हुईं, उनका साहित्य वैभवपूर्ण हुआ तो यह प्रभाव अपेक्षाकृत कुछ तीव्रगति से अस्तित्व में आता दिखाई पड़ता है। यह एक प्रकार का प्राकृतिक विकास होता है जिसे रोकने की शक्ति अप्राकृतिक तत्वों में कहाँ से हो सकती है ? इसलिये यह मानने की बात है कि विदेशी साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा—मुसलमानी साहित्य का भी और आङ्गल साहित्य का भी।

भारतवर्ष में अपना साम्राज्य स्थापित कर लेने के पश्चात् मुसलमान शासकों ने यहाँ समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया किन्तु इन लोगों की राजनीति पर धार्मिक आचार्यो का अधिक प्रभाव होने के कारण ये उस कार्य का निर्वाह उस रूप में न कर सके जिस रूप में उदारप्रकृति सूफी महात्माओं के द्वारा हुआ। उन्होंने धर्म के बाह्य स्वरूप को प्रधानता न देकर मानव के अन्तस् को देखा विभिन्न धर्मो के मूल तत्वों में उन्हे एकता दीख पड़ी और उन्होंने राम-रहीम की एकता का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक सूफी कवियों ने हिन्दुओं के रीति-रिवाजों को समझा और इस अर्जित ज्ञान के आधार पर अनेक हिन्दू-कथानकों को काव्य का स्वरूप दिया जिसमें फारसी काल की शैली का भी पुट यत्र तत्र मिलता है। फारसी की मसनवी शैली पर लिखी हुई जायसी की पद्मावत इसका प्रमुख उदारण है। इस्लाम एक निर्गुण अल्लाह में विश्वास रखता है, भारतीय दर्शन में भी निर्गुण-स्वरूप को ही प्रधानता मिली है। इधर सूफी-साधना में प्रेमतत्व का अत्यन्त उत्कर्ष दीख पड़ता है और हमारे यहाँ

की रागानुगा भक्ति में भी यही तत्व प्रधान है। भक्त लोग भक्ति के मार्ग को ही राजपथ समझते थे और ज्ञान की अपेक्षा प्रेम मार्ग को अधिक सुगम मानते थे। भारतीय-भक्ति और सूफ़ी-साधना में प्रेम का यह सामान्य तत्व दोनों के बीच की मजबूत कड़ी के रूप में सामने आया। यह कहना कि कृष्णभक्त हिन्दी कवियों ने प्रेम की तीव्रता का भाव सूफ़ी कवियों से ग्रहण किया सर्वथा असङ्गत न होते हुए भी विचारणीय अवश्य है क्योंकि इससे पूर्व हमारे यहाँ रागानुगा-भक्ति का शास्त्रीय विवेचन हो चुका था। यदि सूफियों का सम्पर्क न भी हुआ होता तो भी साधना की यह पद्धति बहुत कुछ अपने इसी रूप में विकसित हुई होती। इस मत को भी सहसा ठुकराया नहीं जा सकता। कुछ भी हो प्रेम की इस तीव्रता को अभिव्यक्त करने की पद्धति पर मुसलमानी प्रभाव अवश्य पड़ा। फारसी साहित्य में प्रेम की पीर अभिव्यञ्जित करने के लिये ख़ून खञ्जर और आग-धुँए का उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। यों तो भारतीय वियोग में भी 'ताप' का मान बहुत ऊँचा पाया जाता है किन्तु प्रेम के पवित्र क्षेत्र में मार-काट और ख़ून-ख़च्चर के बीभत्स दृश्यों का स्वागत यहाँ नहीं हुआ, भारतीय आचार्य और कवि उनसे कतराते ही रहे और उन्हें शृङ्गाररस विरुद्ध मानते रहे; किन्तु विदेशी साहित्य में कलेजे का फटना, जिगर का चाक होना, सिर का उतरना आदि व्यापार यदि शृङ्गार के क्षेत्र में न चलें तो उसमें कुछ चहल-पहल ही नहीं दिखाई पड़ती। यह बात नहीं है कि जिस अनुभूति से प्रेरित होकर विदेशी कवि ने अभिव्यक्ति का यह साधन आत्मसात् किया, वह भारतीय कवि के हृदय में नहीं थी। विप्रलम्भ की 'मरण' दशा को उन्होंने भी मान्यता दी है, पर वे ढोल बजाकर 'मरण' की अपेक्षा मौन 'मरण' का वरण करना उपयुक्त समझते थे अतः उन्होंने इसका वर्णन अभिधा से नहीं किया व्यञ्जना से किया है। दूसरे भारतीय 'मरण' में प्रेमपात्र के प्रति शिकवा शिकायत की भावना उतनी नहीं होती जितनी वियोग की सान्द्र अनुभूति। हृदय के फटने की बात भी यहाँ के कवियों को सूझी थी और उसका उल्लेख भी उन्होंने जगह-जगह किया है। उदाहरण के लिये करुणरस के सिद्ध कवि भवभूति की ही यह पंक्ति ले लीजिये :—"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" यही नहीं हृदय के सौ टुकड़े होने का भी वर्णन मिलेगा :—

'न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्' (अमरुक, ४३)

अन्तर केवल इतना है कि इस हृदय के फटने पर ख़ून की धारा नहीं बहती, भावों की धारा बहती है क्योंकि यह शत प्रतिशत भावमय होने पर

ही फटता है और आँखों के सामने बीभत्स दृश्य उपस्थित नही करता जैसा जायसी की इस पंक्ति में :—

'भूज सरागन्हि वह नित माँसू ।'

या मीरा की यह उक्ति :—

काटि कलेजो मै धरूँ रे, कौवा तू ले जाइ ।
ज्याँ देसाँ म्हाँरो पीव वसै, वे देखै तू खाइ ।। (मीरा मंदाकिनी १-५९)

यह सब विदेशी प्रभाव के कारण ही हिन्दी में हुआ । हम कह चुके है कि संस्कृत कवियों ने इस प्रवृत्ति का स्वागत नही किया, यद्यपि प्रयत्न करने से संस्कृत साहित्य मे से भी इसी कोटि के २–४ उदाहरण जुटा लेना असम्भव नहीं होगा, जैसा कि नैषध चरित के इस श्लोक से ज्ञात होता है :—

स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् । (१-८४)

अर्थात् नल ने वियोगियों का माँस (पल) खाने के कारण सार्थक नाम (पल=मांस, +अश्=खाना) वाले एवं कामदेव के अर्धचन्द्राकार फलक वाले वाणसदृश पलाश पुष्प के वृन्त को देखा जो (काला होने के कारण) ऐसा प्रतीत होता था मानों वियोगियों के दक्षिण पसली में स्थित कृष्णवर्ण माँस (कालखण्डज) से युक्त हो । किन्तु इस प्रकार के उदाहरण संस्कृत साहित्य में खोजने पर ही २–४ मिल सकते हैं, अतः एव हिन्दी कवियों की इस प्रकार की उक्तियों का कारण इनका प्रभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रभाव प्रधान वस्तु का हुआ करता है ऐसी वस्तु का जो सिर उठाकर अपने अस्तित्व की सूचना बार-बार दिया करती है और कहना न होगा फारसी साहित्य में इस प्रकार की उक्तियों की ऐसी ही स्थिति है ।

विरह-वेदना की तीव्रता को अभिव्यक्त करने का यह विदेशी ढँग सूफ़ी कवियों द्वारा हिन्दी-साहित्य में पदार्पण कर गया और निर्गुण कवियों पर ही इसका विशेष प्रभाव पडा । इसी के कारण कबीर ने प्रेम के घर मे सिर काट कर पृथ्वी पर रखने के पश्चात् ही प्रवेश सम्भव बताया है ।[१] निर्गुण उपासकों पर ही नहीं सगुणोपासक कवियों पर भी यह प्रभाव लक्षित होता है । मीरा का कौवे को कलेजा निकाल कर देना और उसे प्रियतम के समक्ष बैठकर खाने के लिये कहना, इसका प्रमाण है । मुसलमान कवियों पर

---

१ यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं ।
सीस चढ़ावै भुइँ धरै; तब पैठे घर माहिं ।।

इसका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हुआ और यह स्वाभाविक ही था क्योंकि हिन्दी के साथ साथ वे फारसी के भी विद्वान् होते थे और प्रायः फारसी में भी रचनाएँ करते थे, दोनों प्रकार की रचनाओं को एक दूसरे साहित्य के प्रभाव से अछूता रख सकना न तो संभव ही था और न स्वाभाविक ही। रहीम की यौवनमत्ता नायिका का विनिमय-व्यापार देखिये—

जुकिहारी जोवन लिए, हाथ फिरै रस हेत।
आपुन माँस चखाइ कै, रकत आन का लेत॥[1]

प्रेम-निर्वाह की कठिनता को लक्ष्य करके रसखान भी उसे फाँसी, तीर, तलवार आदि के उल्लेख द्वारा पुष्ट करते हुए जान की बाजी बताकर इस प्रभाव का परिचय देते हैं—

कोउ याहि फाँसी कहत, कोउ कहत तरवारि।
नेजा, भाला, तीर, कोउ, कहत अनोखी ढारि।
पै एतो हू हम सुन्यौ प्रेम अजूबौ खेल।
जाँबाजी बाजी यहाँ, दिल का दिल से मेल॥[2]

सगुणोपासक भक्तों में इस प्रवृत्ति का दर्शन प्रायः नहीं होता। ऊपर मीरा का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उस कोटि की रचनाएँ इन कवियों की रचनाओं में नहीं के बराबर हैं। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार इसका कारण यह है कि "सगुणोपासक भक्तों को प्रेम के लिए एक आलम्बन मिल गया था, इसलिए उनकी जुगुप्सावाली प्रवृत्ति कम होने लगी क्योंकि वे रूप पर मुग्ध होने लगे और सौन्दर्य की भावना के मेल में जुगुप्सा का नाम लेना स्वभाव से बुरा जान पड़ता है। यहाँ तक कि आगे चल कर जब मुसलमान भी भगवान् के स्वरूप पर मुग्ध हुए, तो उनमें भी वह प्रवृत्ति न रही पर उसके अवशेष उनकी कविता मे मिलते ही है"[3] जैसाकि रहीम और रसखान की उल्लिखित कविताओ से स्पष्ट है। यह तर्क बहुत दूर तक जाता हुआ नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'नागरीदास' आदि सगुणोपासक कवियों की रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति पर्याप्त उत्कर्ष के साथ प्रतिबिम्बित हुई है।

यह सत्य है कि इन कवियों का भगवल्लीला-गान 'सूर' आदि की रचनाओं की भाँति गम्भीर नहीं है किन्तु इनके सगुण-भक्त[4] होने में भी कोई

---

१ रहीम रत्नावली पृष्ठ २५

२ प्रेम वाटिका

३ श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी की वाग्विभूति, 'बाहरी प्रभाव' शीर्षक अध्याय।

४ बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ३५

सन्देह नही है । प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना का प्रयत्न इन्होने भी किया है यह कहा जा सकता है कि इनके प्रेम में 'अष्ट-छाप' के कवियों की अगाध गम्भीरता के स्थान में प्रसार ही अधिक पाया जाता है और इसीलिये इन्होंने प्रेम की नाप-जोख के लिए फारसी पद्धति के मानदण्डों का प्रयोग किया है। किन्तु 'मीरा' में जो यह प्रवृत्ति यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है उसका समाधान क्या होगा ? मीरा के पदों में प्रेम की गहनता एवं तल्लीनता का जो स्वरूप मिलता है बह सूर के पदों से कम नही है। हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रवृत्ति का कोई सैद्धान्तिक कारण नही था अपितु वैयक्तिक-रुचि-अरुचि ही इसके मूल में कार्य करती थी। कवि की अभिव्यंजना शैली पर वैयक्तिक रुचि का बड़ा भारी प्रभाव होता है। आधुनिक युग में प्रसाद जैसे कवियो की रचनाओं में उर्दू के एक भी शब्द का न मिलना वैयक्तिक रुचि का ही द्योतक है। हाँ, यह व्यक्तिगत रुचि भी वातावरण से किन्हीं अंशों मे प्रभावित हो सकती है।

हिन्दी के रीतिमुक्त कवियों, जिनमें रसखान, घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि का स्थान प्रमुख है, प्रेम का जो अनूठा रूप मिलता है उसका कारण मिश्र जी ने विदेशी वेदना को ही माना है। उनके अनुसार "इस प्रकार के कवियों की कविता में प्रियतमा से मिलने के लिए पर्वत, नदी, नाले लाँघना, उसकी गली में फेरी लगाना, भाले, तलवार की चोट से हरदम छटपटाया करना, प्रेम का पिशाच लगना, मरने से कम की चर्चा ही न करना, आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं जो विदेशी रंग-ढंग से परिपूर्ण हैं।" किन्तु यह सब शतप्रतिशत विदेशी वस्तु ही है यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है। क्या भारतीय प्रेम के क्षेत्र में प्रसार है ही नहीं ? यदि तुलसी की विराग-प्रवृत्ति वाली जन-श्रुति सत्य है (और विद्वान् उसे सत्य ही मानते है, तो प्रेमी का नदी-नाले लाँघना भारत में उतना ही सत्य है जितना फारसी साहित्य में) प्रेमपात्र की गली में चक्कर लगाने की बात भी सर्वथा विदेशी नहीं है। हमारे आलोच्य कवि अमरुक ने भी ऐसी ही बात कही है—

चक्षुःप्रीतिप्रसक्ते मनसि परिचये चिन्त्यमानाभ्युपाये।
रागे यातेऽतिभूमिं विकसति सुतरां गोचरे दूतिकायाः।
आस्तां दूरेण तावत्सरभसदयितालिङ्गनान्दलाभः।
तद्गेहोपान्तरथ्याभ्रमणमपि परां निर्वृतिं तनोति। (अमरुकशतक १००)

अर्थात्— चित्त में परिचय दृग में राग,
विचारों में नव-मिलन-उपाय।
प्रीति का प्रतिपल परम विकास,
दूतिका के गोचर असहाय।

दूर की बात रहा सुन सके !
प्रिया का आलिङ्गन स्वच्छन्द,
गली में उसके घर के पास,
घूमने में भी परमानन्द ।

प्रेम मानव-हृदय की सामान्य वृत्ति है, अतः उसकी अभिव्यक्ति में यदि विभिन्न भाषाओं के साहित्य में एकत्व की प्रतीति यत्र तत्र हो तो वह आकस्मिक भी हो सकती है, सर्वत्र और सर्वदा पारस्परिक प्रभावजन्य ही नहीं। उक्त श्लोक इसका प्रमाण है। इसे प्रक्षिप्त कह कर भी नहीं ठुकराया जा सकता क्योंकि अमरूकशतक की सभी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में यह मिलता है और सभी टीकाकारों ने इसकी व्याख्या की है किन्तु यह एकाकी उदाहरण देकर हमारा आशय यह सिद्ध करने का नहीं है कि संस्कृत साहित्य में ऐसी उक्तियों का फारसी साहित्य के सदृश ही बाहुल्य है अथवा हिन्दी में जो इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रचार हुआ वह सीधा संस्कृत से आया। हमारा अभिप्राय केवल यही है कि कितनी ही बातें जो पूर्णतया विदेशी ही समझी जाती हैं हमारे अपने साहित्य में भी—बहुत ही कम अनुपात में सही—मौजूद हैं। फिर भी हम यह मानते हैं कि मध्यकालीन हिन्दी-कवियों ने यह प्रवृत्ति अधिकांशतः फारसी साहित्य से ग्रहण की क्योंकि आकस्मिक साम्य अथवा संस्कृत-साहित्य के एतद्विषयक गिने-चुने उद्धरणों का प्रभाव इतना हो ही नहीं सकता था।

रीतिकालीन कवियों पर यह बाह्य प्रभाव दो रूपों में पड़ा—कल्पना के अतिरञ्जन अथवा ऊहा के रूप में और भाषा-शैली की चटपटाहट के रूप में। फिर प्रभाव के ये दोनों पक्ष भी विभिन्न कवियों की रचनाओं में दो भिन्न स्वरूपों में काम करते परिलक्षित होते है। कुछ कवियों ने इसको ज्यों का त्यों ग्रहण किया किन्तु कुछ ने भारतीय परम्परा के रँग में रँगकर समन्वय कर लिया जिसके कारण उनकी कृतियों में यह अलग से सिर उठाकर चलता हुआ प्रतीत नहीं होता, वह घुल-मिलकर एक हो गया है। इस दृष्टि से बिहारी दूसरी कोटि में आते हैं और रसनिधि आदि पहली में।

फारसी काव्य में विरह-उक्तियों पर कल्पना का गहरा रँग चढ़ाकर चाकचक्य उत्पन्न करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है और इस चमत्कृति में ही उनकी वाहवाही निहित है। ऊहात्मक उक्तियाँ संस्कृत साहित्य में भी मिलती हैं। अमरुक का "प्रस्थानं वलयैः' वाला श्लोक ही ले लीजिये जिसमें पति के परदेश जाने के निश्चयमात्र से ही नायिका इतनी

कृश हो जाती है कि हाथो के वलय खिसकने लगते है। फिर भी इन उक्तियों मे ऊहा का ऐसा मजाक नही बन पाया है जैसा किसी उर्दू शायर की उस उक्ति में जिसमें आशिक महोदय खुर्दबीन से ही देखे जा सकते है। उन्हें बिस्तर पर तलाश करने के लिये बिस्तर झाड़ना जरूरी हो उठता है।[1] बिहारी ने इस बाहरी परम्परा को भारतीय रूप देने का प्रयत्न किया है और वे बहुत कुछ सफल भी हुए है फिर भी इस परिवर्तित परम्परा के मूल संस्कार लोगों की दृष्टि से छुपे नही रह सके इसलिये ऐसी उक्तियों के लिये बिहारी की आलोचना भी कम नही हुई उदाहरण के लिये साँस के इस हिंडोले को लीजिये—

इत आवत चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सै रहै, लगी उसासनु साथ[2] ॥

कृशता के कारण श्वास-वायु के दबाव से डगमगा उठने की बात भारतीय साहित्य में भी मिलती है जैसे पीछे विक्रमाङ्कदेव चरित से उद्धृत श्लोक में वियोग-कृश नायिका घर के खम्भे से टकरा कर लौटी हुई अपने श्वाँस से ही हिलती दिखाई गई है, पर यह झूला झूलने वाली बात कहीं नहीं मिलती। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस उक्ति में बिहारी ने विदेशी रंग-ढंग को भारतीय पद्धति के भीतर देखने का प्रयत्न किया है जैसा कि मिश्रजी मानते हैं, या कृशता के कारण निःश्वासवायुजन्य भारतीय कम्पन को ही फारसी रंग में रंग कर झूला बना दिया है ? हमें तो दूसरी बात अधिक संभव मालूम होती है।

रूप के ठग की यह बटमारी और कज्जाकी बाह्य प्रभाव के ही कारण हैं।

डारे ठोड़ी गाड़, गहि, नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूप ठग हाँसी-फाँसी डारि ॥१७॥

इस बटमारी की फरियाद करें भी तो कहाँ करें प्रेम की नगरी में तो कुछ सुनाई होती नही।

प्रेम की यह अँधेर नगरी भी भारतीय वस्तु नहीं है—

छुटत स पैयतु छिनक बसि नेह नगर यह चाल।
मारयौ फिरि फिरि मारिये, खूनी फिरै खुस्याल ॥ (बिहारी ३२५)

१ इन्तहाये लागरी से जब नजर आया न मैं।
हँस के वे कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिये ॥

२ बिहारी ३१७।

प्रेम जगत् के ऐसे अन्धेर को देखकर लोगों का सशंक होना उचित ही है—

निरदय नेहु नयौ निरखि, भयौ जगत् भयभीत।
यह न कहूँ अवलौ सुनी, मरि मारिये जु मीतु। (वही ३७०)

फिर भी गनीमत है कि मारकाट की सूचनामात्र इन उक्तियों में है उसके भीषण व्यापारों का चित्रण नही।

भारतीय-प्रेम क्षेत्र में उपालम्भ देने के अन्य ही ढँग हैं। विरहजन्य कृशता का वर्णन यहाँ भी होता है किन्तु उसमें आश्रय की मनोदशा की ही अधिकाधिक अभिव्यक्ति करने की भावना प्राय: रहती है। बिहारी का यह मौत का चश्मा जो कृश विरहियों को तलाश करने का अमोघ यन्त्र है, सवा सोलह आने विदेशी है—

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीच।
दीनैं हू चश्मा चखन, चाहै लहै न मीच॥ (बिहारी १२४)

और इसी प्रकार यह मौत के शिकरे की झपट भी—

नित संसौ हंसौ बचतु, मनौ सु यहि अनुमानु।
बिरह-अगिनि-लपटनु सकतु, झपटि न मीचु सिचानु॥१२४॥

विरह के ताप का ऊहात्मक वर्णन जिसमें जाड़े की रात में कपड़ों को भिगोकर विविध शीतल उपचारों का अवलम्ब लेकर सखियाँ साहस के साथ ही विरहिणी के पास जा पाती हैं, गुलाब जल की भरी हुई शीशी नायिका पर उँडेलते पर जल का वीच में ही सूख जाना, आँसुओं का वियोग से तपते हुये वक्ष पर गिर कर छनछनाकर छिप जाना आदि वर्णित हैं; विदेशी प्रभाव को ही द्योतित करता है किन्तु भारतीय पद्धति से दूर नहीं है। उदाहरण के लिये अमरुक का पीछे उद्धृत यह श्लोक लीजिये—

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभिरापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियाया:।
मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टेर्नूनं छमच्छमिति वाष्पकणा: पतन्ति॥

और यह पतङ्गबाजी तथा कबूतरबाजी तो विदेशी है ही—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥
ऊचै चितै सराहियतु, गिरह कबूतर लेतु।
झलकति दृग पुलकित बदन, तनमुलकित किहिं हेतु॥ (३७२-७३)

यहाँ यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि यद्यपि पतङ्गबाजी और कबूतरबाजी मनोरंजन के विदेशी साधन हैं फिर भी इन उक्तियों में प्रिय की

सम्बन्ध-भावना से आर्द्र हृदय की दशा अभिव्यक्त है जिसका भारतीय दृष्टि-कोण से बड़ा महत्त्व है। प्रियतम की वस्तु से प्रेम होना स्वाभाविक है। प्रिय की उड़ती हुई पतंग की छाया के पीछे पागल होकर भागना अस्वाभाविक लगता हो पर उसके कलाबाज कबूतर की उडान देखकर पुलकित होना स्वाभाविक ही है। सौन्दर्य के जिस नशे का वर्णन बिहारी के निम्नलिखित दोहों में है वह विदेशी नशा होता हुआ भी भारतीय रूप-गर्व से बहुत दूर नहीं पड़ता—

तजी संक सकुचति न चित, बोलत वाक कुबकु।
दिन-छिनदा छाकी रहति, छुटत न छिन छबि-छाकु। (२१८)
डर न टरै, नीद न परै, हरै न काल विपाकु।
छिनक छाकि उछकै न फिरि खरौ विषम छबि छाकु॥ (३१८)

और यह नाजुकी—

भूषन भारु सँभारि है, क्यौ इहि तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परै, सोभा ही कैं भार॥ (३२२)

अलकभार से पसीने-पसीने हो जाने वाली शायराना नाजुकी से कुछ कम नहीं है किन्तु उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य भी ऐसी उक्तियों से भरा पड़ा है। अतः यह उससे अलग की वस्तु नहीं प्रतीत होती। विकट-नितम्बा का यह श्लोक लीजिये—

अय्ययि साहसकारिणि ? किं तव चंक्रमणेन।
टसदिति भंगमवाप्स्यसि कुचयुगभारभरेण॥

नायिका की सखी उससे कहती है कि घूम घूम कर चक्कर काटने का दुस्साहस क्यों कर रही हो ? देखो कुचों के भार से तुम्हारी कटि कहीं टस् से न टूट जाय।

इसी प्रकार एक अन्य कवि का भी ध्यान ब्रह्मा की इस जबर्दस्त भूल की ओर गया है—

अहो प्रमादी भगवान् प्रजापतिः
कृशातिमध्या घटिता मृगेक्षणा।
यदि प्रमादादनिलेन भज्यते
कथं पुनःशक्ष्यति कर्त्तुमीदृशम्।

अर्थात् आश्चर्य होता है ब्रह्मा जी की लापरवाही पर कि मृगनयनी की कटि इतनी कृश बनाई ! (ईश्वर न करे) कहीं वायु से टूट गई तो फिर बूढ़े प्रजापति ऐसी बना भी न पायेंगे।

मिश्रजी के अनुसार फ़ोटो का यह बखेड़ा भी विदेशी ही है—

लिखन बैठ जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ।।

किन्तु तनिक विचार करने पर और अपने प्राचीन साहित्य को विहंगम दृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चित्र-दर्शन को आचार्यों ने विरह व्यथित मन के बहलाने का साधन मान कर स्वीकार किया है। कवि-गण सदा से ही अपनी कृतियों में चित्र-दर्शन की घटना का समावेश करता भी आया है। ललित नायक का तो चित्रकला में (जो ६४ कलाओं में ही परिगणित है) निपुण होना आवश्यक ही था। मेघदूत का यक्ष अभिज्ञान-शाकुन्तल का दुष्यन्त, रत्नावली का उदयन आदि सब अपनी प्रेयसी का चित्र स्वयं खींचकर दर्शन-लालसा को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इन नायकों की लालसा-पूर्ति में प्रायः बाधा पड़ती दिखाई गई है। कालिदास का यक्ष जब पर्वत की किसी समतल चट्टान पर गेरू आदि से अपनी प्रणयकुपिता प्रेयसी का चित्र खीच कर उसके प्रासादन में रत होता है तो आँखों में आँसू आ जाने के कारण वह चित्रिता भी नहीं दीख पाती, इसलिए वह विधि को 'क्रूर' बताता हुआ कोसता है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम् ।
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ।
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ।।

कालिदास ने बिधि को क्रूर बताया है पर बिहारी के चितेरे स्वयं क्रूर बन गये। वे अद्भुत सौंदर्य को निहार कर सब कुछ भूल गये या क्षणे क्षणे नवता को प्राप्त होता हुआ वयः सन्धि-सौंदर्य चित्र में चित्रित कर के ज्यों ही देखा तब तक वह बहुत बढ़ चुका था।

संयोग में चित्र खींचने या देखने की बात चाहे भारतीय साहित्य में नहीं पाई जाती हो पर वियोग दशा में उसका प्रचुर वर्णन है, हो सकता है बिहारी ने इसे थोड़ा सा नया रूप देकर "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" वाली सौन्दर्य-परिभाषा के साथ समन्वय कर इस मार्मिक चित्र को चित्रित किया हो। केवल सबी शब्द से इसे विदेशी नहीं कहा जा सकता। वैसे वियोग में चित्र देखने की बात विदेशी साहित्य में भी कही गई है—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाई देखली ।

इसके आधार पर न तो यही माना जा सकता है कि हमारे यहाँ से यह प्रवृत्ति उन्होंने अपनाई और न ही यह कि हमारे यहाँ वहां से आई।

सारांश यह है कि प्रेम के अनेक व्यापार, विरह की नाप-जोख, सौकुमार्य एवं सौन्दर्य के वर्णन में फारसी ढंग की उद्भावनाएँ जिस रूप में यत्र-तत्र बिहारी ने की है, वह संस्कृत के लिए भी नितान्त अपरिचित वस्तु नही है अतएव बिहारी का यह प्रयास भारतीय शैली से भिन्न मालूम नही होता यह बात दूसरी है कि स्वाभाविकता के स्थान मे चमत्कृतिमात्र का ही आधान इनसे हो सका। यह हर्ष की बात है कि बिहारी पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव कतिपय दोहों में ही दीख पड़ता है। उनके अधिकांश दोहे अपने सहज मनोहर रूप मे ध्वनि-काव्य के उत्तमोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते है।

विदेशी साहित्य के प्रभाव का दूसरा पक्ष जहाँ तहाँ बिहारी की भाषा शैली में देखा जा सकता है। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रभाव भाषा में चटपटाहट के साथ लक्षणा द्वारा व्यञ्जना के उत्कर्ष का भी आधायक होता है। लाक्षणिक प्रयोगो का बाहुल्य फारसी से प्रभावित उर्दू साहित्य में बहुत ही अधिक देखा जाता है। "हिन्दी की परम्परा में इस प्रकार मुहावरो को लेकर कहने सुनने की परम्परा कम"[1] चाहे रही हो किन्तु यथावसर उनके उचित प्रयोग की ओर से हिन्दी कवियों ने आँखें नहीं मूद ली थीं। हिन्दी का साहित्य संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की जिस साहित्य-त्रिवेणी की रस धारा को विरासत में लेकर प्रवृत्त हुआ था उसमें भाषा को यथा संभव अधिक सरस एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिये मुहावरों का प्रयोग बराबर चला आया था। कालिदास के यक्ष ने अपनी प्रियतमा को संदेश भेजते हुये कहा था।

'शेषान् माषान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।'

अर्थात् आँखें मींच कर चार महीने और गुजार दो। यह आँख मींच कर मुहावरा आज भी हिन्दी में प्रतिदिन अपढ व्यक्ति तक प्रयोग करते हैं।

गाथासप्तशती की एक कुलबधू ने अपने पति पर डोरे डालने वाली युवतियों पर आक्षेप करते हुये एक बार अपनी सखी से कहा था।

अन्धअरबोरपत्तं व माउआ मह पइं विलुम्पन्ति।
ईसाअन्ति महं विअ छेप्पाहिन्तो फणो जाओ। ३।४०
अन्धकरबदरपात्रमिव मातरो मम पतिं विलुम्पन्ति।
ईर्ष्यन्ति मह्यमेव लांगूलेभ्यः फणो जातः ॥

---

१ बिहारी की वाग्विभूति। पृ० ३८

अन्धे के हाथ में बेर के पात्र के समान मेरे ही पति को हरती है और मुझ से ही ईर्ष्या करती है। यह अच्छा लांगूल (पूंछ) से फन बन गया।

इसी प्रकार उस नायिका की स्थिति देखिये जो घर का काम छोड़कर उपपति के दर्शन के लिये दौड़ी थी किन्तु जब तक वह दरवाजे पर पहुँची तब तक नायक महोदय जा चुके थे।

सुप्पं डड्ढं चणआ ण भज्जिआ सो जुआ अइक्कन्तो।
अत्ता वि घरे कुविआ भूआणं व वाइओ वसो।। ६-५७

अर्थात्—सूप भी जल गया और चने भी न भुने। वह युवक निकल गया और इधर सास भी कुपित हुई। 'भूतों के आगे बंशी बजाने' वाली ही बात हुई। उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुहावरों का प्रयोग भारतीय साहित्य में भी बराबर होता आया है और हिन्दी में भी होता ही रहा है। इस तथ्य को दृष्टिकोण में रखते हुए इस कथन की संगति, "हिन्दी में मुहावरों को लेकर कहने सुनने की परम्परा कुछ कम है, तभी बैठती है जब 'कम' की सापेक्षता को स्वीकार कर लिया जाय। अर्थात् मुसलमानी साहित्य की अपेक्षा हिन्दी में मुहावरों का प्रयोग कम है। इसी बात को अधिक उपयुक्त ढंग से इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में, जिसमें हिन्दी-साहित्य भी सम्मिलित है मुहावरे केवल अपने लिये प्रयुक्त नहीं हुए हैं, अर्थ की अभिव्यक्ति ही उनका विशेष लक्ष्य है। वे साध्य नहीं साधन बनकर आए हैं पर उर्दू फारसी में वे साध्य बनकर भी प्रयुक्त हुए हैं। बिहारी-सतसई में भी ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं।

मूड़ चढाऐहु रहै पर्‌यौ पीठि कच भारु"
रहै गरैं परि राखियैं तऊ हियैं पर हारु।।

इस दोहे में "मूड़ चढ़ाना (सिर चढ़ाना), पीछे पड़ना, गले पड़ना, हृदय में रहना सब मुहावरे ही मुहावरे हैं। प्रतीत होता है जैसे कवि का उद्देश्य यहाँ मुहावरों का परिगणन मात्र ही हो उठा है। यह प्रवृत्ति अवश्य बाहरी प्रभाव है।

बिहारी की भाषा पर भी फारसी का कुछ प्रभाव पड़ा है, उसके प्रतीक और अलङ्कार तक उन्होंने लिये हैं, सामान्य शब्दों का तो कहना ही क्या। उनकी भाषा पर अलग विचार किया जायेगा। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी ने विदेशी साहित्य की उन्हीं बातों को ग्रहण किया है जो भारतीय साहित्य में भी किसी न किसी रूप में मौजूद हैं अथवा जो यहाँ के साहित्य के समीप की वस्तु है निःसन्देह कहीं कहीं तो यह निश्चय ही नहीं किया जा सकता कि यह वस्तु स्वदेशी है या विदेशी। यह विशेषता बिहारी की विशिष्ट प्रतिभा की द्योतक है।

५—रीतिपरम्परा और बिहारी

बिहारी रीतिकाल के प्रवेश द्वार पर खडे थे। यद्यपि उनके समय तक हिन्दी में काव्यशास्त्र का परिनिष्ठित रूप विकसित नही हो सका था तथापि संस्कृत में यह अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुका था और ब्रजभाषा में भी कतिपय प्रयास इस दिशा में हो चुके थे। बिहारी ने कोई रीतिग्रंथ नही लिखा किन्तु रीतिग्रंथो में प्रतिपादित प्राय: सभी विषयो के उदाहरण उनके काल में मिल जाते है। शब्द-शक्तियों का विवेचन तो हिन्दी-काव्यशास्त्र मे नहीं के बराबर ही हुआ है। प्रमुख रूप में रस अलङ्कार तथा नायिका-भेद का विवेचन ही उसमें हुआ है। बिहारी से पहले सूरदास की साहित्यलहरी नन्ददास की रसमञ्जरी, रहीम का बरवैनायिकाभेद, कृपाराम की हित-तरङ्गिणी तथा केशव की रसिकप्रिया की रचना हो चुकी थी। बिहारी ने अन्यान्य ग्रन्थों की भाँति इनका भी अध्ययन किया था और इस विषय में उनकी जानकारी रीतिकाल के अनेक आचार्यो की जानकारी से निम्नकोटि की किसी भी अंश में नहीं थी। उनके रस तथा अलंकारों पर क्रमश: वर्ण्य-विषय तथा भाषा के विवेचन के अन्तर्गत प्रकाश डाला जायेगा, यहाँ हम नायिकाभेद पर संक्षेप से विचार कर लेना उचित समझते हैं।

शृङ्गार रस के आलम्बन नायक तथा नायिका होते है। रीतिग्रन्थों में नायिकाओं के भेद-उपभेदों का तो विस्तृत विवेचन किया गया किन्तु नायकों के ऊपर अधिक नही लिखा गया। वास्तव में रतिभाव के आलम्बन के रूप में पुरुष का आकर्षण केन्द्र नारी ही रही है। स्त्रियों के स्वभाव, अवस्था स्थिति आदि के अनुकूल विविध प्रकार की मनोदशाओं का अध्ययन ही नायिका-भेद कहलाता है। आयु के विविध स्तर, विरह की दशा, संयोगावस्था की भावनाएँ, नायक का परस्त्रीगमन-अपराध आदि नायिका की मनोवृत्ति पर क्या प्रभाव डालते हैं, इन सब प्रश्नों का उत्तर नायिकाभेद देता है। ये दशाएँ अनन्त प्रकार की हो सकती हैं किन्तु धीरे-धीरे कविवर्ग रूढ़िवद्ध वर्णनों में ही कर्त्तव्य-पालन की इतिश्री समझने लगा।

नायिकाभेद का मूल आधार ग्रन्थ वात्स्यायन का कामसूत्र है जिसमें अनेक दृष्टिकोणो से स्त्रियों के भेदोपभेद किये गए है, उनकी शारीरिक

रचना के आधार पर पद्मिनी आदि की कल्पना की गई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कामसूत्र मे दिये हुए विवेचन के आधार पर स्त्रियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जब प्रवृत्ति, उत्कण्ठा, सुख-दुख स्त्री पुरुष दोनों में समान होते हैं। पारस्परिक स्वामित्व की भावना के साथ सामाजिक सकोच से रहित स्वच्छन्द विहार की आलम्बनभूति नायिका सर्वोत्तम मानी गई है इसे स्वकीया कहते है। सभी उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त होते हुए भी सामाजिक संकोच तथा भय के कारण जिसका स्वच्छन्द उपभोग न हो सके वह परकीया कहलाती है जो कन्या और परोढा भेद से दो प्रकार की होती है। इन दोनों का प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ कन्या के स्वकीया रूप में परिणत होने की सम्भावना रहती है वहाँ परोढा के विषय में नहीं। इसके अतिरिक्त परोढा कामकला से अभिज्ञ होती है किन्तु कन्या का यह विषय अननुभूत ही रहता है। सामाजिक संकोच तथा मिलन-उत्कण्ठा दोनों का अभाव तथा धन की प्राप्तिमात्र के उद्देश्य से प्रवृत्त नायिका साधारणी अथवा वेश्या कही गई है। भरत के नाट्य शास्त्र में भी नायिकाओं का विवेचन प्रायः इसी ढंग का है। धनञ्जय के दशरूपक, भानुदत्त की रसमञ्जरी और विश्वनाथ के साहित्य दर्पण में रस के आलम्बन रूप में नायिकाभेद का विस्तृत विवेचन हुआ है। ये ही ग्रन्थ रीतिकालीन आचार्यों तथा कवियो के आदर्श रहे थे।

स्वकीया नायिका सर्वोत्कृष्ट मानी गई है क्योंकि धार्मिक दृष्टि से यही मान्यता-प्राप्त है। प्रधान रस की नायिका बनने की क्षमता भी इसी में है। वयः क्रम की दृष्टि से यह तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा। मुग्धा में लज्जा का आधिक्य उत्कण्ठा पर आवरण डाले रहता है, मध्या में इन दोनों भावों की समानता रहती है और प्रौढ़ा में लज्जा निम्न-कोटि की रह जाती है। धनञ्जय तथा विश्वनाथ ने मुग्धा के उपभेद नहीं किए हैं किन्तु भानुदत्त की रसमञ्जरी में उसके तीन भेद किए गये हैं—अंकुरित यौवना, नवोढा और विश्रब्धनवोढा। हिन्दी के रीतिकारों ने भानुदत्त का अनुसरण कर मुग्धा के भेद-प्रभेद किए हैं। सूर की साहित्य लहरी में मुग्धा के ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना दो भेद हुए हैं। नन्ददास ने इनके भी नवोढा तथा विश्रब्धनवोढा भेद किये हैं किन्तु विश्रब्धनवोढा का अज्ञातयौवना होना असम्भव ही है। अतः रहीम ने अज्ञातयौवना के कोई उपभेद नहीं किये केवल ज्ञातयौवना के ही उक्त भेद माने हैं। भानुदत्त की अंकुरितयौवना रहीम की अज्ञातयौवना के अन्तर्गत आ जाती है और भानुदत्त एवं रहीम के विवेचन में पूर्ण समन्वय स्थापित हो जाता है।

नन्ददास ने मुग्धा मध्या तथा प्रौढा भेद सभी नायिकाओं के माने है किन्तु सामान्या में न तो मुग्धत्व ही सम्भव है और न मध्यत्व ही। परकीया कन्या भी मध्या अथवा प्रौढ़ा नही हो सकती। वस्तुतः स्वकीया के अतिरिक्त ये भेद अन्यत्र सम्भव नही है। भानुदत्त ने परोढ़ा के गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिताभेद माने है। कृपाराम ने स्वयं-दूतिका को और जोड़कर इन भेदों की संख्या सात करदी है। वास्तव में कुलटा तो परकीया का सामान्य लक्षण ही है। अनुशयाना और मुदित तो परकीया ही क्यों, सभी नायिकायें हो सकती है। अतः नन्ददास ने सुरतगोपना वाग्विदग्धा और लक्षिता तीन ही भेद माने है। सुरतगोपना' शब्द को उपलक्षण मानकर इसे भावगोपना भी कहा जा सकता है (रहीम ने अन्य भेद भी माने हैं किन्तु वैचित्र्य-रहित होने से समुचित नहीं है।

इन भेदों के अतिरिक्त नायक के प्रेमस्तर के आधार पर ज्येष्ठा कनिष्ठा तथा गुणों के आधार पर उत्तमा मध्यमा और अधमा भेद भी आचार्यो ने किये हैं। अवस्था-भेद से नायिकाओं के आठ भेद माने गये हैं—स्वाधीन पतकिा, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहन्तरिता प्रोषितपतिका तथा अभिसारिका खण्डिता और विप्रलब्धा में अधिक भेद न होने के कारण सूर ने विप्रलब्धा भेद को स्वीकार नहीं किया। प्रोषितपतिका भी प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसत्पतिका, और आगतपतिका भेद से तीन प्रकार की मानी गई। अभिसारिका भी शुक्ल, कृष्ण, गर्व, काम, प्रच्छन्न तथा प्रकाश भेद से ६ प्रकार की मानी गई जिनमें प्रथम दो भेदो का ही प्रचलन अधिक हुआ अन्य भेद न तो समीचीन ही है और न प्रतिष्ठित ही हो सके। भानुदत्त ने दशाभेद से अन्य-संभोग-दुःखिता, वक्रोक्ति-गर्विता और मानवती भेदों को स्वीकार कर वक्रोक्तिगर्विता के प्रेमगर्विता तथा रूप-गर्विता भेदों का प्रतिपादन किया तथा मानवती के मान की स्थिति के आधार पर गुरु, मध्यम और लघु भेद माने हैं। कुछ आचार्यो ने अन्य प्रकार के भी भेद-उपभेद स्वीकार किये हैं जिनका विवेचन यहाँ आवश्यक नही प्रतीत होता। नायिकाभेद के इस सक्षिप्त से विवेचन की पृष्ठभूमि पर ही हम बिहारी की नायिकाओं का अध्ययन करने का प्रयास करेंगे। बिहारी में इन सभी प्रकार की नायिकाओं के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

स्वकीया मुग्धा

विश्वनाथ महापात्र ने मुग्धा की पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है। १-—यौवन का प्रथम अवतार २—काम का प्रथम संचार ३—रति

में वामाचरण ४—मान में मृदुता तथा ५—लज्जा का आधिक्य। उदाहरण लीजिये—

१— नहि पराग नहि मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल॥
देह दुलहिया की बढ़ै ज्यों ज्यों जोबन जोति।
त्यौ त्यौ लखि सौतै सबै वदन मलिन दुति होति॥

वयः सन्धि के वर्णन भी इसी के अन्तर्गत आते हैं—

छुटी न सिसुता की झलक झलकौ जोवन अंग।
राजति देह दुहून मिलि दिपति ताफ़ता रंग॥

२— औरै ओप कनीनिकनु गनी घनी सरताज।
मनी घनी के नेह की बनी छनी पर लाज॥४॥

आँखों में अन्य ही प्रकार की कान्ति का छाजाना तथा लज्जा से आवृत होना काम के नवीन संचार की ओर संकेत करता है।

३— नाक मोरि नाहीं करै नारि निहोरे लेइ।
छुवत ओठ पिय आँगुरिन, बिरी बदन प्यौ देइ॥ ६३१॥

नाक मोड़ना, नाहीं करना और निहोरे लेकर (खुशामद करके) प्रिय के हाथ द्वारा मुख में पान लेने से बचने की चेष्टायें वामाचरण ही हैं। एक अन्य उदाहरण लीजिये—

हौं बरजी कै वार तू इत कित लेति करौट।
पखुरी लगै गुलाब की परिहै गात खरौट॥

नायिका नायक की ओर से मुँह फेर कर लेटी हुई है उसे गुलाब की पाँखुड़ी की चुभन से भयभीत करके अपनी ओर मुख कराने के लिये नायक प्रयत्न करता है।

४—मानमृदुता— मोहि लजावत निलज ए हुलसि मिलत सब गात।
भानु-उदै की ओसलौ मानु त जान्यो जात॥५६३॥
सतर भौंह रूखे बचन करति कठिन मनु नीठि।
कहाँ करौ ह्वै जात हरि हेरि हसौंही दीठि॥१०८॥

५—लज्जाधिक्य—

समरस-समर-संकोचबस-बिबस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति फिर दुरति, दुरि-दुरि उझकति जाइ॥५२४॥

अज्ञात यौवना मुग्धा—नायिका का यौवन प्रारम्भ तो हो जाता है किन्तु वह स्वयं उसे जान नहीं पाती—

बरजैं दूनी हठ चढ़ै ना सकुचैं न सकाइ।
टूटत कटि दुमची मचक लचकि लचकि रह जाइ ॥६८५॥

नायिका की कटि की लचक यौवनागम की सूचना देती है तथा संकोच एवं भीरुता का अभाव उसकी यौवनानभिज्ञता का परिचायक है। निषेध करने पर दूनी हठ करना भी कैशोर-चापल्य का प्रतीक है। ज्ञातयौवना अपने यौवन के आगमन से अभिज्ञ होती है और तद्व्यञ्जक शारीरिक परिवर्तनों को एकान्त में देखने की उसकी प्रवृत्ति होती है—

छपि छपि देखत कुचन तनु करते अँगिया टारि।
नैननि में निरखति रहै भई अनोखी नारि॥

नवोढा—

मानहु मुँह दिखरावनी दुलहिं करि अनुरागु।
सासु सदन मन ललन हू सौतिनु दियौ सुहागु ॥२८८॥

नायक के साथ कुछ दिन सम्पर्क रहने पर जब झिझक का अतिरेक शनैः शनैः दूर होने लगता है तथा उसके स्थान में विश्रम्भ का पदार्पण होता है तब नवोढा विश्रब्ध नवोढा हो जाती है—

हँसि ओठनु बिच कर उचै किये तिरीछे नैन।
खरै अरै पिय के पिया लगी बिरी मुख दैन॥

मध्या—

मुग्धा में लज्जा का आधिक्य उत्कण्ठा का प्रस्फुटन पूर्णरूपेण नहीं होने देता। उसका यौवन चढ़ाव पर होता है। मध्या की दशा तक पहुँचते पहुँचते यौवन का पर्याप्त विकास हो सकता है तथा लज्जा एवं उत्कण्ठा की भावनाएं भी समान स्तर पर उठती दिखाई देती है—

दुरत न कुच बिच कञ्चुकी चुपरी सारी सेत।
कवि आँकनु के अर्थ लौं प्रगट दिखाई देत॥
भई जु छबि तन वसन मिलि, बरनि सकै सुन बैन।
आँग ओप आँगी दुरी आँगी आँग दुरै न॥

प्रथम दोहे में यौवन-जनित उरोज-विकास की पूर्णता एवं द्वितीय में लावण्य की चरम स्थिति की अभिव्यक्ति हुई है। भावदृष्टि से मध्या का उदाहरण लीजिये—

गड़ी कुटुम की भीर में रही बैठि दै पीठि॥
तऊ पलकु परि जाति इत सलज हँसौंहीं दीठि॥

मुग्धा की भाँति इस नायिका को लज्जा उत्कण्ठा को दबा सकने में समर्थ नही है। लज्जा के कारण वह नायक की ओर पीठ करके बैठ जाती है, दृष्टि में भी उसके लज्जा है किन्तु उत्कण्ठा का बाँध नयनों की हँसी में फूट ही पड़ता है और क्षण भर के लिये दृष्टि नायक से जा ही टकराती है। अतः नायिका मध्या है।

जब नायक के साथ क्रीड़ाओं में आनन्द प्राप्ति का प्रलोभन मुग्धा की लज्जा पर विजय प्राप्त कर लेता है तभी वह मध्या बन जाती है। श्री मैथिली-शरण गुप्त ने इसीलिये लिखा है कि "मुग्धा एक दिन में ही मध्या बन जाती है।"

प्रियतम दृग मिहचत प्रिया पानि परस सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति लखाइ॥

यह तो पुरुष-प्रवृत्त केलि के आनन्द-आस्वादन का उदाहरण हुआ, वह स्वयं भी केलि-प्रवृत्त होने लगती है—

पीठि दिये हूँ नैंकु मुरि कर घूंघट पट्ट टारि।
भरि गुलाल की मूठि सौं गई मूठि सी मारि॥३४६॥

उसके वचन, चेष्टा और सुरत-व्यापार में प्रगल्भता आती चली जाती है और धीरे धीरे वह प्रौढ़ता की ओर अनजाने ही स्वाभाविक गति से अग्रसर होती जाती है—

लहि रतिसुख लगियै हियैं, लखी लजौंहीं नीठि।
खुलति न मो मन बंधि रही, वहै अधखुली डीठि॥६५४॥

प्रियतम के आने के समय का अनुमान कर सखियों को उठा देने की यह चतुराई भी ऐसी ही है—

झुकि झुकि झपकौहैं पलनु, फिरि फिरि जुरि जमुहाइ।
वींदि पिआगम नींद मिस, दीं सब अली उठाइ॥५८६॥

प्रौढा

प्रौढा नायिका की सबसे बड़ी विशेषता है कामवासना की स्पष्टतम अभिव्यक्ति। उत्कण्ठा की अपेक्षा लज्जा का भाव बहुत ही कम रह जाता है। लोक-लाज, गुरुजन-चिन्ता, आदि की आशङ्का तो उसे रहती ही नहीं वक्तव्या-वक्तव्य का विवेक भी नहीं रहता। यदि बिहारी के ही शब्दों में प्रौढा की परिभाषा देने का आग्रह किया जाय तो हम कहेंगे कि—

तजी संक सकुचति न चित बोलति बाक कुबाक ।
दिन छिनदा छाकी रहति छुटतु न छिन छबि छाक ।।२१८।।

यौवन का चरम विकास प्रौढा के अङ्ग प्रत्यङ्गों से स्पष्ट प्रकट होने लगता है—

लगी अनलगी सी जु विधि, करी खरी कटि खीन ।
किए मनौ वैं ही कसर, कुच-नितम्ब अति पीन ।।६६३।।
कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली दीठि मुँह चाड ।
फिरि न टरी परियै रही गिरी चिबुक कै गाड ।

यौवन की उमगों में लाज का बन्धन रह ही नहीं पाता—

लाज लेगाम न मानहीं नैना मो मन नाहि ।
ये मुँह जोर तुरंग लौ ऐंचतहू चलि जाहिं ।।

यश अपयश का इसे ध्यान तक नहीं रहता । लोग चर्चा करते हैं तो करें, वह कामवासना से इतनी अन्धी हो जाती है कि अपने लक्ष्य के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नही । मन, वचन, कर्म सब में वह उसी की ओर अग्रसर होती दिखाई देती है—

जसु अपजसु, देखत नही देखत साँवल गात ।

उसकी क्रीड़ाएँ भी अधिक स्वच्छन्द होती हैं—

छिनक चलति ठठुकति छिनक, भुज प्रीतम गल डारि ।।
चढी अटा देखति घटा, बिज्जु छटा सी नारि ।।३८३।।

उक्तियों में संकोच का लेश भी नही मिलेगा—

मोहि दियौः मेरौ भयौ, रहत जु मिलि जिय साथ ।
सो मन बाँधि न सौपिये पिय सौतिन के हाथ ।।८३।।

उपालम्भ, वक्रोक्ति तथा अन्य प्रकार के वाग्वैदग्ध्य का उसकें कथनों में स्वतः एव समावेश हो जाता है जिसके कारण 'बिब्बोक' का आधिक्य उसमें प्रायः पाया जाता है—

नैकु उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहदी छिनकु महदी सूखन देहु ।।४९७।।

प्रौढा नायिका की रति-क्रीडा भी अधिक वेगवती एवं दीर्घ होती है जिसका परम विकास विपरीत रति में देखा जा सकता है—

नीठि नीठि उठि बैठिहूं प्यौ प्यारी परभात ।
दोऊ नींद-भरे खरे गरै लागि गिरि जात ।।६४२।।

परयौ जोरु विपरीत रति रुपी सुरत रनधीर।
करति कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौन मंजीर ।।१२६

प्रियतम के अन्य-नारी-सम्भोग अपराध के प्रकट होने पर मध्या और प्रौढा नायिकाओं की ओर से प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के प्रकारो द्वारा सकेतित उनकी मनोदशा के आधार पर तीन अवान्तर भेद भी आचार्यो ने किये है—धीरा, अधीरा, तथा धीरा-अधीरा। बिहारी-सतसई में इन भेदों के उदाहरण भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं—

मध्या धीरा

यह नायिका प्रिय का अपराध देखकर भी वाणी का संयम रखती है, कठोर शब्दों का प्रयोग न कर केवल लाक्षणिक उक्तियों द्वारा अथवा वक्र कथनों द्वारा, जो उद्वेग प्रेरित नहीं होते, अपने भावों को प्रकट कर देती है। इसीलिए तो वह धीरा है। वास्तव में वह नायक को जता देना ही अधिक उपयुक्त समझती है कि उसकी गुप्त हरकतों से वह अनभिज्ञ नहीं है। वह व्याधि की चिकित्सा तो करना चाहती है किन्तु कटु अथवा तिक्त औषध द्वारा नहीं अपितु मधुर औषध से ही अर्थात् वह उपहासमय वचनों से ही अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि करना चाहती हैं—

पलनु पीक अंजन अधर धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी भले बने हौ लाल ।।

मध्या अधीरा

नायिका के धैर्य का बाँध टूट जाता है और वह परुष वचनों द्वारा अपने मन की वेदना प्रकट करती है। नायक के प्रति रोप की भावना होने पर भी लज्जा का अंकुश होने के कारण इसकी उक्तियाँ प्रौढा जैसी कटु नहीं होती उनमें वाणी का आपेक्षाकृत संयम ही मिलता है—

सदन सदन के फिरन की सद न छुटैं हरिराइ।
रुचै जितै विहरत फिरौ कत विहरत उर आइ ।।
नखरेखा सोहैं नई अलसोहे सब गात।
सौहै होत न नैन ये तुम सौहै कत खात ।।

मध्या धीरा-अधीरा

यह नायिका न तो धीरा के समान गम्भीरता ही रख पाती है और न अधीरा के समान अधीर ही होकर परुष शब्द कहने लगती हैं। मन के

भावों को न तो उपहास द्वारा ही व्यक्त कर सकती है और न कटु बचनो के द्वारा ही। इसलिये यह प्राय: चेष्टाओं और मुद्राओ द्वारा ही मान प्रकट करती है—

नहिं बचाइ चितवति दृगनु नहिं बोलति मुसकाइ।
ज्यौ ज्यौ रूखी रुख करति, त्यों त्यों चित चिकनाइ ॥ ३३४
हौ हारी करकै हहा पायन पारचौ प्यौर।
लेहु कहा अजहूँ करे तेहतरेरे त्यौर ॥

प्रौढा धीरा—

मध्या धीरा अपना रोष न तो चुप रहकर ही प्रकट कर सकती है और न वह मनमाने कटु शब्दों द्वारा ही मन के आवेश को हलका कर सकती है अत: वक्र-कथन का आश्रय ही उसे लेना पडता है किन्तु प्रौढा नायिका अपने रोष को पूर्णतया छिपा लेती है। उसका व्यवहार पहले की अपेक्षा अधिक सम्मानपूर्ण तथा शिष्ट होता है। यही परिवर्तन उसके मान का व्यञ्जक होता है। 'अत्यन्त आदर शङ्का उत्पन्न करता है' यह उक्ति लोक में प्रसिद्ध भी है। बिहारी की प्रौढा धीरा के उदाहरण लीजिये—

खरै अदब इठलाहठी उर उपजावति त्रास।
दुसह संक बिसको करै जैसे सोंठि मिठास ॥
रस की सी रुख ससिमुखी, हँसि हँसि बोलति बैन।
गूढ मानु मन क्यों रहै भये बूढ रंग नैन ॥

प्रौढा अधीरा

में कोप की पराकाष्ठा पाई जाती है। वह नायक को पूर्णतया अभिभूत कर लेती है, वह कटु से कटु शब्द कहने से तो चूकती ही नहीं, मार-पीट तक भी पहुँच जाती है, किन्तु कुलीन ललनाओं की दृष्टि में तो यह अत्यन्त जघन्य कार्य समझा जाता है अतएव बिहारी ने इसके अधिक उदाहरण प्रस्ततु नही किये हैं। संकेतमात्र ही किया है। उदाहरण लीजिये—

"मारचौ मनुहारिनि भरी गारचो खरी मिठाहि।
वाकौ अति अनखाइबों मुस्काहट बिनु नाहि ॥

प्रौढा धीरा-अधीरा

यह नायिका कोप को छिपा तो नहीं पाती पर इसका क्रोध इतना तीव्र भी नहीं होता कि प्रौढा अधीरा की भाँति अत्यन्त कटु वचनों का प्रयोग करे या

हाथापाई से काम ले। व्यंग्योक्तियों द्वारा ही यह अपना क्षोभ प्रकट करती है। मध्या धीरा भी वक्र कथनों का आश्रय लेती हैं किन्तु उसकी उक्तियों में कोप और दुःख की समभाव अभिव्यक्ति हुआ करती है तथा धीरा होने के कारण वह मुस्काते हुए ही सब कुछ कह डालती है। वह नायक का अपराध स्पष्ट न कहकर भङ्यन्तर से सूचित करती है किन्तु प्रौढा धीरा-अधीरा स्पष्ट रूप से दोष का प्रख्यापन करती है—

> कत लपटइयतु मो गरै सो न जुही निसिसैन।
> जा चम्पक बरनी किए मुल्लाला रंग नैन॥
> तुरत सुरत कैसे छुरत मुरत नैन जुरि नीठि।
> डौडी दै गुन रावरे कहति कनौडी डीठि॥ १८५॥

परकीया

कन्या

कन्या यद्यपि परस्त्री नहीं हो सकती तथापि गुरुजन आदि के अधीन होने के कारण उसका मिलन, सुरत आदि स्वकीया के समान स्वच्छन्द भाव से नहीं चल सकते। धर्मशास्त्र की दृष्टि से तथा लोकदृष्टि से भी कन्या-प्रेम अनुचित ही माना जाता है। हाँ, यदि वह दाम्पत्यप्रेम के रूप में परिणत हो जाये (जैसे दुष्यन्त और शकुन्तला का) तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी बुरा नहीं माना जायेगा। कामशास्त्र आज के युवक समाज की ही भाँति गान्धर्व विवाह को महत्त्व देता है। इस प्रकार शास्त्र की, दबी हुई आवाज से ही सही, अनुमति संभव होने के कारण भारतीय साहित्य में कन्यारति को भी प्रमुख रस रूप में आस्वाद्य स्वीकार कर निबद्ध किया गया है। सूर ने 'लरिकाई का प्रेम कहो अलि कैसे छूटे?' कहकर इसी प्रेम की ओर संकेत किया है, संकेत ही नहीं किया उसे सर्वाधिक दृढ़ भी बताया है। किशोरावस्था की स्वाभाविक स्वच्छन्द क्रीडाओं की उर्वर पृष्ठभूमि पर विकसित होने वाला प्रेम निःसन्देह सघन होता होगा। बिहारी ने भी कन्या-प्रेम का विकास ऐसी ही क्रीडाओं में चित्रित किया है :—

> दोऊ चोर मिहीचनी खेल न खेलि अघात।
> दुरत हियैं लपटाइ कै छुअत हियैं लपटात॥

इस दोहे में 'हियैं लपटात' तथा 'खेलि न अघात' से प्रणय का उद्दाम स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिये। कन्या के अन्तर्गत इस प्रकार के भावों का चित्रण उसे मुग्धा नहीं रहने देता, मध्या भी नहीं, और प्रौढा के रूप में वह

साधारणी नायिका से अधिक कुछ न रह जायेगी। अतएव उक्त क्रियाओं से प्रणय-प्रौढता की प्रतीति नही होती, अपितु स्नेह की प्रथम रश्मि का आभास मात्र होता है जिसके कारण दाम्पत्य सम्बन्ध एवं तज्जन्य आनन्दानुभूति के बिना ही पारस्परिक मिलन, स्पर्श आदि में एक प्रकार का रस आने लगता है। शनैः शनैः प्रेम-विकास के साथ-साथ नायिका भी जब ज्ञातयौवना हो जाती है तब प्रणय-अभिव्यक्ति के साधन और चेष्टाएँ भी परिवर्तित हो जाते है—

सहित सनेह संकोच सुख स्वेद कंप मुस्कानि।
प्रान पानि कर आपने पान धरे मो पानि ॥

यह नायिका स्वकीया नहीं है अन्यथा 'पान पानि कर आपने' कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। परोढा भी नहीं है क्योंकि पान, जल आदि से आगन्तुक का सत्कार करने का भार वधुओं पर नहीं कन्याओं पर ही रहता है। अन्य उदाहरण लीजिये—

उन हरकीं हँसिकै इतै उन सौपी मुसकाइ।
नैंन मिलैं मन मिलि गए दोऊ मिलवत गाइ ॥ १२८ ॥

यही प्रेम जब और पुष्ट हो गया तब तो यह दशा हुई कि—

चलतु घैरु घर-घर तऊ घरनि न घर ठहराइ।
समुझि उहीं घर कौं चले भूलि उहीं घर जाइ ॥

परकीया-परोढा

परोढा का प्रेम न तो शास्त्र-सम्मत ही है और न लोक-सम्मत ही। अतः उसे अङ्गी रस के रूप में काव्य शास्त्रकारों ने स्वीकार नही किया है सर्वत्र रसाभास ही माना है। फिर भी परकीया प्रेम का जितना चित्रण साहित्य में उपलब्ध होता है उतना स्वकीया का नहीं। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है जो "चोरी का गुड मीठा लागै" जैसी लोकोक्तियों में भी अभिव्यक्ति पा चुका है। साबाध होने के कारण ही चौर्यरत अधिक आनन्दप्रद माना गया है क्योंकि उसमें उत्कण्ठा शान्ति का साधन दुर्लभ होता है। जिससे अभिलाषा उत्तरोत्तर गहनतर होती चली जाती है। इसीलिए भक्त-कवियों ने ईश-प्रेम का आदर्श प्रकीय प्रेम को ही स्वीकार किया है। बिहारी ने परकीया प्रेम का भी वर्णन किया है किन्तु बहुत ही संयत रूप में। इस क्षेत्र में उन्होने अपने नायक-नायिकाओं का चयन भी लोक-प्रेक्षण एवं साहचर्य के आधार पर किया है जो यथार्थ और स्वाभाविक है।

देवर फूल हने जु सू उठे सबै अंग फूलि ॥
हँसी करत औषधि सखिनु, देहृददोरनु भूलि ॥ २४६ ॥

देवरविषयक प्रेम का वर्णन परम्परागत है। गाथासप्तशती में भी इस प्रकार की उक्तियाँ मिलती है जिनका उल्लेख यथा स्थान किया जा चुका है।

पौराणिक महोदय की परकीया किस प्रकार उनकी प्रतिष्ठा का दाँव पर रख देती है और वे बेचारे किस प्रकार अपना मुँह कम कर उसे बचा पाते हैं इसका भी एक चित्र देखिये—

परतिय-दोसु पुरान सुनि हँसि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्रहू मुँह आई मुसकानि॥

और मन्दिर के पुजारी की यह करामात भी जिससे प्रसाद की माला नायिका के शरीर को कदम्ब की माला बना देती है—

यह मैं तोही में लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भौ बौलसिरी की माल॥ ४६८ ॥

ऐसी ही घटनाओं के आधार पर ही तो किसी नीतिकार ने कहा था—

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचर।
..................मठचिन्ता दिनत्रयम्॥

पड़ोस का पूरा-पूरा लाभ उठाने में चतुर इस पड़ौसी को देख कर आप क्या कहेंगे—

अँगुरिनु उँचि भरु भीति दै उलनि चितै चख लोल।
रुचि सौ दुहूँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल॥

परकीया के जिन परम्परागत ६ भेदों का उल्लेख इस अध्याय के प्रारम्भ में किया है उनके उदाहरण भी बिहारी ने दिये हैं—

गुप्ता

जब नायिका प्रेम व्यापार छिपाने का प्रयत्न करती है तो वह गुप्ता कहलाती है इसे भावगोपना तथा सुरतगोपना भेद से दो प्रकार की मान सकते हैं।

भाव गोपना

कारे बदन डरावने, कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखी सखी लखे, लगै थरथरी देह॥ ५१२ ॥

सात्त्विक कम्प को जो कि प्रेम-जनित है, भावजन्य बता कर छिपाने का प्रयत्न किया गया है। भाव-गोपन वाणी द्वारा ही नही चेष्टाओं और मुद्राओं से भी किया जा सकता है।

सुरत गोपना

लटकि लटकि लटकत चलत डटत मुकुट की छाँह।
चटक-भरयौ नट मिलि गयौ, अटक भटक बन माँह ॥ १६२ ॥

कृष्ण के साथ रति-व्यापार में नायिका को विलम्ब हो गया जिसकी सफाई वह बन मे मार्ग भूल जाने का कारण बता कर दे रही है। भटक जाने पर रास्ता एक व्यक्ति ने बताया जिसका वर्णन इस दोहे में है। स्पष्ट है कि यह श्रीकृष्ण ही थे पर नायिका इस तथ्य से अनभिज्ञ की भाँति उनका वर्णन करती है।

(२) विदग्धा

यह नायिका भी दो प्रकार की होती है वाग्विदग्धा तथा क्रिया विदग्धा

घाम घरीक निवारिये कलित-ललित-अलिपुञ्ज।
जमुना तटहिं तमाल तरु मिलत मालती कुञ्ज ॥

घाम निवारण से ठेठ दुपहरी के कारण किसी के आने की आशंका के लिए अस्थान, 'कलित ललित अलिपुञ्ज' से वातावरण की उद्दीपकता तथा 'तमालतरु मिलत मालती कुँज' से कुञ्ज की सघनता व्यञ्जित है। सब कुछ मिला कर बक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य के कारण यही सुरत के लिए उचित स्थान है। इस प्रकार स्थान-संकेत-पुरःसर निमन्त्रण नायिका अपनी चतुर उक्ति से ही दे देती है।

क्रिया विदग्धा

नायिका परिस्थिति-वश मौन रह कर संकेत द्वारा ही अनुरागादि की अभिव्यक्ति कर देती है—

न्हाइ पहिरि पट्ट डटि कियौ, वेंदी मिस परनाम।
दृग चलाइ घर कौ चली, बिदा किये घनस्याम ॥ ६९९ ॥
लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीस छुआयो स्याम।
हरि सन्मुख कर आरसी हियै लगाई बाम ॥

३—विलक्षिता -

गुप्ता नायिका जब प्रयत्न करने पर भी भाव अथवा सुरत का गोपन नहीं कर पाती तो वह विलक्षित हो जाने के कारण विलक्षिता कहलाती है—

नाउँ सुनत ही ह्वै गयौ तन औरै मन और ।
दबै नही चित चढ़ि रह्यौ, अबै चढाए त्यौर ।।५६६।।

४-कुलटा—

अनेक-पुरुष-विषयक-रतिभावा अथवा अनिश्चितैककान्ता नायिका कुलटा कहलाती है—

लखि लोने लोयननु के कोयन होइन आजु ।
कौन गरीब निवाजिबौ को तूठ्यो रतिराजु ।।

यहां 'आजु' शब्द नायिका की नित्य नवीन-प्रेम-विषयक प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है ।

५—अनुशयाना—

जब संकेत स्थान के नष्ट होने के कारण, समय पर वहाँ न पहुँच सकने के कारण अथवा नायक से मिलने की सम्भावना न रहने के कारण नायिका पश्चात्ताप करने लगती है तो वह अनुशयाना कहलाती है—

और सबै हरषी हँसति, गावति भरी उछाह ।
तुंही बधू बिलखी फिरै, क्यों देवर के व्याह ।।६०१।।

देवर के व्याह के पश्चात् उसका प्रेम न मिल सकने की सम्भावना के कारण ही नायिका बिलखी फिर रही है ।

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति फिरि फिरि लेत उसासु ।
सांई-सिर-सित-केस लौं बीत्यौ चुनति कपासु ।।१३०।।

६—मुदिता—

अनुशयाना से बिलकुल विपरीत परिस्थिति वाली परकीया मुदिता कहलाती है। अर्थात् सम्भोग-सुख-प्राप्ति की सम्भावना से मुदित होने के कारण ही इसे मुदिता कहते हैं—

चलत देत आभारु सुनि उहीं परोसिहिं नाह ।
लसी तमासे की दृगनु, हाँसी आँसुन माँह ।।

साधारणी—

साधारणी अथवा वेश्या का वर्णन बिहारी सतसई में प्राप्त नहीं होता, वेश्या धन के लिये ही प्रेम करती है। इसीलिये शायद कुछ आलोचक बिहारी के निम्नलिखित दोहे में वेश्या का ही वर्णन मानते हैं—

ज्यों ज्यों पटु झटकति हठति हंसति नचावति नैन ।
त्यौं त्यौं निपट उदारहू फगुआ देत बनै न ।।

स्वकीया को फगुआ देने की प्रथा नहीं है इसलिये यह स्वकीया तो हो नही सकती। परकीया का वर्णन भी मध्यारूप तक ही उचित माना गया है परन्तु दोहे में जिन चेष्टाओं का वर्णन है वे प्रौढागत ही है। शायद इसीलिये इस नायिका को वेश्या मान लिया है।

नायक के प्रेम परिमाण पर आधारित भेद—

नायक का प्रेम जिस नायिका के प्रति अधिक उत्कण्ठापूर्ण होता है उसे आचार्यो ने ज्येष्ठा माना है तथा अपेक्षाकृत कम प्रिया नायिका को कनिष्ठा संज्ञा दी है। बिहारी के एक दोहे में इसका भी वर्णन है—

मिस ही मिस आतप दुसह, दई सबै बहराइ।
चले ललन मन भावतिहि, तन की छाँह छिपाइ ॥५२८॥

एक अन्य दोहे में बिहारी ने ऐसी नायिकाओं का चित्रण किया है जो इस विभाग के अन्तर्गत आती ही नहीं। दोनों के प्रति नायक का समान प्रेम व्यञ्जित होता है—

आयो मीत विदेश तें काहू कह्यो पुकारि।
सुनि पुलकी बिहँसी हँसी दोऊ दुहुन निहारि ॥

अवस्था-भेद से नायिकाओं के प्रकार

स्वाधीनपतिका—

जिस नायिका का पति अन्यत्र आसक्त न होकर उसके ही अधीन रहता है। उसका शृङ्गार करने में रुचि लेता है। पास में बैठा रहना चाहता है। वह नायिका स्वाधीनपतिका कही गई है। एक उदाहरण लीजिये—

कियौ जु चिबुक उठाइ कै कम्पित कर भरतार।
टेढीयै टेढी फिरति टेढै तिलक लिलार ॥

कृष्णाभिसारिका—

जब नायिका अँधेरे में कृष्णवस्त्र धारण कर प्रच्छन्न रूप से नायक के पास जाती है यह कृष्णाभिसारिका होती है—

निसि अँधियारी नील पट पहिरि चली पिय गेह।
कहौ दुराई क्यों दुरै दीपशिखा सी देह ॥२०७॥

शुक्लाभि सारिकाए

जुवति जोन्ह में मिलि गई नैकु न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरै लगी अली चली सँग जाइ ॥

बिहारी की प्रतिभा ने अभिसार के इन परम्परागत स्वरूपों के अतिरिक्त एक मौलिक प्रकार की ओर भी संकेत किया है जिसमें नायक नायिका दोनों ही वेष बदल कर—और एक दूसरे का वेष धारण कर अभिसार करते है—

राधा हरि हरि राधिका मनि आये संकेत ।
दम्पति रति बिपरीत सुख सहज सुरत हूँ लेत ।।

कलहान्तरिता—

जब नायिका प्रणय-कलह में प्रवृत्त होकर नायक की उपेक्षा करती है। तब कलहान्तरिता कहलाती है। नायक के निराश होकर चले जाने पर दु:खी भी होती है। सखियाँ दोनों के मिलाने का उद्योग भी करती है—

सौहे हू हेरचो न तै केती द्याई सौह ।
ऐहो क्यों बैठी किये ऐठी ग्वैठी भौह ।।
हम हारी कै कै हहा पायनु पारचो प्यौर ।
लेहु कहा अजहूं किये नेह तरेरे त्यौर ।।

वासकसज्जा

प्रसाधन से सज्जित होकर प्रियतम की प्रतीक्षा में लीन नायिका वासकसज्जा कहलाती है—

बेंदी भाल तँबोल मुख सीस सिलसिले बार ।
दृग आँजै राजै खरी एई सहज सिंगार ।।

विप्रलब्धा

संकेत स्थान पर जाकर भी जब नायिका नायक को नहीं पाती तब उसे विप्रलब्धा कहा जाता है—

साहस करि कुंजन गई लख्यौ न नन्दकिशोर ।
दीपसिखा सी थरहरी लगैं वयार झकोर ।।

विरहोत्कण्ठिता

रात्रि भर प्रतीक्षा करने पर भी नायक नही आता तो नायिका अत्यन्त उद्विग्न हो उठती है उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं—

नभ लाली चाली निशा चटकाली धुनि कोन ।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न ।। ११५ ।।

खण्डिता

अन्य नायिका के सम्भोग चिह्न धारण किये हुए प्रातःकाल ही यदि नायक नायिका के पास पहुँचता है तो वह खण्डिता कही जाती है। विरहोत्कण्ठिता से इसके वर्णन में यही भेद है कि इसमें नायक के संभोगचिह्नों का भी समावेश होता है।

पावक सो नैनन लगै जावक लग्यो जु भाल।
मुकुर होहुगे नैकु में मुकुर विलोकहु लाल॥

प्रोषितपतिका

प्रवासी पति की वियोगिनी नायिका प्रोषितपतिका कहलाती है। इसके तीन भेद है—प्रवसत्पतिका = जिसका पति परदेश में है, प्रवत्स्यत्पतिका = जिसका पति परदेश जाने वाला है और आगतपतिका = जिसका पति परदेश से आ तो गया है किन्तु उससे अभी मिलन नहीं हुआ है।

प्रवसत्पतिका

सुनत पथिक मुँह माहनिसि चलति लुवै उहि गाम।
बिन बूझै बिन ही कहै जियत बिचारी बाम॥२८५॥
कागद पै लिखत न बनत कहत संदेस लजात॥
कहिहै सब तेरौ हियौ मेरे हिय की बात॥
रह्यौ ऐंचि अन्त न लहै अवधि दुसासन वीर।
आली बाढत विरह ज्यों पांचाली को चीर॥ ३९९॥

प्रवत्स्यत्पतिका—

जिसका पति विदेश जाने वाला है और इसलिये उसे वियोग-व्यथा का अनुभव हो रहा है—

रहिहै चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी, कल न पलनु की ओट॥३९४॥
बिलखी डभकौहे चखन तिय लखि गवन बराइ।
पिय गहबरिआए गरैं राखी गरै लगाइ॥१९६॥

आगतपतिका—

रहे बरोठे में मिलत पिय प्राननु के ईसु।
आवत आवत ही भई विधि की घरी घरीसु॥२२३॥

दशाभेद से नायिका-भेद

भानुदत्त ने अपनी रस मञ्जरी में दशाभेद से नायिकाओं के तीन भेद किये हैं—अन्यसंभोगदुःखिता, गर्विता तथा मानवती। बिहारी की रचनाओं में इनके उदाहरण भी उपलब्ध हैं।

अन्यसंभोगदुःखिता

जब नायिका नायक के पास प्रेषित अपनी सखी दूती को सुरत-चिह्नो से नायक द्वारा सम्भुक्त अनुमान करती है अथवा सपत्नी के शरीर पर सुरत-चिह्नों को लक्षित करती है तब उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है और वह अन्यसंभोगदुःखिता कहलाती है। खण्डिता से इसमें यह भेद होता है कि खण्डिता के सामने सम्भोग-चिह्नों से युक्त प्रियतम आता है और प्रातःकाल आता है। उसे देखकर वह दुःखी और रुष्ट होती है किन्तु अन्यसंभोगदुःखिता के समक्ष उपभोग-चिह्नधारिणी अन्य नायिका आती है उसे देखकर वह दुःखी होती है:—

> खलित वचन अधखुलित दृग ललित स्वेदकन जोति।
> असन बदन छवि मदन की खरी छबीली होति।।

इस दोहे में संयोग-घटनार्थ-प्रेषित किन्तु स्वयं लब्धसुरतानन्दा दूती को नायिका द्वारा व्याजोक्ति के सहारे उपालम्भ दिया गया है।

> बिथुर्‌यौ जावक सौति पग निरखि रही अनखाय।
> पिय अँगुरिन लाली लखैं खरी उठी लगि लाइ।।

गर्विता

गर्विता के अनेक भेद हो सकते है—उदाहरण लीजिये।

प्रेमगर्विता

> कियौ जु चिबुक उठाइकै कम्पितकर भरतार।
> टेढीयै टेढी फिरति टेढै तिलक लिलार।।५१५।।
> औरै गति औरै वचन भयौ बदन रंग और।
> द्यौसक तैं पिय चित चढी, कहैं चढेऊ त्यौर।।६७७।।

सुरत-गर्विता

> तीज परब सौतिनु सजे भूषन बसन सरीर।
> सबै मरगजे मुँह करीं उहै मरगजे चीर।।

गुणगर्विता

सुघर सौतिबस नाह सुनि दुलहिहि अधिक हुलास ।
लखी सखी तन दीठि करि सगरव, सलज, सहास ।

मानवती

गह्यौ अबोलौ बोलि प्यौ, आपुहि पठै बसीठि ।।
दीठि चुराई दुहुन की लखि सकुचौंही दीठि ।।५८८।।

नायिका की सहायिकाएँ

विश्वनाथ महापात्र ने अपने साहित्य दर्पण में नायिका की सहायिकाओं की भी एक सूची दी है। दूती-भेद के प्रसङ्ग में उन्होंने सखी, नटी, दासी, धाय-पुत्री, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पकार की स्त्री आदि के उल्लेख के साथ स्वयं-दूतिका का भी प्रतिपादन किया है, किन्तु वास्तविक तथ्य तो यह है कि अन्य के अवलम्ब के बिना ही जिस प्रेम का विकास होता है वही प्रेम उच्चकोटि का होता है। "षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः" के अनुसार मध्यस्थ के कारण प्रेम का रहस्य खुल भी सकता है अतः चतुर नायिका प्रायः स्वयं दूतिका होना पसन्द करती हैं। यद्यपि बिहारी नायक नायिका के संघटन के लिये दूती को आवश्यक समझते हैं किन्तु सम्बन्ध जुडते ही उसे अलग कर देना भी उतना ही आवश्यक समझते हैं—

कालबूत दूती बिना, जुरै न और उपाइ ।
फिर ताकै टारैं बनैं, पाकैं प्रेम लदाइ ।।३९८।।

इसमें सन्देह नहीं कि दूती का कार्य बड़ा ही कठिन होता है। अपने पक्ष के प्रति दूसरे पक्ष में उत्कण्ठा तथा सहानुभूति को जागरित करने तथा निवेदित प्रणय को सफल बनाने का कार्य आसान नहीं है फिर प्रेम के जागरित हो जाने पर भी उसे सुरक्षित रखना, संकेत-स्थान निश्चित करना, मान की दशा में पारस्परिक विश्वास तथा सम्मिलन के लिये उचित भूमिका प्रस्तुत करना आदि व्यापार तो और भी दुःसाध्य है और यह सब कुछ करना पड़ता है अपने आपको प्रणय-सरोवर के जल से पद्मपत्र के समान असंपृक्त रखते हुए। बिहारी ने अनेकत्र दूती का सम्प्रयोग चित्रित किया है। नायक के हृदय में नायिका के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिये वह उसके समक्ष नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करती है—

बरजीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न ।
हरिनी के नैनान तै हरि नीके ये नैन ।।

और नायक के प्रति नायिका के भाव को देखना चाहती है इसीलिये वह उसके सौन्दर्य का भी वर्णन करती है—

मकराकृति गोपाल के कुण्डल सोहत कान ।
धस्यो मनहूँ हिय धर समर डचोढी लसत निसान ।।

प्रेमभाव उद्बुद्ध करने के पश्चात् अभिसार की प्रेरणा भी देती है—

गोप अथाइनु ते उठे गोरज छाई गैल ।
चल अलि बलि अभिसार की भली संझौखैं सैल ।।

एक दूसरे को पारस्परिक गलतफहमियों से बचाकर सद्भाव बनाये रखने का कार्य भी वह करती है—

तेह तरेरचौ त्यौर करि, कत करियत दृग लोल ।
लीक नहीं यह पीक की श्रुति-मनि झलक कपोल ।।११३।।

और दुर्भाग्य से फिर भी यदि कटुता उत्पन्न हो जाती है तो उसे दूर करना भी उसका कार्य है :—

चलौ चलैं छुटि जाइगौ, हठ रावरै संकोच ।
खरे चढाए हे ति अब, आए लोचन लोच ।। ५३३ ।।

अब स्वयं-दूतिका का भी एक उदाहरण लीजिये—

घाम धरीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज ।
जमुना तटनि तमालतरु मिलत मालती कुंज ।।

नायिका ने स्वयं ही मालती-कुंज में रमण करने की इच्छा नायक से प्रकट की है ।

नायक भेद

काव्य शास्त्रियों ने नायक के चार भेद माने हैं—दक्षिण, अनुकूल, शठ और धूर्त । बिहारी में इन सभी के उदाहरण मिलते हैं—

दक्षिण नायक

आयौ मीत विदेस तें काहू कह्यो पुकारि ।
सुनि पुलकी विहँसी हँसी दोऊ दुहुन निहारि ।।
गोपिन संग निसि सरद की रमत रसिक रसरास ।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास ।।

अनुकूल नायक

एकपत्नीव्रत रहता है अतः उसका अपराध खोजने पर भी नहीं मिलता—

राति द्यौस हौसै रहै मानु न ठिक ठहराइ ।
जेतो औगुन ढूंढिये गुनै हाथ पॅर जाइ ।।

शठ नायक

वह होता है जो अनुराग वास्तव में करता किसी से है और जताता किसी से है।

आये आपु भली करी मेटन मान-मरोर ।
दूरि करौ यह देखिहै छला छिगुनिया छोर ।।

यहाँ नायक मानिनी नायिका का (अनुनय-विनय से) मान दूर करने आया है किन्तु कनिष्ठिका में अन्य नायिका का छल्ला पहने हुए है। प्रेम का चिह्न अन्य नायिका का धारण किये हुए है और मना अन्य को रहा है यही उसकी शठता है।

धृष्ट नायक

जो अपराध करने पर भी शंकित नहीं होता, दोष सिद्ध हो जाने पर भी झूठे बहाने बनाता है और गाली तो गाली, मार खाने पर भी लज्जित नहीं होता, उस योगीसम समभाव महापुरुष को धृष्ट नायक कहते हैं। उदाहरण लीजिये—

मारचौ मनुहारौ भरी गारचौ खरी मिठाहिं ।
वाकौ अति अनखाइबौ मुसुकाहट बिनु नाहिं ।।

दुरै न निघर घटा दिये यह रावरी कुचाल ।
बिसु सी लागति है बुरी हंसी खिसी की लाल ।।

इस प्रकार सभी प्रकार के नायक-नायिकाओं के उदाहरण बिहारी की सतसई में मौजूद है। निःसन्देह उनका नायिकाभेद अधिक व्यापक है जिसमें ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हैं जो आचार्यो ने लक्षित नहीं किये। रीति परम्परा का पूरा-पूरा प्रभाव उन पर था और एतद्विषयक ग्रन्थों की उन्होंने गहन छान-बीन की थी, यदि उन्होंने कोई रीतिग्रन्थ लिखा होता तो वे हिन्दी काव्यशास्त्र के यशस्वी आचार्यों में भी अग्रगण्य होते, यह उनके काव्य में प्रकटित काव्यशास्त्रीय ज्ञान से स्पष्ट है। रीति-ग्रन्थों में नख-शिख-वर्णन, अलङ्कार, गुण, आदि का भी विवेचन मिलता है। बिहारी की सतसई में उन सब के उदाहरण भी विद्यमान है जिनके ऊपर आगे के पृष्ठों में प्रकाश डाला जायगा।

६—मुक्तक-रचना और प्रसङ्ग-विधान

मुक्तक शब्द का अर्थ ही 'मुक्तक' की विशिष्टता विशेष का परिचायक है। मुक्त शब्द से स्वार्थ (अपने ही अर्थ) में 'क' प्रत्यय लगाकर 'मुक्तक' बनता है। मुक्त का अर्थ है बन्धन-रहित अथवा स्वतन्त्र। मुक्तक रचना से तात्पर्य है ऐसी रचना जो अपने रसास्वादन में पूर्वापर अन्य छंद की मुखापेक्षी न होकर स्वतः समर्थ हो[१], अर्थ की व्यक्ति स्वयं कर सके—

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्[२]।

अर्थात् एकाकी ही सहृदयों के हृदय को चमत्कृत करने में समर्थ पद्य मुक्तक कहलाता है। मुक्तक को मुक्तक रखने के लिये—उसको स्वतःपूर्ण बनाने के लिये—मुक्तककार को अनेक बन्धन स्वीकार करने पड़ते हैं।

प्रबन्ध काव्य में सानुबन्धता होती है, एक प्रवाह होता है। उसके पद्य एक दूसरे के आधार पर टिके होते हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना से अनुप्राणित प्रबन्ध-पद्य-समुदाय में पद्य एक दूसरे की समृद्धि और गुणों का यथोचित लाभ उठाते हैं पर मुक्तक में प्रत्येक छन्द अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये स्वयं उत्तरदायी होता है। प्रबन्ध काव्य में छोटे, बड़े सभी व्यक्ति होते हैं और छोटे भी बड़ों के सहारे तर जाते हैं। उनका प्रभाव सामूहिक होता है, वे साथ साथ मिलकर काम करते है अतएव सरसरी तौर पर देखने से प्रत्येक का काम अलग होते हुए भी एक होता है और वे सभी समान रूप से उसके श्रेय के भागी होते हैं परन्तु मुक्तकों में निःशक्त व्यक्तित्व की कोई कद्र नहीं। उसकी नीरस रचनाएँ नीरस ही रहती हैं क्योंकि प्रबन्ध काव्यगत नीरस छन्दों की भाँति उन्हे सरस छन्दों की संगति से सरसता प्राप्त करने का संयोग ही नहीं प्राप्त होता। उदाहरण लीजिये—

कर लै सूँघि सराहि हूँ, रहे सबै गहि मौन।
गंधी अंध गुलाब कौ, गंवई गाहक कौन॥[३]

---

१ पूर्वा पर निरपेक्षेणापि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। (ध्वन्यालोक)

२ अग्नि पुराण ३३३-३३७

३ बिहारी सतसई, ६ ३

बिहारी की यह अन्योक्ति

सुनि पगधुनि चितई इतै, न्हाति दियै ही पीठि।
चकी झुकी सकुची डरी, हँसी लजी सी डीठि॥[1]
मिलि चलि-चलि मिलि, मिलि चलत आँगन अथयौ भानु।
भयौ मुहूरत भोर कौ पौरिहि प्रथम मिलानु॥[2]

इन दो सरस दोहों के बीच में रहकर भी अलग रहने के कारण तथ्य-कथनमात्र ही है। उनकी सरसता से सरस नहीं हो सकती किन्तु तुलसी की दोहावली का यह मुक्तक दोहा :—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय, तिन्हहिं विलोकत हानि॥

जो नीतिकथनमात्र होने के कारण हृदय में किसी भाव का सञ्चार नहीं करता, रामचरितमानस के विभीषण शरणागति प्रसंग में (राम के पार्षदों द्वारा शत्रु-पक्ष के व्यक्ति को शरण में लेने से मना किये जाने पर) राम की उक्ति के रूप में उनकी शरणागत-वत्सलता की छाप पाठक के हृदय पर लगा देता है जिससे वह उनकी महिमा और अपने हृदय में उनके प्रति श्रद्धा का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि प्रवाह के अभाव के कारण मुक्तकों में नीरसता फौरन खटकने लगती है जब कि प्रबन्ध की धारा में वह बहकर विलीन हो जाती है और उसे खोजने के लिये धारा के साथ काफी दूर तक चलना पड़ता है, फिर भी मिली मिली, न मिली। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध के विशाल क्षेत्र मे रस की पूरी सामग्री (विभाव, अनुभाव, सञ्चारी आदि) को सँजोने के लिए स्थान की कमी नहीं किन्तु मुक्तक की संकीर्ण परिधि में उनका समावेश करना आसान काम नहीं। जैसा कि कहा जा चुका है मुक्तक को 'मुक्तक' रखने में मुक्तककार को बँधना पड़ता है। जहाँ प्रबन्धकार को कहने-सुनने (अभिधा के प्रयोग) की अधिक सुविधा प्राप्त है वहाँ मुक्तककार को सकेत (व्यञ्जना) से ही काम लेना पड़ता है। बोलने का परिमित अधिकार होने के कारण उसे गिने-चुने शब्दों में अभीष्ट भावाभिव्यक्ति की जिम्मेदारी निबाहने के लिये अपनी भाषा को चुस्त, प्रवाहपूर्ण और सशक्त बनाना पड़ता है। दूर तक फैले हुए जीवन-क्षेत्र से उसे ऐसे मार्मिक दृश्य-खण्ड का चयन करना पड़ता है जिसका जीता जागता चित्र वह अपने छन्द की छोटी सी चित्रपटी पर प्रस्तुत कर सके। अपनी

१ बिहारी सतसई, ६२२
२ वही, ६२४

कल्पना से उसे ऐसे वातावरण की भी सृष्टि करनी होती है जिसमें अपने सीमित उपकरणों से ही वह भावों का साधारणीकरण करा सके। इसका मतलब यह नहीं है कि मुक्तक-रचना में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ है और प्रबन्ध रचना में सुविधा ही सुविधा। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ, सुविधाएँ और समस्याएँ हैं।

मुक्तक और प्रबन्ध में कला के निर्वाह भावों की अभिव्यक्ति, दृश्यविधान आदि में तो भेद होता ही है, उनके श्रोताओं की प्रतिभा के स्तर मे भी भेद अपेक्षित है। मुक्तक में प्रसग की कल्पना का भार प्रायः श्रोता के ही ऊपर छोड़ दिया जाता है। मुक्तक का रस लेने के लिये उसे स्वयं प्रसंग का अध्याहार करना पड़ता है। इससे मुक्तक को समझने और उसका आनन्द प्राप्त करने के लिये श्रोता की प्रतिभा का एक विशेष स्तर अपेक्षित है, और यही मुक्तककार की सबसे बड़ी जीत है—उसकी सब से बड़ी सुविधा है; क्योंकि इस प्रकार उसे सहृदय श्रोताओं की प्रतिभा द्वारा निष्पन्न कार्य का भी श्रेय तो मिलता ही है उसकी कल्पना पर अप्रासङ्गिकता का दोष होते हुए भी नहीं लग पाता। इसके विपरीत प्रबन्धकार की रचना के सौष्ठव का सारा दारमदार उसी की कल्पना पर निर्भर है। प्रसङ्ग-विधान अथवा कथा प्रवाह की जरासी शिथिलता से सब मिट्टी हो जाता है।

इन दोनों प्रकार की रचनाओं में उपर्युक्त भेद होते हुए भी इन्हें पूर्व-पश्चिमोन्मुख नहीं समझना चाहिये, इनका समन्वय हो सकता है, और होता है। यह ऊपर उदाहरण रूप में निर्दिष्ट तुलसी के दोहे से ही स्पष्ट सिद्ध होता है। मुक्तक के रसास्वादन के लिए प्रायः प्रसङ्ग के अध्याहार की आवश्यकता ही इस बात का प्रमाण है कि उसका उचित स्थान प्रबन्ध काव्य के बीच मे ही है। मुक्ताओं (मोती) को अकेले रखा जाय या वैसे ही सौ दो सो, पाँच सौ, सात सौ की संख्या में मंजूषा में भर कर बन्द किया जाय, उनका मूल्य कम नहीं होता परन्तु एक सूत्र में गुँथ कर जब वे हार का रूप धारण कर लेते हैं तो उनकी शोभा बढ़ जाती है, मूल्य भी कुछ न कुछ बढ़ता ही है तथा 'एक और एक ग्यारह' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। यही बात मुक्ताओं के विषय में भी है। समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान करने वालों का महत्त्व अपूर्व होता है।

मुक्तक में रस चाहे जितना लबालब भर दिया जाय फिर भी उसके सीमित आकार में रसभरता की इतनी गुञ्जाइश नहीं रहती जितनी प्रबन्ध काव्य के विशाल निर्झर में जिसे प्रवाह का सौभाग्य भी प्राप्त है, अतएव

मुक्तक से श्रोता या पाठक की इतने काल तक तृप्ति नही हो सकती जितने काल तक प्रबन्ध से। अर्थात् प्रबन्ध में मन को रमाने का मसाला निश्चित रूप से मुक्तक की अपेक्षा अधिक होता है, यानी प्रबन्ध का प्रभाव स्थायी होता है और मुक्तक का क्षणिक। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमें कथा-प्रसग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय से एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छीटे पडते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।[१] उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित जीवन या उसके किसी एक अङ्ग का प्रदर्शन नही होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मन्त्र-मुग्ध हो जाता है।[२]

मुक्तक का यह संक्षिप्तता दोष ही—जिसके कारण उसका प्रभाव क्षणिक होता है—उसका सबसे बड़ा गुण और सर्वप्रियता का मूलमन्त्र है। इसके कारण मुक्तक का प्रवेश ऐसे स्थानों पर भी हो जाता है जहाँ प्रबन्ध को उठाने की भी बात कोई नहीं सोच सकता। कवि-सम्मेलन मे प्रबन्ध-काव्य का पाठ करने वाला उपहास ही पा सकता है पर मुक्तककार दिये हुये थोड़े से ही क्षणों मे श्रोताओ की 'वाहवाही' लूट लेता है। "यदि प्रबन्ध-काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।"[३] वनस्थली की रमणीयता का आनन्द लेने के लिये साहस और समय दोनों अपेक्षित हैं, उसमें विचरण करना हलके-मोटे के बस की बात नही। फिर सभा सोसाइटियों की शोभा बढ़ाने के लिये वनस्थली को उठा कर नहीं ले जाया जा सकता। वहाँ तो गुलदस्ता ही फिट बैठता है। राजा भोज की सभा में किसी महाकवि का प्रबन्ध काव्य पढ़ कर क्षण भर में प्रचुर धन प्राप्त करने का उल्लेख नही मिलता, जो भी—चाहे वह धुना जुलाहा ही क्यों न रहा हो—वहां आया वह मुक्तक के ही बल-बूते पर। राज-सभाओं में आसन प्राप्त रीति-कालीन कवि मुक्तक द्वारा ही अपने आश्रयदाताओं को चमत्कृत कर अर्थ-लाभ करते थे। मुक्तक-रचना ने सभा-समाजों की चहल-पहल को प्रगति प्रदान की और सभा-समाजों ने मुक्तक को प्रोत्साहन दिया।

मुक्तक की अधिक-समय-निरपेक्षता और सद्यः प्रभाव की चर्चा करते

---

१ आ० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४७

२ वही पृष्ठ।

३ हिन्दी-साहित्य का इतिहास (आ० रामचन्द्र शुक्ल) पृ० २४७

हुए महाकवि भारवि से सम्बन्धित एक जनश्रुति का स्मरण हो आया जिसका उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। भारवि ने अपने महाकाव्य के अंतर्गत यह सूक्ति एक सेठ को एक लाख रुपये मे दी थी—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदा पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः[१]।

अर्थात् बिना बिचारे एकाएक कोई काम न कर बैठना चाहिये क्योंकि अविवेक बड़ी-बड़ी आपत्तियों का मूल होता है। सम्पत्तियाँ विचार कर पग उठाने वाले का स्वयं ही वरण करती है।

सेठ ने इसको लकड़ी की एक पट्टी पर लिख कर अपने कक्ष मे टाँग दिया। कुछ समय पश्चात् व्यापारिक कारणवश वह विदेश चला गया, परिस्थितियां ऐसी बनती चलीं गईं कि लगभग बीस वर्ष तक वह बाहर ही रहा। जिस समय वह घर से गया था, उसकी पत्नी गर्भवती थी। उचित अवसर पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया जो सेठ के लौटने तक युवा हो चुका था। सुदीर्घ काल के पश्चात् जब सेठ रात्रि के समय घर लौटा तो उसने अपने कक्ष में अपनी पत्नी के पास वाले शयन पर एक युवक को सोता पाया। सन्देह के आवेग में मानसिक सन्तुलन खोकर उसने उस युवक की हत्या करने के लिये तलवार खींच कर वार किया किन्तु वह पीछे लटकती हुई उसी पट्टी में उलझ कर रुक गई जिस पर उक्त श्लोक लिखा था। सेठ का ध्यान उधर गया, दृष्टि पट्टी पर पड़ी, सन्देह की पकड़ ढीली पड़ गई और विवेक का उदय हुआ। उसने अपनी पत्नी को जगा कर पूछा और एक क्षण पहले जिस युवक के प्राणों का ग्राहक बन रहा था उसे वात्सल्यातिरेक से भुजाओं में कस लिया। एक भयंकर दुर्घटना होने से रह गई। उपर्युक्त मुक्तक के स्थान पर यदि महाकवि का महाकाव्य ही होता तो न तो उसे इस प्रकार पट्टी पर लिखकर टाँगा ही जा सकता था और न ही उससे तलवार के रुकने पर उसे खोल कर पढ़ने की बात ही सन्देह के आवेग में सोची जा सकती थी। यह कथा चाहे प्रारम्भ से अन्त तक असत्य हो किन्तु मुक्तक के जिस गुण की ओर इङ्गित करती है वह सर्वमान्य है।

मुक्तक रचना सरस भी हो सकती है और नीरस भी। उसे सरस बनाने के लिए मुक्तककार वस्तु का वर्णन न करके अभिव्यञ्जन करता है। प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से एक मार्मिक खण्डचित्र लेकर उसमें वस्तु को इस

१ किरातार्जुनीय द्वितीय सर्ग।

प्रकार लपेटता है कि वह चित्र मे घुल-मिल कर भी अपनी अलग और स्पष्ट झलक दिखाती रहती है। यह चित्र अन्त:प्रकृति से भी लिया जा सकता है और बाह्य प्रकृति से भी—जङ्गम से भी और स्थावर से भी। मानव-जीवन और व्यंग्य का आधार मुक्तक की सरसता के लिये भी बडी जरूरी चीज है। जब तक मुक्तक में जीवन या जीवन के आनुषङ्गिक व्यापारो के मेल में आने वाला खंडचित्र लेकर कोई बँधान न बाँधा जायगा तब तक उसमें न तो सरसता ही आ सकती है और न वह अवसर के प्राप्त होने पर वैसा प्रभावशाली ही हो सकता है।"[1] उदाहरण के लिये बिहारी की उस प्रसिद्ध अन्योक्ति को ही लीजिये जिसमें बाह्य प्रकृति से 'अली और कली' के मानव-जीवन से अनुषक्त सम्बन्ध का एक कोमल दृश्य लेकर उसकी ओट से अपनी बात का कारगर तीर छोड़ा गया है। यदि बिहारी भारवि की उल्लिखित उक्ति जैसी शुष्क उपदेशात्मक उक्ति का आश्रय लेते तो विषम परिस्थिति में पड़ गये होते, उनका मन्तव्य तो सिद्ध होता ही नहीं, उलटे रसिक राजा की रंगरेलियों में विघ्न डालने का कुछ पुरस्कार भी प्राप्त करना पड़ जाता तो आश्चर्य न था। यही तो वह कान्तासम्मित उपदेश है जिसे मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में 'सद्य: परनिर्वृत्ति' के अनुपद ही रखा है[2]। अत: बिहारी का यह दोहा जिसका संकेत ऊपर किया गया है सरस मुक्तक की कोटि में आयेगा और महाकवि-भारवि का श्लोक वैयक्तिक रूप से नीरस मुक्तक की कोटि में ही स्थान पा सकेगा क्योंकि उसमें शुष्क नीति का कथन है, यह बात दूसरी है कि महाकाव्य (किरातार्जुनीय) में प्रसङ्ग के प्रवाह में वह भी सरस हो उठता है।

मुक्तक को समझने के लिये प्रसङ्ग या अनुवृत्त का अध्याहार करना पड़ता है, यह हम पीछे कह आये हैं। यद्यपि इस प्रसङ्ग तक पहुँचने का काम श्रोता या पाठक का है, तथापि उसका संकेत तो कवि को भी करना पड़ता ही है। यह संकेत इतना स्पष्ट होना चाहिये कि सामाजिक (सहृदय पाठक या श्रोता) सीधा गन्तव्य (प्रसंग) स्थान तक पहुँच जाय। वह यदि बीच में ही भटक गया तो मुक्तककार को भी अपने लक्ष्य से गिरा हुआ ही समझिये। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वही कवि सफलता-पूर्वक कविकर्म का निर्वाहक समझा जा सकता है। जो अधिक से अधिक सामाजिकों का हृदयानुरञ्जन कर सके। इस तथ्य को दृष्टिकोण में रखते हुये मुक्तककार के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि प्रसंगों का चयन सामान्य जीवन के क्षेत्र

---

१ बिहारी की वाग्विभूति (श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ २५।

२ काव्य प्रकाश समुल्लास १ कारिका २

से किया जाय, किसी शास्त्रीय गुत्थी, सिद्धान्त विशेष की प्रतिपत्ति या अप्रचलित पौराणिक कथा से नत्थी कर उसे मस्तिष्क का भार न बना दिया जाय। तात्पर्य यह है कि प्रसंग के आक्षेप में कठिनता और विविध प्रसगों की सम्भावना से पूरा परहेज ही मुक्तककला के पूर्ण विकास का विलास उपस्थित करने में सहायक हो सकता है। प्रसगों का चुनाव जितना मार्मिक होगा रसनिर्भरता उतनी ही पूर्णता लिये होगी। सूर का सूरसागर और तुलसी की कवितावली तथा गीतावली इस के उदाहरण हैं। इस सम्बन्ध मे एक बात उल्लेखनीय है, वह यह कि सूर और तुलसी ने केवल कृष्ण और राम की कथा से मार्मिक प्रसंग चुन कर मुक्तकों की सर्जना की है इसलिये मोटे तौर से उनके मुक्तकों में कथा का तारतम्य भी प्रतीत होता है। इस आधार पर इन्हे प्रबन्ध काव्य समझ लेने की भ्रान्ति न होनी चाहिये क्योकि इनमें सानुबन्धता का अभाव ही है।

ऊपर मुक्तकों के सरस और नीरस दो प्रकार बताये गये हैं। नीरस पद को देखकर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या नीरस रचनायें भी काव्य के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। इस प्रश्न के शास्त्रीय दृष्टि से अधिक विवेचन के लिये यहाँ स्थान नहीं हैं, सामान्य रूप से इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि जिन उक्तियों में रस का परिपाक या कोई ध्वनि नहीं भी होती उनमें से भी वे, जिनमें चमत्कारिता—चाहे वह अर्थ सम्बन्धिनी हो या शब्द सम्बन्धिनी—का गुण है, काव्य की नीची कोटि में रखी जा सकती है[1]। पर जिनमें चमत्कार-विधायकता भी नहीं है वे काव्य के क्षेत्र से बाहर वस्तु-कथनमात्र ही कही जा सकती हैं। बिहारी जैसे रससिद्ध कवि के मुक्तकों में भी ऐसी उक्तियाँ खोजने पर ही मिलेंगी।

रस की सामग्री से रहित केवल चमत्कार उत्पन्न करने वाली उक्तियाँ हिन्दी साहित्य में सूक्तियों के नाम से प्रसिद्ध है। सूक्ति शब्द का अर्थ है अच्छा कथन। नित्य प्रति के व्यवहार मे आने वाले अनेक तथ्यों को सूक्तिकार ऐसे मर्मस्पर्शी ढंग से कहता है कि वह हृदय में दूर तक पैंठती चली जाती हैं वह कोई नई बात नहीं कहता बल्कि पुरानी बात को ही इस प्रकार सामने रखता है कि वह नई सी दीख पड़ती है। इसके लिये सूक्तिकार में तीन गुणों का होना आवश्यक है। सबसे पहला गुण जीवन का विस्तृत अनुभव और ज्ञान का अच्छा भण्डार है जिसके बिना सूक्ति की आधार-शिला ही असम्भव है। पारलौकिक, ऐहिक, धार्मिक, नैतिक सामाजिक, आदि विषयों में से निकला

१ शब्दचित्रमर्थचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। वही, प्रथम समुल्लास।

हुआ व्यक्ति ही उसके लिये उपयुक्त सामग्री जुटा सकता है। दूसरा किन्तु पहले से भी अधिक आवश्यक गुण है 'प्रत्युत्पन्नमतित्व'। ठीक अवसर पर न चूक कर उचित चोट करना अथवा ऐन मौके पर फबती हुई बात अकस्मात् कह बैठना ही 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' है। हाज़िरजवाबी को इसी के अन्तर्गत समझना चाहिये। बीरबल का नाम जनसाधारण में आज भी उसकी केवल इसी खूबी के कारण लिया जाता है। तीसरा लेकिन सबसे महत्वपूर्ण गुण है वक्रकथन्। जिस प्रकार 'सीधी अँगुली से घी नही निकलता' उसी प्रकार सीधी उक्ति से उपदेश भी मन मे नही पैठता। बाद-विवाद या बहस-मुबाहसे से जो बात गले नही उतर पाती वह वैदग्ध्यपूर्ण वक्रकथन द्वारा क्षण भर में हृदय की तह में पहुंचाई जा सकती है। निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति सुप्त स्मृति-भण्डार में से प्रस्तुत घटना से मेल खाती हुई बातों को चुनकर एकाएक सम्बन्ध न घटित कर सके उसे अपनी प्रत्युत्पन्नमति और सभाचातुरी का गर्व न करना चाहिये। दृष्टान्त सूक्तिकार् का सबसे बड़ा बल है। यदि उक्ति का बाँकपन तलवार की धार है तो दृष्टान्त तलवार की मूठ है। मूठ पर जितना अधिकार रह सकेगा प्रहार उतना ही गम्भीर और मर्मभेदी होगा[1] सही, किन्तु धार जितनी तीखी होगी पैठ उतनी ही गूढ़, सुगम और विह्वल-कारिणी होगी।

नीरस मुक्तक के दूसरे प्रकार में शुष्क नीतिकथन या तथ्योक्तियाँ आती है जिनमे न तो भावों को उद्बुद्ध करने की ही शक्ति होती है और न शब्द तथा अर्थ की विलक्षण योजना द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता ही नीतिकार कवियो की रचनाओ का एक बहुत बडा भाग इसी टाइप की उक्तियों का है। शेष सूक्तियां हैं और काव्यत्वपूर्ण रचनायें बहुत कम है बिहारी शृंगार के रससिद्ध कवि थे। उनके अधिकांश मुक्तक रस-निर्भर है सूक्तियाँ अपेक्षाकृत बहुत कम है और कोरे नीतिकथनों का एक दम अभाव हैं। इसका कारण यह है कि नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये बिहारी ने सदा ही ऐसे दृष्टान्त युक्तियाँ और ढंग अपनाये हैं कि उनकी रचना में वाग्विदग्धता का स्वतः प्रवेश हो जाता है और वह शुष्क नीति उपदेश न रह कर सूक्ति बन जाती है।

बिहारी की प्रसिद्धि उनकी सूक्तियों के कारण नही है अपितु सरस मुक्तकों के कारण है। सरस मुक्तकों का इतिहास बड़ा पुराना है। विद्वानों ने इसका सम्बन्ध भारत में आभीर जाति के आगमन और अधिवास से जोड़ा

---

१ डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित सतसई-सप्तक की भूमिका, पृ० ८

है। इस जाति के यहाँ आने और बस जाने से । यहाँ का साहित्य दो प्रकार का था—अध्यात्मवाद अथवा मोक्षवाद से बद्ध तथा कर्मकाण्ड-विषयक। पहले प्रकार के साहित्य की सर्जना पूर्वीय प्रदेश में हुई और दूसरे प्रकार के साहित्य की मध्यदेश मे। पूर्वी आर्य अध्यात्मवादी और परम्परा मुक्त थे इसलिये उन्होंने उपनिषद्, दर्शन आदि आध्यात्मिकता-प्रधान ग्रन्थो का प्रणयन किया। अयोध्या, काशी और मगध इनके गढ़ थे। मध्यदेशीय आर्य रूढि के कट्टर पक्षपाती और स्वर्गवादी थे, इसलिये उनका साहित्य, ब्राह्मण ग्रन्थ, सूत्र ग्रथ (श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र), स्मृति और इतिहास-पुराण आदि के रूप में प्रादुर्भूत हुआ। इनके गढ कान्यकुब्ज आदि मध्यप्रदेश के प्रान्त थे। उक्त दोनों ही प्रकार का साहित्य पारलौकिक साहित्य कहा जा सकता है जिसमें परलोक को बनाने की धुन में इस लोक की पूरी उपेक्षा की गई है। किसी तत्व के विवेचन, विधि के प्रतिपादन, पौराणिक या ऐतिहासिक पुरुष के चरित्र से सम्बन्धित होने के कारण इसकी रचना धारावाहिक हुआ करती थी। ईस्वीय सन् के पश्चात् एक और प्रकार की रचना का भी आविर्भाव हुआ जो फुटकल पद्यों में स्वत: पूर्ण तथा अन्यत्र निरपेक्ष रूप में होती थी। इसका विषय पारलौकिक नही था बल्कि सवा सोलह आने ऐहिक था। इस साहित्यिक क्रान्ति का श्रेय आभीर जाति के सम्पर्क को ही प्राप्त है। आभीर जाति परलोक की मनोरम कल्पना न करके इसी जीवन में आनन्द और उल्लास का भरसक अनुभव करती थी। जब गम्भीर प्रकृति वाले आर्यो की शिक्षा और संस्कृति का योग आभीरों के निर्द्वन्द्व जीवन से हुआ तो वे भी स्वर्ग का पीछा छोड़कर उसी धरती पर आनन्द खोजने लगे, जिस पर रहते थे, गृहस्थ जीवन के प्रति उनका भी आकर्षण बढ़ने लगा। इस प्रवृत्ति का प्रभाव जीवन के द्वारा साहित्य के क्षेत्र में भी प्रविष्ट होना स्वाभाविक ही था जिसकी पहली अभिव्यक्ति ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग हाल द्वारा संकलित 'सतसई' में हुई इसका प्रभाव बाद के संस्कृत साहित्य पर भी पड़ा और शृङ्गार की सुकुमार भावनाओं से ओत-प्रोत मुक्तको की रचना होने लगी। मयूर, अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धनाचार्य आदि संस्कृत के अनेक मुक्तककार हुए।

संस्कृत के कवियों में उत्तरोत्तर स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता आती गई। सामान्य की ओर से खिंचकर उनका दृष्टिकोण विशेषपरक होता गया। हाल की सतसई में जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ जैसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है वैसा संस्कृत-साहित्य में बहुत ही कम दीख पड़ता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ायें और

उनका घात- प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रस रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों को प्रेम-गाथायें, ग्राम-बधूटियों की श्रृङ्गार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सीचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन चित्रण आदि बाते इतनी जीवित, और इतनी हृदयस्पर्शी है कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है।[1]

रीतिकालीन कवियो का आदर्श ह्रासोन्मुख संस्कृत-साहित्य ही रहा था, अतएव 'वर्ण्य-विषय' और 'कला' दोनों की दृष्टि से उनपर इसका बड़ा भारी प्रभाव लक्षित होता है। संस्कृत के प्राचीन खेवे के कवि नगरों, राजवंशीय व्यक्तियों और तत्सम्बद्ध उच्चवर्ग के वर्णन के अतिरिक्त वन और वनवासियों की ओर भी नज़र उठाकर देखते थे। मुख्य रूप से उच्चवर्ग का वर्णन होने पर भी उनकी कविता में सामान्य जीवन की झाँकियाँ भी कुछ कम नहीं हैं, पर पिछले खेवे के कवियों ने प्रकृति और उसके क्रोडपालितों से सम्बन्ध विच्छेद करके राजसी-ठाठ में ही अपनी रुचि की सामग्री पाई। साधारण लोगों के जीवन को टटोल कर उसमे कविता के योग्य कुछ देखने का प्रयास उन्होंने नही किया और काव्य को मानो उन्मुक्त हरे-भरे विशाल क्षेत्र से उठाकर सुनहरी दीवारों में बन्द कर दिया। उनके नायक-नायिकाओं की केलि-भूमि प्रमद-उपवनों और प्रासादों तक ही सीमित रही और उसी अनुपात से उनका प्रेम-भाव भी अपनी समस्त वृत्तियों के साथ पूर्ण विकसित न होकर संकीर्ण ही रहा। उसके स्वाभाविक विकास के लिये अवसर ही न मिला। परन्तु प्राकृत के कवियों ने प्राकृत जीवन का ही मुख्य रूप से चित्रण किया। ग्राम-बन्धुओं और पल्लीवासी युवकों की प्रणय-केलियाँ जिनकी विलास भूमि शस्यश्यामला भूमि थी, गाथासप्तशती में सर्वत्र चित्रित है। प्राकृत-परम्परा में इस प्रवृत्ति का उतना ह्रास नहीं हुआ जितना संस्कृत-परम्परा में हो गया था और बिहारी ने इस प्राकृत-परम्परा से बहुत कुछ लिया यह हम पीछे कह आये है। बिहारी में जो भी थोड़े बहुत सामान्य जीवन-सम्बन्धी अनुवृत्त प्राप्त है उनका कारण यही है, परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है युग की विशेषताओं से इनका भी प्रभावित होना स्वाभाविक ही है, इसलिये इनकी रचना में उच्चवर्ग के जीवन का पर्याप्त वर्णन है और उन्होंने बार-बार नागरता की ही दुहाई दी है। उनकी सामान्य-जीवन विषयक उक्तियों की अपेक्षा उच्चवर्ग के जीवन से सम्बद्ध उक्तियाँ ही अधिक मार्मिक है। इससे स्पष्ट है कि बिहारी युग के प्रतिनिधि होते हुए भी जनता के प्रतिनिधि

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका (आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ० ११३

कवि नही थे। बिहारी ही क्या रीतिकालीन साहित्य ही जन-साहित्य नहीं कहा जा सकता।

जीवन के एक विशेष पक्ष को ही आधार मानकर चलने के कारण बिहारी में प्रसंगों की विविधता के दर्शन कम ही होते है, अधिकतर वही नायिकाभेद का पिष्टपेषण है। उनकी नायिका सखी, सौत और पडोसिन-पड़ोसियों के झमेले में पड़कर मानो अपने मूल स्वरूप को ही भूल गई है। कही वह सखियों द्वारा प्रियतम को उसके पैरों पर डालने पर भी त्यौर चढ़ाये हुए दीख पड़ती है[1] तो कहीं पडोसिन के हाथ में अपने पति की अँगूठी देखकर छल से उसे ले आती है और उसे दिखाकर मुसकान से मान की सूचना देती है[2] और कभी उसके पलकों पर पीक, अधर पर अंजन और मस्तक के महावर को देखकर तुनक जाती है।[3] खण्डिता-नायिका और सौत के पचडे गाने में ही बिहारी ने अपनी सतसई का लगभग एक तिहाई भाग खर्च कर डाला है। शृङ्गार की बँधी-बँधाई रूढ़ परम्परा से वे चिमटे हुए नहीं तो तत्परता के साथ लगे हुए अवश्य प्रतीत होते हैं। प्रेम की पुष्टि के लिये काल और क्षेत्र मे विस्तार की योजना उन्होंने आवश्यक नहीं समझी, इसलिए उनकी उक्तियों में अनेक प्रसंग आने से रह गये। यदि वे प्रयत्न करते तो प्रकृति के अनेक चित्रों प्रेम के विविध स्वरूपों, उसके विकास के विभिन्न स्तरों और व्यापारों के अन्य भेदों की भी अवतारणा कर अपने वर्ण्य-विषय का पर्याप्त विकास कर सकते थे।

परम्परा से बँधे रहकर भी बिहारी ने रूढ प्रसंगों को नये ढँग से प्रस्तुत कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। पुराण-वाचक पण्डित जी की 'परकीया' को प्रस्तुत करने के साथ उनकी बगुलाभक्ति और समाज की कमजोरी की ओर निम्नलिखित दोहे में कितने मार्मिक ढंग से संकेत किया है।

परतिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कसु कर राखी मिश्रहू, मुँह-आई मुसकानि[4] ॥

'परोपदेशे पाण्डित्यम्' के कायल कोई पौराणिक महोदय पुराण के अन्तर्गत परस्त्री-प्रेम के पाप की व्याख्या कर रहे थे, पर खुद इस मर्ज के मरीज थे। उनकी प्रेयसी भी दैवयोग से वहीं बैठी हुई कथा सुन रही थी। यह उपदेश देते हुए ज्योंही उनकी नजरें मिलीं, वह मुसका गई और पण्डिजी उसके

१ बिहारी सतसई, १०७
२ वही ३७८
३ वही २३
४ वही २६४

अभिप्राय को समझ कर बड़ी कठिनता से हँसी रोक सके और अपनी इज़्जत बचा पाये।

यही नही, कहीं-कही बिहारी ने नये प्रसङ्गो की भी उद्भावना की है। शृङ्गारिकता के साथ-साथ किसी-किसी उक्ति में तो मनुष्य की उस स्वाभाविक कमजोरी पर, जिसके कारण वह अनेक प्रकार की छलपूर्ण बाते बना कर अपना पेट भरना चाहता है और खुद मरीज होते हुए भी दूसरे के मर्ज को जड़ से खो देने का पक्का दावा करता है, इतना करारा व्यङ्ग्य किया है कि वह तिलमिला कर रह जाता है। एक वैद्य जी की चाल देखिये:—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैदबधू, हँसि भेद सौ, रही नाह-मुँह चाहि॥[1]

वैद्यराज, जो स्वयं नपुंसक हैं बड़ा अहसान तोड़कर और अपनी औषधि की तारीफ़ के पुल बाँधकर किसी बेचारे नपुंसक को पारद-भस्म दे रहे हैं और उनकी पत्नी उनके इस कारनामे पर उन्हें देखकर मुसका रही है, परन्तु उसका हृदय मानो रोता हुआ कह रहा है—"धन्य है तुम्हारा ढौंग, यदि यही बात है तो पहले अपना रोग तो दूर कर लिया होता।"

इसी प्रकार ज्योतिषी जी के ज्योतिष-ज्ञान और सूझ की दान देते हुए उनके शोक तथा हुलास में सहानुभूति का योग दीजिये; पर हमें विश्वास है कि आप सहानुभूति से दूर रहकर हास का ही योग देंगे:—

चित पित-मारक जोगु गनि, भयौ भयै सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझै जारज-जोगु॥[2]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बिहारी ने प्रसंगों की उद्भावना में जहाँ कहीं मौलिकता का प्रदर्शन किया भी है, वहाँ भी वे वर्ण्यविषय के उस मार्ग से बहुत दूर नहीं हटे जो प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने निर्धारित किया था और जिस पर अब तक अधिकतर लोग चलते आये थे। रूढि पर टिके रहने के कारण ही कहीं-कहीं उनके प्रसंग साधारण पाठकों की समझ से बाहर हो जाते हैं। उनके लिये काव्य-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है—रूढियों की जानकारी आवश्यक है:—

नैक उतै उठि बैठियै, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नहदी छिनकु महदी सूखन देहु॥[3]

---

१ बिहारी सतसई ४७६
२ वही ५७३
३ वही १६७

नायिका ने महदी से अपने नाखून रचाये है, उसका पति घर में उसी के सामने बैठा है। प्रेम के आतिशय्य के कारण नायिका को स्वेद सात्विक हो जाता है और उसकी महदी सूख नही पाती (क्योंकि स्वेद नाखूनो से भी टपक पडता है या अन्य अंगो से बह कर वहाँ तक पहुँच जाता है) इस मुसीबत को देखकर नायिका की सखी स्नेह भरे हलके से उपालम्भ सहित नायक से कहती है कि "तनिक यहाँ से उठकर उधर कहीं बैठ जाओ, क्या घर में घुसे बैठे हो ? यह नाखूनों में लगाई हुई महदी छूटी जाती है, इसे क्षण भर के लिये सूख तो जाने दो" जिन्हें काव्य शास्त्र में प्रतिपादित सात्विक स्वेद की जानकारी नही है उनके लिये यह दोहा पहेली बन जायेगा। महदी के गीले होने तक ही मामला रहता तो भी गनीमत थी पर जब नायक प्रेयसी का केश-प्रसाधन करता हुआ वेणी गूँथने लगा तो उस बेचारी के बड़ी कठिनाई से सुखाये हुए बालों से पानी झड़ने लगा और उसे स्वयं नायक को एक मीठी झिड़की चखानी पड़ी:—

रहौ, गुही बेनी, लखे, गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाए बार॥[1]

बस माफ कीजिये, आपने वेणी गूँथ ली, आपकी गूँथने की सब चतुराई देखी गई, देखते नहीं जो बाल बड़ी कठिनाई से सुखाए थे उनसे पानी टपकने लगा है। पूर्वजों के द्वारा प्रेयसी-केश-प्रसाधन की प्रथा और सात्विक स्वेद का जिन्हें ज्ञान नहीं वे इस दोहे पर आकर चकरा जायेंगे, पर उन्हें क्या पता कि पुराने नायकों के हाथों को इस सिलसिले में नायिका के सिर से पैर तक की लम्बी यात्रा करनी पड़ती थी, पैरो मे महावर भी लगाना पड़ता था:—

बिथुरचो जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज हँसौही लखि लियौ, आधी हँसी उसासु॥[2]

अपनी सौत के पैरों में महावर फैला हुआ देख कर नायिका (उसके फूहड़पन पर) हँस पड़ी। अपनी बेशऊरी पर सब को लजाना पड़ता है। सौत लजाई तो पर साथ ही मुसकाई भी, बस इस मुसकान से नायिका समझ गई कि यह उसका (सौत का) 'अनाड़ीपन' नही सौभाग्य है। उसके चरणों में पति ने ही महावर लगाया है और स्पर्श-जनित सात्विक 'कम्प' के कारण वह फैल गया है। यह जान कर वह हँसती-हँसती एकदम गम्भीर हो गई और दुःख के कारण उसाँस लेने लगी। आज का नायक प्रेम-केलि

१ बिहारी सतसई, ४७७
२ वही, ६०४

में नायिका के प्रसाधन-प्रसग मे 'लिपस्टिक' का प्रयोग कर देना तो खुशी से चाहेगा, पर समवयस्कों में हँसी उड़ने के डर से ही सही, चरण-रञ्जन करना पसन्द न करेगा। ठीक भी है, समानाधिकारों के युग में कोई किसी के चरण क्यों छुए ? पर एक युग था जब भोजप्रबन्ध[1] के कालिदास को अपनी नायिका के इंगित पर सिर मुंडाना पड़ा था और स्वयं महाराजा भोज को अपनी प्रियतमा को सवारी देकर (पीठ पर बैठा कर) हार्न देते हुए गधे का पार्ट अदा करना पड़ा था। खैर, इन बातों में बहक कर हमें दूर नही जाना है, बस इतना समझ लेना चाहिये कि परम्परागत रूढियों को जाने बिना ऐसे प्रसंग समझ में नहीं आ सकते। बिहारी ने इस प्रकार के अनेक प्रसंगों की योजना की है।[2] कहीं-कहीं तो प्रसंग इतने गूढ़ हो गये हैं कि साधारण पाठक की तो कौन कहे बड़े-बड़े विद्वान् टीकाकार भी भ्रम में पड़ गये हैं।[3] एक-आध पौराणिक प्रसंग भी इतने गूढ कर दिये गये है जो आसानी से गम्य नहीं:—

रवि-वन्दौ कर जोरिए, सुनत श्याम के बैन।
भए हँसौहे सबन के, अति अनखौहे नैन॥ (२२४)

गोपियाँ नग्न होकर यमुना में स्नान कर रही थीं, कपड़े उतार कर किनारे पर रख दिये थे। कृष्ण चुपके से आये और उनके कपडे लेकर कदम्ब-वृक्ष पर जा चढे, बहुत प्रतीक्षा करने पर भी जब उन्होंने कपड़े न दिये तो वे क्रुद्ध होकर जल से बाहर आईं, लज्जावश अपने गुह्य अङ्गों पर उन्होंने दोनों हाथ रख लिये थे। इस मुद्रा में आकर उन्होंने गुस्से में भर कर अपने कपड़ों की माँग की। इस पर कृष्ण ने कहा कि पहले हाथ जोड़ कर सूर्य को प्रणाम करो (तब कपड़े मिलेंगे) कृष्ण की इस बात को सुनकर गोपियों के क्रोध भरे नेत्र (कृष्ण की चतुराई भरी बात सुनकर) हास्योन्मुख हो गये। इस पौराणिक कथा को न जानने वाला लाख सिर पटकने पर भी दोहे की गुत्थी को सुलझाने में समर्थ नहीं हो सकता।

यह सब कुछ होते हुए भी बिहारी की प्रसंग-योजना बडी स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी ही कही जायेगी क्योंकि उनके अधिकांश प्रसंग सहज-गम्य हैं, बहुतों में सामान्य जीवन की घटनाएँ वर्णित है और अनेकों में रस की पूरी सामग्री एक साथ सँजोई हुई मिलती है। यह सब कुछ भाषा की आश्चर्य-

---

१ भोज प्रबन्ध

२ देखिये, बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ५२-५३ (तृ० सं०)

३ बिहारी सतसई, ६३२

जनक चुस्ती और कसावट से ही सम्भव हो सका। नायिकाभेद के अन्तर्गत ही बडे साफ प्रसंगों का कल्पना देखे ही बन पड़ती है:—

> खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि।
> आक कली न रली करै, अलीअली जिय जानि ।।

नायिका ने किसी अन्य स्त्री के प्रति अपने पति के गुप्त प्रेम की बात किसी से सुनी और उस पर विश्वास करके मानिनी बन बैठी', उसको समझा-बुझा कर रास्ते पर लाने की कोशिश करती हुई सखी कहती है "तू कान की बड़ी पतली है, यह तेरी कैसी बहाऊ (चाहे जिधर बह जाने की) आदत है, सखि ! सत्य समझ, भौरा अर्क की कली पर कभी विहार नहीं कर सकता (तुझ पद्मिनी के सामने तो वह स्त्री जिस पर अपने प्रियतम के रीझने की भ्रान्ति तुझे हो गई है, आखे (मदार) की कली के समान है) कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसंग तक पहुँचने में साधारण पाठक को भी कोई रुकावट नहीं पड़ती। दूसरा उदाहरण लीजिये:—

> आयौ मीत बिदेस तैं, काहू कह्यौ पुकारि।
> सुनि हुलसीं विहँसी दोऊ, दोऊ दूहुन निहारि ।।[२]

नायक परदेश से आया है, उसे देखकर उसके किसी मित्र ने पुकार कर कहा "कहो मित्र आगये" सँयोग से उस समय नायक की दो परकीया नायिकाएँ एक साथ बैठी थीं, उनके कान में जब ये शब्द पड़े तो वे मन में बड़ी प्रसन्न हुईं और एक दूसरी की ओर देख कर हँस पड़ी। प्रसंग बहुत साफ है, एक दूसरी की ओर देखकर हँसने से दोनों के परकीयाभाव को समझने में कोई अड़चन नहीं पड़ती।

अब रूढि से अलग सामान्य जीवन से सम्बद्ध एक प्रसंग देखिये जिसमें समाज के शैथिल्य के साथ लम्पटता पर व्यङ्ग्य की गुप्त मार की गई है:—

> बहकि न इहिं बहिनापुली जब तब बीर बिनास।
> बचै न बड़ी सबील हूँ, चील-घोंसुवा माँस ।।[३]

किसी लम्पट ने एक सुन्दरी से बहिन का नाता जोड़ा जो उसे अपने ही जैसा सरल समझती थी। उसे सावधान करती हुई सखी की यह उक्ति है, "हे सखि ! इस बहिनापे के चक्कर में न पड़, अन्यथा कभी न कभी ढेर हो

---

१ बिहारी सतसई १४

२ वही, ६५६

३ वही ३५४

जायेगा, कितनी ही बड़ी युक्ति क्यो न की जाय चील के घोंसले में माँस बच नहीं सकता। प्रसंग बिल्कुल स्पष्ट है और उसके साथ-साथ लम्पटता पर कितना करारा कटाक्ष है? मानवता को कैसी मौके की चुनौती है? ढोंग को कैसी हृदय हिलाने वाली धिक्कार है! पुरुषत्व को कैसी वज्र सदृश फटकार है और पवित्र सम्बन्ध की छीछालेदर पर कितना मार्मिक अन्तः क्रन्दन है।

रसनिर्भर मुक्तको की अपेक्षा सूक्तियो में सामान्य जीवन के दैनिक अनुभव से संगृहीत प्रसंगों की संख्या और प्रभविष्णुता अधिक है। चमत्कारक दृष्टान्तो की योजना करने में और नित्य के जीवन से असाधारण प्रभावोत्पादक दृष्टान्त खोज कर अपने वक्तव्य का समर्थ करने में बिहारी बड़े से बड़े सूक्तिकार से टक्कर ले सकते हैं, पर वे सूक्तिकार हैं नहीं क्योकि सूक्तियों की संख्या उनके शृङ्गारिक मुक्तकों की अपेक्षा बहुत कम है। अस्थायी पद पाकर भी नीच को कितना घमण्ड हो जाता है और काम पड़ने पर (नीच का भी) लोग आदर करते है पर काम निकल जाने पर पूछते तक नहीं, इन दोनों लक्ष्यों की पुष्टि मे श्राद्ध-पक्ष में कौवों को बलि देने के प्रसंग का उल्लेख प्रभावोत्पादक है:—

दिन दस आदर पाइ कैं, करि लैं आप बखान।
जौ लगि कागा: सराध पखु, तौ लगि तुव सनमान।।[1]

हे काग! दस दिन (थोड़े से दिन) आदर पाकर घमण्ड करके, तेरा यह सम्मान तभी तक है जब तक श्राद्ध पक्ष चल रहा है।

———

१ बिहारी सतसई ४३२

७–वर्ण्य-विषय

रीतियुग की कविता का क्षेत्र बड़ा संकीर्ण रहा है। वर्ण्य-विषय की विविधता के दर्शन उसमें नहीं होते। काव्याङ्गों के लक्षण-उदाहरण, फुटकल शृङ्गारिक रचनाएँ और उन्हीं के अन्दर टूटा-फूटा प्रकृति-चित्रण, आश्रय-दाताओं की प्रशंसा, भक्ति और नीति विषयक कुछ उक्तियाँ, बस, साधारणतया ये ही कवियों के प्रिय विषय थे। बिहारी ने कोई लक्षणग्रन्थ नहीं लिखा, उनकी भक्ति और नीति विषयक उक्तियों का विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। बिहारी के लिये यह परम गौरव की बात थी कि पेट भरने के लिये उन्हें अपनी आत्मा के विरुद्ध आश्रयदाता की झूँठी-सच्ची प्रशंसा नहीं करनी पड़ी, ठकुर-सुहाती कहने की उनकी प्रवृत्ति थी भी नहीं, तो भी उनका सम्मान दर्जनों आश्रयदाताओं के नाम पर कोड़ियों ग्रन्थों का प्रणयन करने वाले उन स्तुतिगायक कवियों से अच्छा था जो हीनवीर्य आश्रयदाताओं के शौर्य से इन्द्र का सिर धरती में गड़ा देने का महान् कार्य करते थे, उनकी कुरूपता के सौन्दर्य से चन्द्रमा को पाण्डुर और उनकी दुर्विदग्धता के गौरव से गुरु को पीला बनाकर सुयश से पहले अर्थसञ्चय करके अपने आप को कृतार्थ मानते थे। बिहारी की सतसई में मुश्किल से एक प्रतिशत दोहा आश्रयदाता की प्रशंसा में है, वह प्रशंसा भी चाटुकारी नहीं है। इस विषय में उनका प्रथम दोहा यह है—

> रहति न रन, जयसाहि-मुख, लखि लाखन की फौज।
> जाँच निराखरहू चलै, लै लाखन की मौज[१]॥

जयसिंह की वीरता का साक्षी तत्कालीन इतिहास है। फ़ारसी के इतिहास ग्रन्थ 'मआसिल उमरा' में निजामशाही राज्य के एक बड़े मनसबदार 'लक्खोजी जादो' का उल्लेख है। यही 'लक्खो जी जादो' छत्रपति शिवाजी के नाना थे और इन्हें जयसिंह ने युद्ध में पराजित किया था, विजय के उपलक्ष्य में धन न्योछावर करना भी असम्भव नहीं। राजकुमार रामसिंह के जन्म के उपलक्ष्य में भी उन्होंने बहुत कुछ दान दिया था जिसका वर्णन कवि ने इस दोहे में किया है—

---

१ बिहारी सतसई ८०

चलत पाइ निगुनी गुनी, धन मनि-मुतिय-माल ।
भेंट होत जय साहिसौं, भाग चाहियत भाल ।।[१]

राजा लोगों से भेंट होना कठिन ही होता है, फिर वह जमाना तो कुछ और ही था ! पुत्र जन्म के उत्सव पर दान देते समय निर्गुण और गुणवान् का ध्यान कौन करता है ? प्रत्येक को उसके अनुरूप दान देना ठीक ही है । इसी अवसर पर शीशमहल में एक राजदरबार हुआ जिसमें अनेक राजा पधारे थे, उसमे जयसिह का वर्णन कवि ने इस रूप मे किया है—

प्रतिबिबित जयसाहि-दुति दीपति दरपन-धाम ।
सब जग जीतन को करचौ, काय-ब्यूह मनकाम ।।[२]

कहने की आवश्यकता नही कि यह उक्ति भी निराधार नहीं है, फिर सौन्दर्य की अपेक्षा जयसिह की वीरता की ही इससे अधिक व्यञ्जना होती है जिसका प्रमाण उन्होंने अनेक युद्धो में दिया था । अन्त में कवि ने उनकी बलख की लड़ाई का वर्णन है जिसमें उन्होंने बडी चतुराई से अपनी घिरी हुई सेना की रक्षा की थी—

सामाँ सेन सयान की सबै साहि कै साथ ।
बाहुबली जयसाहि जू, फते तिहारे हाथ ।।
यौ दल काढे बलक तैं, तैं जयसिह भुवाल ।
उदर अघासुर कै परै, ज्यौ हरि गाइ गुवाल ।।

उनके इस उपकार से कृतज्ञ होकर प्राण संकट में पड गये सैनिकों की पत्नियाँ अपने अपने स्वामी को सकुशल पाकर इस अद्वितीय सेनानी को 'असीस' क्यों न दें—

घर घर तुरकिनि हिन्दुनी, देति असीस सराहि ।
पतिन राखि चादर चुरी, तैं राखी जयसाहि ।।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बिहारी अपने आश्रयदाता की झूँठी प्रशंसा नहीं करते थे, उन्हे आत्मगौरव का पूरा ध्यान था ।

वास्तव में बिहारी की कीर्ति का आधार न तो उनकी नीति और भक्ति विषयक उक्तियाँ ही है और न ही मिर्जा राजा जयशाह का आश्रय । उसका आधार उनके वे दोहे है जिनसे रस का ऐसा अलौकिक स्रोत अजस्र फूटता रहता है जिसमें डूबने वाले तर गये और न डूबने वाले डूब गये—

अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ।

---

१ बिहारी सतसई १५६
२ बिहारी सतसई १६७

रस और भाव

मानव मन की वृत्तियाँ अथवा भाव संख्यातीत हैं जो हृदय में उसी प्रकार रमे रहते है जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध अथवा तिलों में तेल। भाव मनुष्य के अन्तस् का धर्म होने के कारण केवल अनुभवगम्य है। साहित्य-शास्त्रियो ने भावों को स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव और सात्विक भाव इन पाँच वर्गों में विभाजित किया है। अन्तिम चार प्रकार के भावो की सहायता से स्थायीभाव प्रबुद्ध होकर प्रबलतम आनन्दानुभूति के रूप में परिणत होता हुआ 'रस' कहलाता है। स्थायी भाव भरत ने आठ माने है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। ये ही आस्वाद्य रूप में क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रस कहलाते हैं। मम्मट के निर्वेद को स्थायी भाव मानकर 'शान्त' रस को भी मान्यता दी है। जिस प्रकार गंगा में पड़ कर सभी नदियों का जल गंगाजल के गुण प्राप्त कर लेता है, स्वयं गंगाजल में कोई विकार नहीं हो जाता उसी प्रकार स्थायी भाव भी अनेक प्रकार के भावों से विकृत नहीं हो पाता अपितु उन्हें अपना ही अंग बना लेता है।

विभाव आलम्बन और उद्दीपन रूप से दो प्रकार के होते है। जिस पर स्थायी भाव अवलम्बित रहता है वह आलम्बन विभाव होता है और जिससे स्थायी भाव की उद्दीप्ति होती है वह उद्दीपन विभाव कहलाता है। जिस व्यक्ति का रत्यादि स्थायी भाव प्रबुद्ध होकर आस्वाद्य बनता है वह उसका आश्रय कहलाता है और उसकी चेष्टाएँ अनुभाव।

कर्मेन्द्रियों के सहारे जब आन्तरिक भावों की चेष्टा व्यापार आदि के रूप में स्थूल अभिव्यक्ति होती है तो वे अनुभाव कहलाते हैं। इन्हीं से मिलते-जुलते ८ सात्विक भाव होते हैं। 'सत्त्व' हृदय की वह वृत्ति है जो दूसरे के सुख-दुख में हमारे अंतःकरण को अनुकूल बनाती है जिससे खेद, हर्ष, रोमाञ्च अश्रु आदि प्रकट होते हैं। यही सात्विक भावों का रूप है। सात्विक भाव आठ होते हैं—स्तम्भ, प्रलय रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु और स्वरभंग। लज्जा हर्ष आदि के कारण शरीर की संचालन क्रिया का वन्द होना स्तम्भ है। प्रलय में ज्ञान क्रिया भी जाती रहती है। वैवर्ण्य वर्ण के बदल जाने को कहते हैं और वेपथु कंप को।

जिन भावों का किसी रस विशेष से सम्बन्ध नही होता और जो स्थायी भाव के मध्य में संचार करते हुए उसे व्यापकता और उत्कर्ष प्रदान करते हुए सागर में लहरों के समान उठकर शान्त होते रहते है वे संचारीभाव कहलाते हैं।

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम ये नव स्थायी-भाव होते है जो उद्दीपनादि से आस्वाद्य होकर क्रम से शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक और शान्त रस के रूप में परिणत हो जाते हैं। वत्सलता को स्थायीभाव मानकर वात्सल्य नाम के दसवें रस को भी स्वीकार किया गया है।

रसराजत्व का प्रश्न—

अपनी अपनी रुचि के अनुसार कवियो ने भिन्न-भिन्न रसो को प्राथमिकता प्रदान की है। हास्य, रौद्र, भयानक और वीभत्स को तो कदाचित् किसी ने भी प्राथमिकता नही दी। महामति धर्मदत्त ने प्रत्येक रस के साररूप चमत्कार को दृष्टिकोण मे रखकर अद्भुतरस को ही सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि उसके स्थायीभाव विस्मय का अस्तित्व सभी रसों के मूल में पाया जाता है। उनके अनुसार,

रसे सारश्चमत्कार: सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस: ।।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि क्या रत्यादि स्थायीभाव की आस्वाद्यता एकमात्र विस्मय पर ही निर्भर है? वस्तुत: रसमात्र की अनुभूति के मूल में निहित विस्मय उस जाति का है ही नहीं जिसका अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय है। यदि उसे मान भी लिया जाय तो भी आस्वाद्य स्थायीभाव के सामने उसकी स्थिति नगण्य है। अत: विस्मय को सर्वोच्च स्थायीभाव और तदनुसार अद्भुतरस को सर्वश्रेष्ठ रस नहीं माना जा सकता।

भवभूति ने 'एक: रस: करुण एव' कह कर करुण रस को प्रधानता दी है। भारतीय साहित्य के इतिहास में करुण रस का बड़ा भारी महत्त्व माना भी गया है। क्रौञ्च-मिथुन में से एक के दारुण वध को देखकर ही आदि कवि के करुण कण्ठ से कविता की पहली पंक्ति फूट निकली थी। हमारे विचार से तो करुणरस में निराशा का सर्वग्रासी आधिपत्य होने के कारण उसे प्रधानता नहीं दी जा सकती।

वीररस का स्थायीभाव उत्साह एक महत्त्वपूर्ण स्थायीभाव है किन्तु परिणाम में वह विघटक है संयोजक नहीं। यह सत्य है कि उत्साह के आवेश में महत्तम कार्य का सम्पादन हो सकता है किन्तु विकासोन्मुख सुव्यवस्थित रूप में समष्टि के सघटन का कार्य इस भाव द्वारा कहाँ तक हो सकता है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जानबूझ कर केवल

पाशविक शक्ति प्रदर्शन के हेतु हुए युद्धों की संख्या भी कुछ कम नहीं रही है। हाँ, दानवीर और दयावीर के उत्साह में दैवी वृत्तियों का वैशिष्ट्य अवश्य ही अनौचित्य की आशंका के विचार के बिना ही स्वीकार्य है। अतः वीररस की श्रेष्ठता अंशतः ही सिद्ध होती है।

कुछ विद्वानों के अनुसार शान्तरस ही सर्वप्रमुख है। इस विषय में यह कथन बड़ा प्रसिद्ध है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः ॥

फिर भी शान्तरस की श्रेष्ठता विवादग्रस्त ही है। भरत मुनि ने आठ ही रस माने हैं। संस्कृत के बहुत से आचार्यों ने शान्तरस का प्रत्याख्यान किया है। दृश्य काव्य में 'शम' का कोई महत्त्व नहीं क्योंकि शम में एक प्रकार से समस्त क्रिया शून्यत्व का आविर्भाव होता है जिसका अभिनय कष्टसाध्य ही है। इसके अतिरिक्त शान्तरस के स्थायीभाव के विषय में ही बड़ी खींचतान है। कुछ आचार्य शम को इसका स्थायीभाव मानते है और कुछ निर्वेद को। सुख, दुख, चिन्ता, द्वेष, राग, ईर्ष्या, इच्छा आदि से रहित इस रस में संचारी भावों की संभावना भी विचारणीय है। इन सब कारणों से शान्तरस की सर्वश्रेष्ठता भी प्रकट रूप से प्रश्नसूचक चिह्न का विषय बन जाती है।

शृङ्गार का रस राजत्व

शृंगार के पक्ष में बहुत से विद्वानों का मत है और इसके लिये प्रबल कारण भी हैं। भोजदेव ने अपने शृङ्गारप्रकाश में शृंगार को ही प्रमुख रस माना है—

शृंगार वीर करुणाद्भुतरौद्र हास्य—
वीभत्सवत्सल भयानकशान्तनाम्नः;
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृंगारमेव रसनाद्रसमाननामः।

महाकवि देव ने सभी रसों का अन्तर्भाव शृंगार मे मानते हुए उसे ही मूलरस सिद्ध किया है—

तीन मुख्य नौहू रसनि द्वै-द्वै प्रथमनि लीन।
प्रथम मुख्य तिन तिहूँ में दोऊ तिहि आधीन ॥

हास्यरु भय सिगार सँग, रुद्र करुन सँग बीर।
अद्भुत अरु बीभत्स सँग, बरनत सांत सुधीर॥
ते दोऊ तिन दुहू जुत, बीर सांत्ति में आय।
संग होत शृंगार ताते सो रसराय॥

वास्तव में शृंगार के स्थायीभाव रति अथवा प्रेम का क्षेत्र अतीव व्यापक है। हृदय की जितनी प्रवृत्तियों का इस से सम्बन्ध है उतनी भावनाओं का किसी अन्य स्थायीभाव से नहीं। संसार के कवियों को जितना इस भाव ने लुभाया है उतना किसी अन्य ने नही। अखिल विश्व में व्याप्त प्रेमरस की अविच्छिन्न बहती हुई धारा का उद्घाटन ही प्रायः कवियों का लक्ष्य रहा है। यह संसार का एक महान सत्य है। 'महाकवि बैली (Baily) के शब्दों में—

Poets are all who love, who feel great truths;
And tell them, and the truth of truths is love.

अर्थात् वे सब कवि हैं जो प्रेम करते हैं और महान् सत्यों की अनुभूति तथा प्रतिपादन करते है और परम सत्य प्रेम है।

इस प्रेम के अनेक रूप हैं : पति पत्नी के बीच में यह रति के रूप में रहता है और माता-पिता या गुरुजन एवं बालक के बीच में वात्सल्य का रूप धारण करता है। देवताओं और गुरुओ के प्रति इसका रूप भक्ति कहलाता है और सम्माननीय आप्त पुरुषों के प्रति यह श्रद्धा बनकर आता है। इसका उत्कर्ष आश्रय के हृदय को महान् से महत्तर करता चला जाता है। मानव से लेकर जीव-जन्तुओं और जड़ जगत् तक में इसका प्रसार है। वृक्ष और लताओं का प्रेम-वर्णन कवियों की कल्पना ही नही है आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित एवं साधित ध्रुव तथ्य है। शृंगार रस के इस स्थायीभाव के क्षेत्र की व्यापकता उसे रसराज बनाने के लिये काफी है। शृंगार के दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत जितने संचारियों की गति है उतने किसी भी रस में खोजे न मिलेंगे किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि जुगुप्सा आदि विरुद्ध भावों को भी खींचतान कर शृंगार की सीमा में जबर्दस्ती धकेला जाय जैसाकि आचार्य केशव के इस पद में मिलता है—

टूटि टाटि घुन घने घूम धूमसेन सने,
झींगुर छगोड़ी साँप विच्छिन की घात जू।
कंटक कलित तिन बलित बिगंध जल,
तिनके तलप-तल ताको ललचात जू।

कुलटा कुचील गात अन्ध तम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू ।
छेड़ी में घुसे कि घर ईंधन के घनश्याम,
घर घरनीनि मँह जात न घिनात जू[1] ।

इस प्रकार की अनर्गलता से साहित्य के क्षेत्र में बड़ी भारी भ्रान्तियाँ फैल जाती हैं ।

वास्तव में आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा संयोग शृंगार में वर्जित है ।[2] फिर भी कतिपय संचारियों के निकल जाने से शृंगार के रसराजत्व का कुछ नहीं बिगड़ता । हृदय के विस्तार का मार्मिक स्वरूप शृंगार में ही देखा जाता है; अन्य रसों की अपेक्षा अधिकतम संचारियों का सम्बन्ध इससे है, अतएव इसका रसराजत्व बहुमत से सिद्ध है । बिहारी ने अपनी सरस्वती में इसी रस की तरंगित पीयूषधारा को बहाया जो शताब्दियों से न केवल सहृदयों के हृदय को आप्लावित करती रही है अपितु बिहारी को भी अमर बना चुकी है ।

भारतीय साहित्य परम्परा में प्रेम के दो स्वरूप मिलते हैं—लोक-सम्बद्ध और ऐकान्तिक । लोकसम्बद्ध प्रेम का क्षेत्र विस्तृत होता है उसमें सागर की गम्भीरता, हिमालय की उत्तुंगता, बज्र की दृढ़ता और लावण्य की तरलता सब कुछ मिलकर जैसे एकमय हो जाती हैं । यह प्रेम लोक के कल्याण में साधक बनकर आता है । अपने स्वार्थ के लिए लोककल्याण का बलिदान इसे अभीष्ट नहीं । राम और सीता का प्रेम ऐसा ही था । लोकहित को दृष्टि में रखते हुए ही राम ने सीता को त्याग दिया था, इसलिये नहीं कि वे उसके चरित्र की ओर से शंकित थे या उनका प्रेम विलुप्त हो गया था । ऐकान्तिक प्रेम में मनुष्य की वृत्तियाँ विश्वभर से खिच कर प्रेम-पात्र में ही केन्द्रित हो जाती है । यह प्रेम किसी का भी व्यवधान पसन्द नहीं करता 'तीन लोक से न्यारी मथुरा' में इसका एकच्छत्र शासन रहता है । अपनी रँगरेलियाँ अपनी वेदना और अपने हास-सदन से इसे फुर्सत नहीं । श्रीकृष्ण के प्रेम को कुछ लोग ऐसा ही बताते हैं कि वस्तुतः कृष्ण का प्रेम प्रारम्भ में चाहे ऐकान्तिक रहा हो किन्तु परिणाम में वह लोककल्याण की भावना में ही अपना अस्तित्व विलय करता देखा जाता है । अपनी केलि-भूमि व्रज, यमुना के प्रशान्त कछार, करील के कुञ्ज, मधुवन का उन्मुक्त आँगन, पल्लवित कदम्ब की छाया, सहचर

---

१ रसिक प्रिया, १४-३२ ।

२ आलस्यौग्रम् जुगुप्सा संयोगे वर्ज्याः । रसतरङ्गिणी पृ० ५६

ग्वाले, सहचरी ब्रजबालाएं और आयताक्षी राधा, सब कुछ छोड़कर कृष्ण मथुरा चले गये, यशोदा का वात्सल्य छोडा, नन्द का दुलार त्यागा और भुला दी, गोकुल की धमड-चौकड़ी जिसमें माखन और दधि की लूट मचती थी। क्यों ? कंस के अत्याचारों से लोक का उद्धार करने के लिए और फिर लोक-कल्याण में ऐसे फँसे कि लौटे ही नही। इस प्रेम को भी ऐकान्तिक कहा जा सकता है ? इस प्रेम का अंकुर व्रज की गली में फूटा था, सुदीर्घ साहचर्य की कोमल भावधारा से यह सिक्त हुआ, विविध लीलाओं का प्रकाश पाकर गोचारण के उन्मुक्त वातावरण मे उच्छ्वसित हुआ और रूप-रस का सञ्चार पाकर पल्लवित हुआ, फिर तो यह फैलता ही गया; इतना फैला कि ब्रज के विशाल क्षेत्र को इसने आवृत्त कर लिया। यह प्रेम ऐकान्तिक नहीं हो सकता। किन्तु यह प्रेम ऐकान्तिक बना दिया गया। कवियों की महिमा ही निराली है। वे तिल का ताड़ और ताड का तिल बना सकते हैं। उन्होंने इसके लोक-सम्बद्ध पक्ष को छोड़ दिया। इसके विस्तृत क्षेत्र की व्यापकता को उनकी आँखें समेट न सकीं। इसलिये उन्होंने इसे संकीर्ण स्थान में बन्द कर दिया। यमुना, कुञ्ज, कदम्ब, गोचारण, गिरिधारण सब कुछ नाममात्र के संकेतमात्र रह गये जैसे किसी देश के नक्शे में पहाड़ और नदियाँ। यहाँ तक कि राधा-कृष्ण भी वे न रहे। नायिकामात्र राधा बना दी गई और नायकमात्र कन्हैया। यह था रीतिकाल की विलासी प्रवृत्ति का नया अंकुर जिसकी जड़ें उत्तर-कालीन संस्कृत साहित्य की शृंगार परम्परा से इसे ग्रहण कर पुष्ट हो रही थीं। विलासी नायक-नायिकाओं का प्रेम सेजों पर ही अधिक रहा, महलों में भी उसने रँगरेलियाँ मनाईं, कभी-कभी उपवनों में भी उछल-कूद मचाई और यदा-कदा वापियों में जाकर जलक्रीड़ा का आनन्द भी लिया। उसके सामने एक ही व्यक्ति था 'प्रेम-पात्र', बस। गगन के अगम विस्तार को नापने वाला पंछी सोने के पिंजरे में बन्द कर दिया गया। बिहारी भी इस जगवायु से कैसे बच सकते थे।

बिहारी के प्रेम का आदर्श

सैद्धान्तिक रूप में बिहारी ने प्रेम को अत्यन्त गम्भीर मनोभाव स्वीकार किया है, भले ही उसे नरपशु गोपद सदृश समझते हों किन्तु रसिक जन का गिरि सदृश उच्च हृदय भी उसमें डूब जाता है, डूब ही नहीं जाता, डूबकर स्वयं को कृतार्थ भी मानता है। प्रेम को वे शुद्ध सात्त्विक भाव मानते हैं, उसमें छल कपट आदि के तमोगुणी भावों के लिये तो स्थान है ही नहीं रजोगुण तक का स्पर्श भी मलिनता ही उत्पन्न करने वाला है—

जो चाहौ चटक न घटै मैलो होय न मित्त ।
रजराजस न छुग्राइये नेह चीकने चित्त ।।३९५।।

सौन्दर्य की सफलता प्रेम में है। प्रेम रहित सौन्दर्य वन्ध्यवृक्ष के समान है। महाकवि कालिदास ने 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' कहकर सौन्दर्य की सार्थकता प्रिय के प्रेम की प्राप्ति में मानी है। बिहारी ने प्रेम को ही सौन्दर्य का प्राण माना है—

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनौ दीपक देह ।
तऊ प्रकासु करै तितौ भरियै जितै सनेह ।।

ग्रर्थात् जिस प्रकार सुन्दर, सुडौल एवं बत्ती से युक्त भी दीपक उतना ही प्रकाश करता है जितना स्नेह (तेल) उसमें भरा जाता है, उसी प्रकार सुन्दर, सुघर, ग्रौर गुणयुक्त शरीर भी उतना ही प्रकाश (शोभा) धारण करता है जितना उसमें प्रेम होता है।

प्रेम के निर्वाह की तुलना चौगान खेल से करते हुए बिहारी कहते हैं—

सरस सुमिल चित तुरंग की करि करि ग्रमित उठान ।
गोह निबाहैं जीतिये खेलि प्रेम चौगान ।।

जिस प्रकार चौगान के खेल में सफलता प्राप्त करने के लिये उसे पुष्ट ग्रौर सधे हुए घोड़े पर सवार होकर ग्रनेकानेक उठानें (धावे) करके गेंद को प्रतिद्वन्द्वी से छुपाकर सोत्साह ग्रन्त तक ले जाना ग्रावश्यक है उसी प्रकार प्रेम को सफल बनाने के लिए सरस मनोहर हृदय की ग्रनेकानेक उठानों (भावों) को (ग्रस्पृहणीय जन से) गुप्त रखकर ग्रन्त तक निवाह ले जाना जरूरी है।

सच्चे प्रेमी को ग्रपने प्रेमपात्र के ग्रवगुण भी गुण ही प्रतीत होते हैं— जेते ग्रौगुन ढूँढियै गुनै हाथ परिजाय।" एक प्राकृत कवि ने यही बात इस प्रकार कही है :—

दूरं गएवि कयविप्पिए वि ग्रन्नत्थ बद्धराए वि ।
जत्थ मणं न नियत्तइ तं पेम्मं परिचग्रो सेसो ।। वज्जरपग्गम् ३४०

प्रिय के दूर चले जाने पर, ग्रप्रिय कर देने पर तथा ग्रन्यत्र ग्रासक्त हो जाने पर भी यदि मन विमुख नहीं होता तो समझ लीजिये प्रेम है, बाकी तो सब परिचय मात्र है। बिहारी भी वियोग में प्रेम के इसी उदात्त स्वरूप को ग्रौर भी निखरा हुग्रा पाते हैं। वियोग में प्रेम घटता नहीं बढ़ता है :—

नैंक न झुरसी विरह झर नेहलता कुम्हिलात ।
नित नित होति हरी हरी खरी झाल रति जाति ।।६८।।

महाकवि कालिदास भी यही कहते है कि कुछ लोगों का कथन है कि प्रवास से प्रेम का ह्रास हो जाता है किन्तु वास्तविकता यह है कि विरह मे अभीष्ट वस्तु (प्रिय का प्रेम) के उपभोग का अभाव रहता है इसलिये (उसके प्रति अधिकाधिक औत्सुक्य होने के कारण) प्रेम बढता ही है—

स्नेहानाहु किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा–
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा: प्रेमराशी भवन्ति ।।

महाकवि की इस धारण का कारण यह है कि वे प्रेम को लौकिक एव शारीरिक सम्बन्ध नही मानते । उनकी दृष्टि मे यह एक दिव्य वस्तु है तथा हृदय और आत्मा का सम्बन्ध बिहारी ने इस बात को और भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है । उनकी एक नायिका अपने प्रियतम से कहती है—

कहा भयौ जौ बीछुरे मो मन तो मन साथ ।
उड़ी जाउ कितहू गुडी तऊ उड़ायक हाथ ।।५७।।

प्रिय के साथ मे घोर आपत्तियाँ भी सुखमय है । वाल्मीकि की सीता ने प्रिय के साथ में बन की कठिनाइयों को भी कुछ नहीं समझा, पर बिहारी की नायिका को तो प्रिय के साथ मे नरक की भी 'धडक' नहीं—

जो लहिए संग सजन तौ धरक नरक हू कौन ।

बिहारी ने चातक के स्थान में चकोर को आदर्श प्रेमी के रूप में स्वीकार किया है जो अपने प्रियतम चन्द्रमा की किरणों को ही ग्रहण करता है और उसके वियोग में आग की चिनगारियाँ ही चुनना पसन्द करता है :—

चितु दै देखि चकोर ज्यों तीजै भजै न भूख ।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद मयूख ।।५४४

प्रेम प्रेमियों के हृदय और प्राणों को एक बना देता है । उसके रास्ते में कोई भी वस्तु संसार की कोई भी शक्ति—रोड़ा बनकर नही आ सकती—

उनकौ हित उनहीं बनै कोऊ करौ अनेक ।
फिरत काकगोलक भयो दुहूँ देह ज्यों एक ।।४४५

ज्ञान क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय तथा भक्ति-क्षेत्र में उपासक और उपास्य की एकला की भाँति प्रेम-क्षेत्र में प्रेमी और प्रिय की एकता प्रेम का चरम विकास है—

प्रिय के ध्यान गही गही वही है नारि ।
आपु आपु हीं आरसी लख रीझति रिझवारि ।।

सौन्दर्य-भावना और रूप-वर्णन

प्रेम अथवा श्रृङ्गार का स्थायीभाव रति है, जो पूर्णतया सौन्दर्याश्रित है। सौन्दर्य-रहित वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं उदासीनता का भाव हृदय में उद्बुद्ध होगा और कुरूप वस्तु के प्रति तो घृणा का ही भाव उत्पन्न होने की अधिक संभावना रहती है। परन्तु सौन्दर्य स्वयं एक सापेक्ष शब्द है। जिस वस्तु को एक व्यक्ति सुन्दर मानता है उसी को दूसरा असुन्दर कह सकता है अथवा वह हमें भी किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा कम सुन्दर प्रतीत हो सकती है। इसलिये सौन्दर्य की कोई एक निश्चित सर्वग्राह्य परिभाषा नहीं दी जा सकती। जितने हृदय उतनी ही सौन्दर्य की परिभाषा। बिल्ली को दूध मलाई अच्छी लगती है तो लगा करे, उसकी रुचि उसके साथ रही किन्तु ऊँट को तो बबूल की काँटेदार शाखा में जो रस मिलता है वह अन्यत्र नहीं। अतः "भिन्नरुचिर्हि लोकः" को मानते हुए और "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" को दृष्टिकोण में रखते हुए प्रतीत होता है कि सौन्दर्य विषयगत उतना नहीं जितना विषयीगत है। 'जिसे पिया चाहे वही सुहागिन' वाली लोकोक्ति भी सौन्दर्य के विषयीगत पक्ष को ही महत्त्व देती है, जिस सौन्दर्य का कोई प्रशंसक नहीं वह वन में खिले हुए पुष्प के समान है, जिसका कोई कद्रदाँ नहीं वह बन्दर के सामने रखा हुआ अदरक है या मुर्ग़े के सामने पड़ा हुआ मोती। सौन्दर्य की परख सहृदयता की कसौटी पर ही हो सकती है। हृदय-हीन व्यक्ति सौन्दर्य की क्या परख करेंगे। फूल्यो अनफूल्यो रह्यो गँवई गाँव गुलाब।' बिहारी कहते हैं कि—

> समैं-समैं सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय।
> मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय॥

यही बात एक संस्कृत के कवि ने इस प्रकार कही है—

> मधु मधुरं दधि मधुरं, द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव।
> तस्य तु तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

अर्थात् दही, मधु, द्राक्षा और मिश्री, सभी मीठे होते है कि जिसे जो पसन्द है उसके लिये वही मधुर है।

इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेम से सौन्दर्य उत्पन्न होता है सौन्दर्य से प्रेम नहीं, किन्तु प्रश्न यह उठता है किसी वस्तु के प्रति आकर्षण क्यों होता है? सौन्दर्य के कारण? यदि सौन्दर्य हमारे मन की ही वस्तु है तो किसी वस्तुविशेष अथवा व्यक्तिविशेष के प्रति ही वह क्यों अनुभूत होता है?

आचार्य शुक्ल ने विशेपव्यक्ति के प्रति आकर्षण को ही प्रेम माना है, चाहे जिसकी ओर दौड़ पड़ने की प्रवृत्ति को वे प्रेम नहीं, लोभ मानते हैं। तो क्या हम किसी वस्तु को इसलिए सुन्दर मानते हैं कि हम उससे प्रेम करते हैं या उससे इसलिये प्रेम करते हैं कि वह सुन्दर है ? माँ अपने अतिकुरूप बालक को भी प्यार करती है इससे तो 'मन की रुचि जेती जितै' वाली धारणा ही ठीक प्रतीत होती है किन्तु सामान्य रूप से मनुष्य का किसी वस्तुविशेष के प्रति ही आकृष्ट होना प्रकट करता है कि उस वस्तु में ही कुछ वैशिष्ट्य है। रत्न का मूल्य जौहरी के हृदय में नहीं रहता, रत्न में ही निहित होता है। साधारण मनुष्य उसे नहीं जानता तो इससे उस रत्न का मूल्य कम नहीं हो जाता। उल्लू सूरज को नही देखता इसमें सूरज का न तो कोई दोष ही है और न उसका कुछ महत्व ही घटता है—

सीतलतारु सुगन्ध की महिमा घटी न मूर।
पीनस बारै तज्यौ सोरा जानि कपूर ॥

लाख रत्नों में छिपाने पर भी 'कोहनूर' छिप नहीं सकता, अनजान व्यक्ति भी जो रत्नों की परख से अनभिज्ञ है उसी की ओर देखने लगेगा, तो सौन्दर्य विषयगत हुआ। बिहारी की उक्ति से तो ऐसा ही प्रतीत होता है—

बाल छबीली तियन में बैठी आपु छिपाय।
अरगट सी फानूस पैं, परगट परै लखाय ॥

जो वस्तु सुन्दर है उस पर सब मुग्ध होंगे ! साधारण से साधारण और उच्चकोटि का विशेषज्ञ सहृदय—

हौं रीझी लखि रीझि हौं, जबहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होति दुति मिलति मालतीमाल ॥

तो क्या सौन्दर्य विषयगत है ? फिर वही प्रश्न आ जाता है कि यदि सौन्दर्य विषयगत होता तो बिहारी गँवई गाँव में विकसित गुलाब की दशा पर दुखी न होते। यदि सौन्दर्य वस्तुगत ही है तो क्यों बीन के बजने पर सर्प झूमने लगता है, चपल हरिण अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता और भैंसें कान खड़े कर, सूँघकर नाक चढाती हुई हट जाती है सोचती है कि यह सानी तो है नहीं ? अतः यह प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण भी उचित नही जँचता। सौन्दर्य का मानसिक पक्ष—द्रष्टा की ग्राहकता—भी उतनी ही प्रधान है जितनी वस्तु की सुन्दरता। इसलिए अन्त में बिहारी समन्वयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचते है और सौन्दर्य के दोनों पक्षों—द्रष्टा की ग्राहक शक्ति और वस्तुगत आकर्षण-शक्ति में सामञ्जस्य की प्रतिष्ठा करते हैं—

मोहि भरोसो रीझि है, उझकि झाँकि इकवार ।
रूप रिझावन हार है, ये नैना रिझवार ।।

निःसन्देह बिहारी की यह सौन्दर्य परिभाषा तर्क पूर्ण और मनोवैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित है और जैसा कि उनकी उपर्युक्त उक्तियों के विवेचन से स्पष्ट है, यह सौन्दर्य-सम्बन्धी उनकी धारणाओं के क्रमिक विकास का चरम स्वरूप प्रस्तुत करती है ।

अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार बिहारी ने रूप वर्णन के अन्तर्गत नख-शिख-वर्णन, विभिन्न अलङ्कारों का उल्लेख, सौन्दर्य का प्रभाव आदि का चित्रण किया है । उनके बहुत से वर्णन परम्परायुक्त हैं किन्तु यह मानी हुई बात है कि उन्होंने आलम्बनगत उद्दीपनों का ही वर्णन नहीं किया अपितु व्यापक सौन्दर्य को भी देखा है । जिस सौन्दर्य की कल्पना उन्होंने की है वह अनिर्वचनीय है--

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान ।
वह चितवन औरै कछू जिहि बस होत सुजान ।।

नयनों के आयत और अनियारे होने की विशेपता तो रीतिकाल के सभी कवियों की नायिका में मिल जाती है किन्तु बिहारी ने इससे आगे का सौन्दर्य भी देखा था जिसके प्रभाव को व्यक्त करने में उन्होंने अपने आपको असमर्थ पाया और वे "वह चितवन औरै कछू" ही कह सके और सच तो यह है कि उसे व्यक्त करने के लिए इनसे अच्छे शब्द शायद हो ही नहीं सकते थे । द्रष्टा की ग्राहकता को बिहारी ने यहाँ भी ध्यान में रखा है इसीलिये तो 'जिहि बस होत सुजान' का उल्लेख किया । जिस क्षरण-क्षरण नवीन सौन्दर्य को वाणी व्यक्त नहीं कर सकती उसे बेचारी तूलिका चित्रित कर सकने का क्या दम भरेगी—

लिखनि बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ।।

ऐसे सौन्दर्य के लिये भी अलङ्कारों की आवश्यकता ?

तन भूपन अंजन दृगनि पगन महावर रंग ।
नहि सोभा को साग ये कहिवे ही को अंग ।।

वस्तुतः अलङ्कार सुन्दरी की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं है, उसके शरीर की स्वाभाविक छवि को स्वच्छ रखने के लिये पायंदाज़ का कार्य करते हैं अन्यथा लोगों की दृष्टि के पग उसे मलिन न करदें—

मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबै काज।
दृग पग पौछन कौ करे; भूषन पायंदाज।।

इसी लाभ के लोभ से सुन्दर शरीर पर 'दरपन के से मोरचे' प्रतीत होने वाले कनक-आभूषणों को सखी के मना करने पर भी धारण करती ही है—

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत।।

इसे कोरी अतिशयोक्ति ही नही समझना चाहिये, सहज सौन्दर्य, जन्म-जात लावण्य और स्वाभाविक अंगकान्ति की इससे पूरी-पूरी व्यञ्जना होती है। तन्वी नायिका का वर्णन पुराने और नये सभी कवि करते च े आ रहे हैं। एक मुट्ठी भर का उदर लिये हुए 'कनक छरी सी कामिनी' की मनोमोहकता का रहस्य उसकी अंगलता की तनुता में निहित नहीं है, यह उस विकिरण-शील लावण्यमय कान्ति में है जो उसके शरीर को चारों ओर से लपेटे हुए भरा-भरा सा दिखाती रहती है—

अंग अंग छवि की लपट, उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह।।

इस छवि के सामने कुसुम, कौमुदी और दर्पण की ज्योति तुच्छ हैं। आँखों में मैल पर उसमें नही। नयन उसकी चमक से स्वयं चमक उठते है—

कहा कुसुम कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं आँख ऊजरी होति।।५०६।।

ऐसे शरीर पर अंगराग यदि 'आरसी की उसाँस' बन कर रह जाये—इसे उलटा मलिन कर दे, जैसे साँस की भाप से दर्पण मलिन हो जाता है—तो क्या आश्चर्य—

अंगराग अंगन लगै ज्यों आरसी उसांस।

नायिका के व्यापक सौन्दर्य का चित्रण करते हुए बिहारी अघाते नहीं। कालिदास ने 'इन्दुमती' के लावण्य की व्यञ्जना उसे सञ्चारिणी दीपशिखा के सदृश बताकर की थी। गाथा सप्तशती में भी ऐसी उक्तियाँ आई हैं जिनका उल्लेख पीछे यथास्थान किया जा चुका है। बिहारी ने देखा नायिका श्वेत साड़ी पहने हुए है जिसमें वह दीपशिखा सी होकर भी सामान्य दीपशिखा से भिन्न सी लग रही है। अपने आस-पास का पैनी दृष्टि से उन्होंने निरीक्षण

किया और देखी अमीरों के विलास उपवन में चादर से विस्तृत और महीत आकार में गिराये जाते हुए जलप्रवाह के पीछे चमकती हुई दीपावलि, जो अपने सौन्दर्य से और भी चमक उठी थी। उसे लगा कि यह नायिका भी ऐसी ही है—

सहज सेत पचतोरिया, पहिरत अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-ज्योति ।।३३६।।

इस अद्भुत लावण्य के समक्ष दर्पण की ज्योति कहाँ टिक सकती है? केसर और चम्पा उस कान्ति की बराबरी कैसे कर सकते हैं, सोना तो बेचारा जातरूप ही ठहरा। चन्द्रमा की चांदनी भी उसके सामने छाया जैसी लगने लगती है[२]। स्वर्ण चमेली के सदृश बदन के सम्पर्क से कुसुम्भी अँगिया दुरंगी सी प्रतीत होती है।[३] क्योंकि शरीर से फूट फूटकर बिखरती हुई कान्ति को अँगिया नहीं छिपा सकी और सच तो यह है कि वह स्वयं उस छवि में छिन गई—

भई जु छबि तन बसन मिलि, बरनि सकैं सुन बैन।
आँग-ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न ।।

यह नित्य-नवल, व्यापक, अनन्त सौन्दर्य वर्णन में आये भी कैसे? इस उमड़ते लावण्यसिन्धु को पार करना आँखों के बस की बात नहीं "लोइन लोइन-सिन्धु, पैरिन पावत पार।"[४] फिर किस रसिक का हृदय-अगस्त्य इसके समग्रतः पान करने का साहस रखता है? सलोने रूप को पीजिये, फिर अधिक प्यास; फिर पीजिये और अधिक प्यास; सलोना जो ठहरा, नमक से प्यास बढ़ती ही है। आप पीते जाइये पर प्यास बढ़ती ही जायेगी, पांचाली के चीर की तरह यह सौन्दर्य और इसकी पिपासा का अन्त पा नहीं सकता और इस आनन्त्य में ही इसका महत्त्व है।

त्यों त्यों प्यासे ही रहत ज्यों ज्यों पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की जुन चख तृषा बुझाय ।।

प्रेम रस के सिद्ध कवि विद्यापति भी सौन्दर्य से कभी तृप्त न होने की बात कहते है—

जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरपित भेल।

---

१ बिहारी दोहा १०२
२ वही १०६
३ वही १६०
४ वही ५६३

जहाँ कही बिहारी अपने आपको भूलकर रीतिकालीन कवि के सामान्य स्तर पर खडे होकर कविता करते है वहाँ वे केवल शब्दों का आडम्बर ही खड़ा कर पाते है, या कल्पना का चमत्कारी रूप ही दिखा सकते हैं, रस का सिन्धु तो क्या बिन्दु भी उनके दोहे की गगरी में ऐसे स्थल पर नही मिलेगा। दिया बढ़ने पर भी शरीर की कान्ति से घर का जगमगाते रहना तो शायद लोग सह लेगे। इससे विशेष असुविधा उन्हे नहीं होगी लेकिन जब मुखचन्द्र की चाँदनी सभी तिथियों को पूनम बना देगी और नायिका के मुहल्ले के हर एक नागरिक को तिथि जानने के लिये सदा एक पत्रा बगल में दबाये रखने के लिये मजबूर होना पड़ेगा तो वे उसे वहाँ से निकालने पर ही तुल जायेंगे। यह अच्छी बात है कि बिहारी का यह आरोपित रूप क्षणिक ही रहा और इस प्रकार की अनर्गल कल्पना से उनका काल अधिक विकृत नहीं हुआ।

अङ्गों की कान्ति के साथ-साथ ही व्यापक सौन्दर्य के अन्तर्गत सुकुमारता का भी वर्णन आता है। बिहारी के रूप चित्रण में इस तत्त्व की भी उपेक्षा नही की गई है। सहज सुन्दर और सुकुमार शरीर पर आभूषणों का बोझा लादना अनुचित है शोभा का भार ही उससे सम्हाला नही जा रहा—

भूषन-भारु सँभारिहै क्यो इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही के भार ॥३२१॥

नायिका के गुलाब से शरीर पर लगी हुई गुलाब के पुष्प की पंखुड़ी का पता ही नहीं चलता, क्योंकि रंग सुगंध और कोमलता, हर दृष्टि से वह उसके शरीर से मिल गई है :—

बरन बास सुकुमारता, सब विधि रही समाइ।
पंखुरी लगी गुलाब की, गात न जानी जाइ ॥

और बिछुओं के भार से कोमल अंगुलियों की निचुड़ती हुई लालिमा भी लीजिये—

अरुन बरन तरुनी-चरन-अंगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरंगु रंगु सी मनौ पयि बिछियनु कैं भार ॥४१८॥

यह सब वर्णन परम्परायुक्त ही हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने भी सीता जी के कचभार से एडियों के धँसने की कल्पना की है "पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसती" यहाँ तक तो ठीक है। सौकुमार्य की लज्जा में कोई बाधा नही किन्तु गुलाब की पँखुडी से खँरौट आ जाना और गुलाब के झँवैं के डर से भाग खड़े होने की बात मज़ाक सा जान पड़ता है :—

मैं बरजी कै बार तू इत कत लेति करौंट ।
पँखुरी लगैं गुलाब की, परिहै गात खरौंट ।।२५६।।
छाले परिबे के डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियै गुलाब के झवाँ झँवैयत पाइ ।।४८३।।

बिहारी की यह फारसी ढंग की नाजुकमिजाजी भी उनकी आलोचना का कारण बनी है। ब्यूरे का सौन्दर्य चित्रित करने में बिहारी ने नखशिख का वर्णन अन्य रीतिकालीन कवियों के ही समान किया है। परम्परायुक्त भावों की अभिव्यञ्जक अनेक उक्तियाँ उनकी रचना में मिलती हैं। अङ्गविशेष के सौन्दर्य, मुद्रा अथवा रूपजनित प्रभाव की अपेक्षा अलङ्कारों अथवा वक्रकथन का चाकचक्य ही उनमें अधिक दिखाई पड़ता है। वही पुराना पिष्ट-पेषण, वे ही घिसे-पिटे उपमान, वही चिरपरिचित कल्पना—

रस सिंगार मञ्जन किये कंजन-भंजन दैन ।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन ।।
पर जीते सर मैंन के, ऐसे देख मैंन ।
हरिनी के नैनान ते, हरिनी के ये नैन ।।

इन दोहों में अनुप्रास और यमक की ही शाब्दिक चमत्कृति है। नेत्रों के सौन्दर्य, व्यापार अथवा प्रभाव का कोई चित्र इनसे नहीं उभरता। "झखौ बिलखि दुरि जात जल लखि जलजात लजात" में भी क्या नई बात है ? किन्तु सभी उक्तियाँ ऐसी नहीं हैं। इस रूढ़िग्रस्त वर्णन में भी बिहारी की प्रतिभा ने नवीन उद्भावनाएँ की हैं; कल्पना का रंगीन, सुन्दर और झीना आवरण दिया है जिसके बीच से विविध अङ्गों के सहज सौन्दर्य की झाँकी तो मिल ही सकती है, उनकी चेष्टाओं और व्यापारों का भी हृदयग्राही निदर्शन होता है। एक उदाहरण लीजिये—

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट-पट झीन ।
मानहु सुरसरिता विमल, जल उछरत युग मीन ।।

आँखों को मीन बताने वाली उक्तियाँ न जाने कब से चली आ रही हैं किन्तु इस उक्ति में बिहारी ने अपनी कल्पना के बल पर उनकी चमचमाहट और चंचलता का रूप साकार कर दिया है। उत्प्रेक्षा का स्वतन्त्र अस्तित्व यहाँ नहीं है उसकी सार्थकता प्रस्तुत का बिम्ब उपस्थित करने में है और यह कार्य उसने इतनी विनम्रता के साथ चुपचाप किया है कि वह एक क्षण में इन नयनों से पाठक का मानसिक साक्षात्कार कराकर हट जाती है उनके बीच में खड़े होने की तो बात ही क्या ?

महाकवि सूरदास की भाँति बिहारी ने भी नयनो के वर्णन मे अपनी कल्पना का प्रसार दिखाया है, उनकी नयनविषयक उक्तियाँ अन्य विविध अङ्ग विषयक उक्तियों की सामूहिक संख्या से भी अधिक है। चढ़ते यौवन में नयन बढ़ोतरी में विदग्धता के प्रतिद्वन्द्वी बनकर आते है[1]। आँखों की पुतलियाँ प्रिय की स्नेहमणियाँ है[2]। सौन्दर्य मद-मत्त नयन अवसर-अनवसर का विचार किये बिना ही मन की सब बात खोल देते है[3]। यहाँ तक कि रात की रतिक्रीडा का रहस्य खोलने से भी बाज नही आते[4]। कभी वे अपने कोणों से हृदय को बेधते है[5]। कभी नागर नरमृगों का शिकार करते है,[6] कभी चीते की तरह घात लगाते है[7]। कभी विषम बाण बन कर हृदय में चुभते है[8], तो कभी पत्थर बन कर टकराते ही हृदय में प्रेम की आग सुलगा देते हैं[9]। ये ऐसे दुर्ललित है कि दूसरों को बेमतलब परेशान करते है। कृष्ण जैसे नटनागर की यह गति कि

कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट बनमाल।[10]

इन्ही के कारण हुई। ये खंजन के समान चितवन-चेंप से पकड़ में आजाते है[11] तो कभी-कभी बाज की तरह नीचे ऊपर झपटते हुए मन के विहंग को दबोच भी लेते है[12]। ये कामदेव के प्रसाद को प्रकट करने वाले है[13]। गुरुजन के बीउ भरे घर में जहाँ वाणी के लिए एक कदम भी बढने की गुंजाइश नही वहाँ ये चुपचाप प्रेम की बाते करने के साधन भी है[14]। नयनों का स्वभाव भी बड़ा विचित्र होता है। पानी से भरे रहते हैं फिर भी प्यासे के प्यासे[15]। इन्हें बस बहुरूपिया ही समझिये, कभी ये 'मलिङ्ग' साधु का वेष बनाए मिलेंगे[16], कभी चुगलखोर के रूप में सामने आयेंगे, कभी चोरी को प्रकट करने वाले 'पनिहा' बन जाएँगे तो कभी तन, मन को हार कर भी हँस देंगे। ये ऐसे चोर हैं कि आप के जागते जागते चित्तरूपी अमूल्य धन को चुरा ले जायेंगे[17]। यदि आप अधिक सावधानी बरतेंगे तो ये लुटेरे बन कर आपका दिल लूट लेंगे[18]। इनका लगना भी बुरा और न

१ बिहारी सतसई ३
२ ,, ४
३ ,, ६
४ ,, २३
५ ,, २७
६ ,, ४५
७ ,, ५०
८ ,, ४४८
९ ,, ११८
१० बिहारी सतसई १५४
११ ,, १४७
१२ ,, १५७
१३ ,, ५८
१४ ,, ३२
१५ ,, ३७
१६ ,, २३०
१७ ,, १७४
१८ ,, १७४

लगना भी, लड़ना भी बुरा और मिलना भी। एक रहना भी अच्छा नहीं और प्यार होना भी। विकट योद्धा के रूप में इनकी झड़प देखिये—

> फूले फुदकत लै फरी, पल कटाच्छ कर वार।
> करत बचावत विष नयन, पाइक घाइ हजार ॥२४७॥

ये नेत्र बड़े भारी जादूगर और 'टुनहाये' है पर कभी-कभी इनका टोना उलटा भी पड़ जाता है, दूसरे को बन्दी बनाने के चक्र में ये स्वयं बन्दी बन जाते है[1]। लोभी इतने है कि यश अपयश को न देखकर प्रियतम को ही देखना चाहते है[2], सौन्दर्य-पान से ही तृप्त नहीं हो जाते मुस्कान की भी तमन्ना करते हैं[3]। लोभ के वशीभूत होकर ये जिस थाली में खाते हैं उसी में छेद भी कर सकते हैं अन्य के नेत्रों से मिलकर हृदय को बेच देते हैं[4]।
अब जरा अश्व-रूप में भी इनको देखिये—

> करैं चाह सों चुटकि कैं, खरैं उड़ौहैं मैन।
> लाज नवाएं तरफरत, करत खूँद सी नैन ॥५३६॥

इस दोहे में केवल रूपक का ही सुन्दर निर्वाह नहीं है उपमान के व्यापारों और मुद्राओं द्वारा नयनों की वास्तविक दशा का चित्र भी चित्रित हुआ है जिसके पीछे अभिलाष, औत्सुक्य और चपलता की भावत्रिवेणी की झलक स्पष्ट दीख पड़ती है। 'करत खूँद सी नैन' में अन्तर्द्वन्द्व जनित मानसिक विक्षोभ का पूरा चित्र उतर आया है। काम की चुटकी से चमके हुए नयन-तुरङ्ग लाज की लगाम का नियन्त्रण कितनी देर मान सकते हैं।

> लाज-लगाम न मानहीं नैना मोबस नाहिं।
> ए मुँह जोर तुरंग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥६०६॥

निःसन्देह बिहारी की इन उक्तियों में नयनों की स्थिति का चित्रण कर मनोभावों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की गई है।

नयनों के अतिरिक्त केश, अन्य अंगों का भी वर्णन बिहारी ने किया है जो प्रायः परम्परा युक्त है—

> सहज, सचिक्कन, स्याम रुचि, सुचि, सुगन्ध सुकुमार।
> गनत न मन पथ अपथ लख विथुरे सुथरे बार ॥६५॥
> छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे सुकुमार।
> मन बाँधे वेनी बँधे, नील छबीले बार ॥५७०॥

---

१ बिहारी सतसई ५७
२ ,, १५७
३ बिहारी सतसई १५८
४ ,, १६५

भाल लाल बेंदी-छुए छुटे बार छबि देत ।
गह्यौ राहु अति आहु करि, मनु ससि सूर समेत ।।३५४।।
कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढिगौ इतौ उदोत ।
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत ।।
कच समेटि कर भुज उलटि, खये सीस-पट टारि ।
काको मन बाँधे न यह जूरो बाँधन हार ।।

केश-वर्णन से सम्बद्ध इन पाँच दोहों में केशों की विभिन्न अवस्था का वर्णन है। पहले दोहे में केश खुले हुए है, दूसरे मे वेणी बाँधी जा चुकी है, तीसरे में कुछ बाल खुलकर मुख पर आ गये हैं, चौथे में बालों की एक घुँघराली लट ही मुख पर आ गिरी है और पाँचवे में जूड़ा बाँधने का व्यापार जारी है। प्रथम दो दोहो में बालों की चिकनाहट और कालिमा आदि गुणों का परिगणनमात्र है साथ ही यह कह दिया गया है वे मन को बाँध लेते हैं। किसी प्रकार की मार्मिकता या नवीनता इन उक्तियों में नहीं दीख पड़ती। परम्परा के अनुसार वर्णन करना आवश्यक था। बस इसी आग्रह का निर्वाह करना कवि का लक्ष्य रहा। तीसरे दोहे में एक तिहाई नवग्रह बालों में लाकर उलझा दिये गये है। राहु की ग्रसाग्रसी में सौन्दर्य की खोज ही करना व्यर्थ है। चौथे दोहे में नायिका की वक्र अलक की अपेक्षा उक्ति के बाँकपन पर ही अधिक ध्यान दिया गया है, यह दोहा रीतिकालीन अधिकांश कविता का सच्चा प्रतिनिधि माना जा सकता है। पाँचवें दोहे मे बिहारी ने परम्परा के बन्धन को तनिक शिथिल कर लिया है इसीलिये जूड़ा बाँधती हुई नायिका की अच्छी खासी मुद्रा चित्रित हो गई है, जो स्वाभाविक भी है और आकर्षक भी।

केशों की अपेक्षा मुख के साथ बिहारी ने अधिक न्याय किया है-

हाहा वदन उघारि दृग, सफल करै सब कोइ ।
रोज सरोजन कै परै, हँसी ससी की होइ ।।५३।।
छिप्यौ छबीलो मुख लसै, नीले अञ्चल चीर ।
मनो कलानिधि झलमलै, कालिन्द्री के तीर ।।५३५।।
जरीकोर गोरे बदन, बढ़ी खरी छबि देख ।
लसति मनो बिजुरी किये, सारद-ससि परिवेष ।।
पिय तिय सौ हँसि कै कह्यौ, लखै दिठौना दीन ।
चंदमुखी मुखचंदु तै, भलौ चन्दसम कीन ।।

प्रथम दोहे में सरोजों के यहाँ रोना-पीटना और चन्द्रमा का मजाक दिखाकर

मुख के सौन्दर्य की वाह-वाह की गई है। केशव के इस कथन मे कि "देखे मुख भावै अनदेखे ही कमलचन्द ताते मुख मुखै सखि कमलौ न चन्द री" मुख के सौन्दर्य का दोहे की अपेक्षा अधिक आभास हो जाता है 'ताते मुख मुखै' से मुख-सौन्दर्य की अनिर्वचनीयता स्पष्ट है, आश्चर्य है कि लोगों ने केशव को इस उक्ति के कारण हृदयहीन बता दिया। दोहे में सरोज और चन्द्र की खूब खबर लेकर भी मुख को क्या मिला ?

दूसरे दोहे में कालिन्दी में झिलमिलाते हुए चन्द्रबिम्ब का दृश्य नीले आँचल के भीतर से चमकते हुए मुख के लिये उपस्थित किया गया है और उसके सौन्दर्य एवं तज्जन्य प्रभाव को उत्प्रेक्षा द्वारा साध्य बना कर मुख के साथ सादृश्य-सम्बन्ध स्थापित किया गया है। साध्य होने के कारण उपमान पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक दृष्टि रखने पर भी तथा उपमान दृश्य के अधिक विशाल होने पर भी मुख के सौन्दर्य की व्यञ्जना हो ही जाती है। सादृश्य-सम्बन्ध की स्थापना होते ही झलमलै क्रिया लहराती हुई कौशेय साडी में ढके हुए मुख की धूपछांही सी आभा की ओर संकेत करती है। इसी प्रकार तीसरे दोहे में भी साड़ी के जड़ाऊ पल्ले द्वारा मुख का परिवेप विद्युत्-परिवेष्टित शारद शीश के सादृश्य से मुख-सौन्दर्य में उत्कर्ष का आधायक सिद्ध होता है। इन दोनों दोहों मे बिहारी की अपनी कल्पना का हाथ है और रूढिमुक्त होने के कारण अधिक सौन्दर्य है। अन्तिम दोहा फिर रूढिग्रस्त है और एक प्राकृत गाथा के भाव पर आधारित है जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है। चिबुक के गढे और उसपर गुदे हुए गोदने का वर्णन भी बिहारी ने किया है—

> कुच-गिरि चढि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड।
> फिरि न टरी, परियैं रही, गिरी चिबुक के गाड़ ॥२६॥
> ललित स्याम लीला ललन, बढ़ी चिबुक छबि दून।
> मधु-छाक्यौ मधुकर परयौ, मनौ गुलाब प्रसून ॥२७०॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि पहला दोहा पर्वत और खाइयों का दृश्य उपस्थित करता है। बिहारी का कुच को गिरि बनाना ऐसा ही है जैसा सूर का रोटी को पृथ्वी और मक्खन को पहाड़ बना देना। इसको देखकर काव्यप्रकाश में उपमा-विषयक उपमानगत जात्यधिकत्व दोष के उदाहरण रूप में उदाहृत "पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ" की याद आ जाती है। दूसरा दोहा अवश्य ही उपमानरूप में एक सुन्दर दृश्य उपस्थित करता है 'मधु छाक्यौ' विशेषण भ्रमर की निश्चलता को सूचित करता है जो उपमेय गोदना-चिह्न के निश्चल होने के कारण आवश्यक है। गुलाब का

प्रसून मुख की कोमलता-शोभा और सहज सुवास के साथ-साथ प्रफुल्लता का भी प्रतीक है।

उरोजों का वर्णन करते हुए बिहारी कहते है—

चलत न पावत निगम-मग, जग उपज्यौ अति त्रास।
कुच-उतंग गिरिवर गह्यौ, मैना मैन-मवास ।।८७।।
दुरत न कुच विच कंचुकी, चुपरी सारी सेत।
कवि-आँकनु के अर्थ लौ, प्रगट दिखाई देत ।।१८८।।
गाढै ठाढैं कुचन ठिलि, पिय-हिय को ठहराइ।
उकसौहै ही तो हियै, दई सबै उकसाइ ।।४६०।।

पहले दोहे के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि कवि रूपक के फेर में पड़ यह भूल गया कि वह कुचों के सौन्दर्य अथवा प्रभाव का वर्णन कर रहा है। कुच-गिरि पर कामदेव सेना की छावनी के चक्कर में पड़ा हुआ पाठक सचमुच त्रस्त हो उठता है। अन्तिम दोहे में 'उकसौहै और उकसाइ' का चमत्कार है यद्यपि उभरते यौवन वाली इस नायिका में पति की अनन्य आसक्ति की व्यञ्जना से भी इनकार नही किया जा सकता तथापि अभिधेय अर्थ की अपेक्षा उसमें अधिक चमत्कृति नही है। परन्तु दूसरा दोहा स्निग्ध श्वेत साड़ी तथा कंचुकी में कुचों की झाँकी का वास्तविक और सुन्दर चित्रण करता है जिसे प्रकट करने में 'कवि-आँकनुलौ' उपमा अत्यन्त उपयुक्त है। कवि के शब्दों का वास्तविक अर्थ अभिधेय के पीछे साफ दिखाई देता रहता है इसी प्रकार कामिनी के कुच भी स्निग्ध श्वेत साड़ी और कञ्चुकी में; क्योकि रंगीन साडी उनकी कान्ति को उद्भासित नही होने देती, किन्तु महीन श्वेत वस्त्र में अंगों की कान्ति उसी आकार में बाहर आ जाती है यही उनके प्रगट होने का रहस्य है। निःसन्देह कवि की यह सहज उक्ति मार्मिक अभिव्यक्ति की प्रतीक है। कहा नही जा सकता कि इस दोहे में बिहारी ने निम्नलिखित श्लोक से कहाँ तक प्रेरणा ली है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां निगूढः।
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां प्रकाशः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्।
सौभाग्यमेति मरहट्टवधू कुचाभः ।।

नख-शिख-वर्णन-परीक्षण के अधिक पचड़े में न पड़कर उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी ने नख-शिख वर्णन में प्रायः परम्परागत ढँग को ही अपनाया है, वे ही रूढिबद्ध उक्तियाँ वैसी ही कल्पना,

उसी के अनुसार प्रतीक योजना आदि; किन्तु जहाँ कहीं ये परम्परा का मोह छोड कर अपने शुद्ध बिहारित्व को अपना कर चले हैं वहाँ उनकी उक्तियों में रमणीयता, रसमयता, नूतनता, स्वाभाविकता और मार्मिकता का पूर्ण समावेश हो गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी के व्यापक सौन्दर्य की कल्पना पर परम्परा का प्रभाव इतना अधिक नहीं है कि उनके सहज कवि की अनुभूति का स्वरूप विकृत हो जाता। वास्तविकता तो यह है कि परम्परा का बन्धन नखशिख-वर्णन में अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता से जकड़ा हुआ है भी। यही कारण है कि बिहारी शरीर के व्यापक लावण्य का जैसा वर्णन कर सके हैं वैसा ब्यूरे का वर्णन नहीं। विविध अंगों के अलग-अलग वर्णन में वे इस बन्धन से बहुत कम ही मुक्ति पा सके हैं। दशनद्युति[१], जङ्घाएँ[२], भ्रकुटि[३], एड़ी[४], त्रिवली[५], नाभि[६] आदि अंगों और टीका[७], नाक की सींक[८], लौंग[९], उरवसी[१०], तिलक[११], मुरासा[१२], खुभी[१३], तरयोना[१४], बेसर[१५] आदि गहनों का वर्णन प्रायः ऐसा ही है जिनमें रंगों के आधार पर विभिन्न ग्रहों की बैठक बुलाई गई है, या अलकारों का चमत्कार दिखाया गया है, अथवा दूर की कौड़ी लाने की चेष्टा की गई है या केवल खानापुरी की दृष्टि से वर्णन किया गया है।

अब तनिक वयःसन्धि-वर्णन की ओर दृष्टिपात कीजिए—

> छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबन अंग।
> दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता रंग ॥७०॥
> देह दुलहिया की बढै ज्यों-ज्यों जोबन-जोति।
> त्यौं-त्यौ लखि सौत्यैं सबै, बदन मलिन द्युति होति ॥४०॥
> भावक उभरौहौ भयौ कछुक परचौ भर आइ।
> सीपहरा के मिसि हियो निसिदिन हेरत जाइ ॥२५२॥
> तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय, पुण्यकाल सम दोन।
> काहू पुण्यन पाइयत, वैंस-संधि-संक्रोन ॥२७४॥

---

१ बिहारी सतसई १००
२ ,, २१०
३ ,, ३५५
४ ,, ४४
५ ,, ८८
६ ,, ८८
७ ,, १०५
८ ,, १४३
९ बिहारी सतसई ६८२
१० ,, ३३८
११ ,, ५६७
१२ ,, ६७२
१३ ,, ६
१४ ,, २०
१५ ,, २०

ज्यों-ज्यों जोबन जेठदिन, कुचमिति अधि अधिकात।
त्यो-त्यों छिन-छिन कटि-छया, छीन परति नित जाति ।।११२।।
नव नागरितन-मुलुक लहि, जोबन अमिल जौर।
घटि बढि तैं बढ़ि घटि रकम, करी और की और ।।२२०।।

पहला दोहा सर्वोत्कृष्ट है। वयः सन्धि में बर्तमान नायिका के अंगों का व्यापक लावण्य कैशोर और यौवन जनित दीप्ति से धूपछाँही सा प्रतीत होता है। किशोरावस्था की सहज कान्ति यौवन के आगम पर निखरने लगती है यह प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध तथ्य है अत:-वय:सन्धि में दीप्ति का यह मिला जुला रूप होना स्वाभाविक ही है। दूसरे दोहे में बढती हुई यौवनकान्ति से सपत्नीजन का मलिन होता हुआ मुख नायिका के प्रति नायक की उत्तरोत्तर वृद्धिशील आसक्ति का परिचायक है। अर्थात् सौन्दर्य की अपेक्षा सपत्नियों के हृदय पर पड़े हुए प्रभाव और उससे व्यञ्जित पति-प्रेम का चित्रण ही यह दोहा अधिक करता है। तीसरे दोहे में यौवन के आरम्भ के कारण सबसे प्रथम और अपरिचित अङ्ग परिवर्त्तन की ओर बार-बार दृष्टि का जाना स्वाभाविक है। यौवन के साथ-साथ नायिका के हृदय में लज्जा का अंकुर भी फूट निकला है तभी तो उभरते हुए उरोज निर्द्वन्द्वतापूर्वक नहीं अपितु हार देखने के बहाने देखे जाते हैं। चौथे दोहे में नायिका के शरीर को अच्छा खासा कालचक्र ही बना दिया गया है, संक्रान्ति के चक्कर में सौन्दर्य-अभिव्यक्ति भी चकरा सी गई है। पाँचवें दोहे का हाल भी यही है। कुच और कटि की नापजोख करने के लिये जेठ की रात और दिन को एक जगह बाँध लेना कहाँ तक हृदयाह्लादक है, यह सहृदयों का हृदय जानता होगा और अन्तिम दोहे में नये आमिल की स्वच्छन्द उखाड़-पछाड़ से एक दयनीय चित्र ही सामने आता है महनीय नहीं।

सौन्दर्य के प्रभाव की नशे की स्थिति के साथ तुलना करते हुए बिहारी ने उसकी सुन्दर अभिव्यक्ति की है—

तजी संक सकुचाति न चित, बोलत बाक कुवाक।
दिन छिनदा छाकी रहति, छुटत न छिन छवि-छाक ।।२१८।।
डर न टरै नींद न परै, हरै न काल-विपाक।
छिनक-छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषम छविछाक ।।३१७।।

मदिरा का आधारभूत पात्र उसके नशे से प्रभावित नहीं होता किन्तु सौन्दर्य का आश्रय पात्र (व्यक्ति) भी उसके नशे में चूर हो जाता है इससे अधिक उसकी और क्या विपमता होगी ?

बिहारी का वास्तविक महत्त्व विविध मुद्राओं, भावों[1], हावों और अनुभावों के सजीव चित्र प्रस्तुत करने में है।

उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। यद्यपि उनके पर्यवेक्षण का क्षेत्र तो विस्तृत नहीं कहा जा सकता तथापि जितने क्षेत्र को उन्होंने देखा उस में से कोई वस्तु उनकी दृष्टि से बच नही सकी। यही कारण है कि वे अन्य रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण और मार्मिक मुद्राओं का अंकन कर सके। नायिकाओं की मुद्राओं के एक से एक सुन्दर चित्र उनके दोहों में मिलेंगे—

मुँह पखारि मुड़हरु भिजै, सीस सजल कर छ्वाइ।
मौरु उचै घूँटेनु तैं, नारि सरोवर न्हाइ ॥६६६॥
कर समेटि कच भुज उलटि, खएँ सीस-पटु टारि।
काकौ मन बाँधै न यह, जूरी बाँधनहारि ॥६८६॥

---

१ शान्त निर्विकार चित्त का प्रथम स्पन्दन भाव कहलाता है जैसे किसी वयःसन्धि में स्थित नायिका के विषय में कोई कहे कि अब तो उस पर रंग आने लगा है। यह भाव अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मन की जागरित स्थितिमात्र है किन्तु जब यह अधिक उद्बुद्ध होकर उस वस्तु की अभिलाषा का द्योतन करने के लिये भौंह, नेत्र आदि में हलका सा विकार कर देता है तो हाव कहलाता है और जब स्पष्ट रूप में प्रकट होता है तो 'हेला' कहा जाता है।

देहात्मानं भवेत सत्त्वं सत्त्वाद् भावः समुत्थितः।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्हेला समुत्थिता ॥ नाट्य शास्त्र २४-७

इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिये कह सकते हैं कि जब किसी नवयौवना के मन में किसी पुरुष विशेष को देखकर अकस्मात् ही प्रसन्नता का अनुभव हो, एक प्रकार की मस्ती सी छा जाय तो यह उसके सात्त्विक हृदय में प्रथम स्पन्दन होने के कारण भाव का उठनामात्र माना जायेगा, अगर इसके पश्चात् आँखों में एक प्रकार की प्रफुल्लता, भ्रकुटि में कुछ चञ्चलता हो और गति में अल्हड़पन आजाय तो यह 'हाव' कहलायेगा और जब उसकी चेष्टाओं से रति का भाव स्पष्ट प्रकट हो उठे तो उसे हेला कहेंगे। ये अङ्गज अलंकार हैं। इसके अतिरिक्त लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित; मद, विहृत, तपन, मुग्धता, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि ये १८ स्वभावज अलंकार माने हैं। हिन्दी के आचार्यों ने 'हाव' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया और उसके अन्तर्गत इनमें से प्रथम नौ तथा विहृत का परिगणन किया। किसी-किसी ने हेला को भी मिलाकर ११ 'हाव' मान लिये हैं।

विहँसति, सकुचति सी दिए, कुच आँचर-बिच बाँह ।
भीजैं पट तट कौ चली, न्हाइ सरोवर माँह ।।६६२।।

उक्त दोहों में नायिका की जो चेष्टाएँ हैं वे उसके हृदय के किसी भाव की सूचक नहीं हैं। देखने वाला उसकी मुद्राओं का वर्णन कर रहा है, उसके लिये ये उद्दीपन हो सकती है किन्तु नायिका के किसी मनोविकार से प्रेरित न होने के कारण इन्हें अनुभाव नहीं कहा जा सकता। प्राय: लोग नायिका की चेष्टामात्र को—भाव प्रेरित न होने पर भी—अनुभाव कह दिया करते हैं किन्तु बात ऐसी नहीं है। अनुभाव शब्द का अर्थ (अनु =पीछे+भाव) ही इस बात की पुष्टि करता है कि वे उदित भाव के ही पीछे आते है। इन्हें हाव भी नही कह सकते क्योंकि ये नायिका के मन में किसी प्रकार का स्पन्दन भी सूचित नहीं करती। अत: यह उसकी मुद्राओं का स्वाभाविक वर्णन ही माना जायेगा जो अन्यान्य अलङ्कारों की ही भाँति सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक है।

अन्य उदाहरण लीजिये—

लखि लखि अंखियन अधखुलित, आँगु मोर अंगराइ ।
आधिक उठि लेटति लटकि, आलस भरी जम्हाइ ।।६२६।।

यहाँ भी नायिका की ये चेष्टाएँ नायक के अनुराग के प्रत्युत्तररूप में नही हैं, अत: अनुभाव नही हो सकतीं, नायिका के मन में स्वत: उठे हुए भाव का भी संकेत दोहे में नही मिलता इसलिये 'हाव' की कोटि में भी इनकी गिनती नहीं हो सकती। यदि 'लखि-लखि' के स्थान में 'लखि-पिय' होता तो नायिका की ओर से संकेत मिलने के कारण यहाँ 'विलास' हाव की स्थिति स्पष्ट थी जैसे इस दोहे में—

भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिन सौ लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति करु इंची, आगैं आवति जाति ।।६८२।।

'आँखिन सौं लपटाति' में नायिका का संकेत और 'आगैं आवति जाति' में 'प्रयत्न' दोनों ही परिलक्षित हैं इसलिये भ्रूभंग द्वारा तर्जन और मुँह की नहीं वास्तव में 'हाँ' के अर्थ में प्रयुक्त होते हुए ज्ञात होते है जिससे उक्त चेष्टाएँ उसके मनोगत भाव की ओर संकेत करती हैं अत: यहाँ पर स्पष्ट ही 'विलास' भाव माना जायेगा।

ऊपर नायिका के कतिपय गत्यात्मक चित्रों का दर्शन कराया गया है, अब दो स्थिर मुद्राओं के चित्र लीजिये-—

बढत निकसि कुच-कोर-रुचि, कढत गौर भुजमूल ।
मन लुटिगौ लोटन चढत, चोटन ऊँचे फूल ।।६६७।।
अहे दहेंड़ी जिनि धरैं, जिनि तू लेहि उतारि ।
नीकै है छींकैं छुवैं, ऐसैंई रहि नारि ।।६६८।।

बात यहाँ भी वही है । नायिका अपने उरोज-प्रान्त और भुजमूल दिखाती हुई ऊँचे पर लगे हुए फूलो को किसी का मन लूटने के लिये नहीं तोड रही और न ही किसी को अच्छी लगने के लिये दहेड़ी को छीके पर रख रही हैं । वह निर्विकार मन से अपना कार्य कर रही है । शायद उसे यह भी पता नही कि उसे कोई घूर-घूर कर देख रहा है अन्यथा वह सँभल कर काम करती । नायक महोदय मन लुटने की शिकायत करते रहें या ऐसे ही खड़ी रहने की प्रार्थना, नायिका के मन में कुछ नहीं है । इसलिए ये शुद्ध-मुद्राओ के ही चित्र हैं । ऐसा ही चित्र सुरा के नशे में चूर इस सुन्दरी का है— .

खलित बचन, अधखुलित दृग, ललित स्वेद-कन-जोति ।
अरुन बदन छबि मद-छकी, खरी छबीली होति ।।६५२।।

'भाव: प्रथम विक्रिया' के अनुसार भाव के उठने मात्र का कितना सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित दोहे में बन पड़ा है—

चाले की बातै चलीं, सुनत सखिन के टोल ।
गोऐं हूँ लोचन हँसत, विहँसत जात कपोल ।।१३४।।

मुद्राओं और 'हावों' के चित्रण में बिहारी के चतुर चितेरे को 'कूर' होना नहीं पड़ा । उसकी कल्पना ने इतने सुन्दर और स्वाभाविक चित्र खींचे कि एक-एक चित्र का सौन्दर्य देखने के लिये अनेक लोचनयुगल तो नहीं चाहिये पर अनेक बार देखने की आवश्यकता अवश्य अनुभव होती है और विश्वास है कि वे फिर भी ऐसे ही रहेंगे "जाकी उजराई लखे आँख ऊजरी होति ।" विलास' हाव के तो एक से एक बढ़कर अनेक उदारण भरे पड़े हैं—

ऐंचति सी चितवनि चितै, भई ओट अलसाइ ।
फिरि उझकनि कौं मृगनयनि, दृगनि लगनिया लाइ ।।३१६।।
नहि अन्हाइ नहि जाइ घर, चित चिहुँट्यौ तकि तीर ।
परसि फुरहरी लै फिरति त्रिहंसति धँसति न नीर ।।६४४।।
भौह उचै, आँचरु उलटि, मौरि मोरि मुँह मोरि ।
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि,दीठि सौ जोरि ।।२४२।।

कंज नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच-अंगुरी-बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार ॥७८॥

यौवन, सौन्दर्य और प्रेमजनित अतिगर्व के कारण जहाँ नायिका इष्ट वस्तु का भी अनादर करती है वहाँ आचार्यो ने बिब्बोक हाव बताया है बिहारी के नीचे लिखे दोहों मे इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

नैंक उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति मेंहदी छिनकु, नहदी, सूखन देहु ॥४९७॥

रहौ, गुही वेनी लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुखाये बार ॥४८०॥

दोनों ही दोहों में नायिका द्वारा नायक का गर्व-पूर्ण प्रणय-मधुर अनादर है। अनादर का कारण है नायिका के प्रसाधन में नायक का अनजाने ही बाधा डालना और इस बाधा का कारण है 'स्वेद' सात्त्विक भाव जिसकी स्थिति पहले दोहे में तो नायिका मे होती है और दूसरे में नायक में। परन्तु दोनों जगह नायिका अपना ही पक्ष लेती है। दूसरे दोहे में नायिका की वेणी गूँथते समय प्रेमातिरेक के कारण नायक को सात्त्विक स्वेद होता है, बाल गीले हो जाते हैं, उस पर जो डॉट पडती है वह उचित है। पहले दोहे में नायिका मेंहदी लगाये बैठी है, नायक भी समीप है उसे देखकर नायिका को सात्त्विक स्वेद होता है, मेंहदी सूख नहीं पाती, इसमें नायक का क्या दोष? किन्तु फिर भी उसी को वहाँ से भगा दिया जाता है। यही तो गर्व है। पर यह सूखा अभिमान नही होता, सात्त्विक सरसता से सराबोर होता है और इसीलिये रसिकों के लिये स्पृहणीय है।

किलकिञ्चित् 'हाव' का एक उदाहरण लीजिये जिसमें औत्सुक्य, लज्जा, हर्ष, आशंका आदि भावों का मिश्रण है—

सुनि पग-धुनि चितई इतै, न्हाति दियैं ही पीठि।
चकी झुकी सकुची डरी, हँसी लजीली डीठि ॥६२२॥

एक दोहे में बिहारी ने किलकिंचित् हाव को नायक और नायिका मे एक साथ चित्रित किया है। यद्यपि हावों की स्थिति नायिका की ही शोभा में अधिक उत्कर्ष उत्पन्न करती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नायक में उनकी स्थिति सम्भव ही नहीं। जहाँ नायक और नायिका के हाव एक दूसरे के हावों पर आश्रित हों वहाँ तो उभयाश्रित प्रणय-वेदना के समान वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। उदाहरण लीजिये—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सब बात ।।३२।।

भरे हुए घर में दोनों की बाते आँखों के संकेत से ही हो रही है, नायक ने कुछ कहा तो नायिका ने 'नहीं' करदी, वह रीझ गया, नायिका खिसिया गई, नायक ने मेल कर लिया और नायिका को तुरत ही मेल करने को प्रस्तुत देखकर उसे हँसी आगई जिसपर वह लजा गई। इसमें गर्व, हर्ष, अमर्ष आदि कई भाव एकत्र हैं।

विच्छित्ति का, जिसमें नायिका के प्रसाधन का वर्णन होता है एक उदाहरण लीजिये—

बेंदी भाल, तँबोल मुँह, सीस सिलसिले बार ।
दृग आँजे, राजै खरी एई सहज सिंगार ।।६७८।।

यद्यपि यहाँ प्रसाधनकार्य में संलग्न नायिका का वर्णन नहीं है अपितु सखी के मुख से पहले से ही सज्जित नायिका का वर्णन कराया गया है— तथापि है यह नायिका के शृङ्गार का ही वर्णन और इसलिये यहाँ विच्छित्ति हाव ही माना जायेगा।

बिहारी में अभिव्यक्ति की मौलिकता सर्वत्र पाई जाती है, युग-युग से कही जाती रही बात को भी वे अपने ढँग से इस प्रकार कहते हैं कि उक्ति में विदग्धता का समावेश होकर चमत्कृति ही नहीं होती अपितु ध्वनित वस्तु तक एकदम पहुँच कर पाठक का हृदय कुछ पा गया सा प्रसन्नता में झूम उठता है। पीछे सात्त्विक 'स्वेद' के जो उदाहरण दिये गये हैं वे इसी प्रकार के हैं। 'वेपथु' का यह उदाहरण कितना सुन्दर बन पड़ा है—

कारे वदन डरावने, कत आवत इहिं गेह ।
कै वा लखी सखी लखैं, लगै थरथरी देह ।।५१२।।

कृष्ण के गोवर्धन धारण की कथा न जाने कब से चली आ रही है, सभी कहते सुनते हैं, बिहारी ने उससे भी अपने मतलब की बात ले ली; यह उनकी तीव्र दृष्टि का परिचायक है। देखिये गोवर्धनधारी कृष्ण की राधा को देखते ही क्या गति हो जाती है—

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरै लजाने लाल ।।५९८।।

कृष्ण का यह बेमौके का सात्त्विक वेपथु क्षण भर के लिये उनकी उँगली पर टिके हुए पर्वत के नीचे इन्द्र के प्रकोप से त्रस्त शरणागत ब्रज की बेहाली का

कारण बन गया अतः उनका लजाना स्वाभाविक ही था। इससे यह भी स्पष्ट है कि बिहारी ने पुरुष के भी हाव-भावों और सौन्दर्य का कुछ वर्णन किया है। तमाखू पीते हुए नायक की मुद्रा देखिये—

ओठु उँचै हाँसी भरी, दृग मोहन की चाल।
मो मन कहा न पी लियौ पियत तमाकू लाल ॥६१३॥

और चटकभरे नटनागर की यह चाल—

लटकि लटकि लटकत चलत, डटत, मुकुट की छाँह।
चटक भरचौ नट मिलि गयौ, अटक भटक-बट माँह ॥१६२॥

उसकी यह मुद्रा किसका हृदय न मोह लेगी—

भ्रकुटी-मटकनि पीतपट-चटक लटकती चाल।
चलचख चितवनि चोरि चितु, लियौ बिहारीलाल ॥३०६॥

रूप-वर्णन के साथ-साथ बिहारी ने उसके प्रभाव का भी वर्णन किया है। प्रसिद्ध आङ्ग्ल कवि कीट्स ने सौन्दर्य को विचित्र प्रकार का मदिरा बताया है जिसका असर पीने वाले पर ही नही होता, पिलाने वाले पर भी होता है। सचमुच रूप की मदिरा ऐसी ही है कि जिस पात्र (व्यक्ति) में रहती है वह भी उसके मद में चूर हो जाता है—

तजी संक सकुचति न चित, बोलत बाक कुबाकु।
दिन छनदा छाकी रहति, छुटत न छिन छबि-छाकु ॥२१८॥

रूप-मदिरा के दीवाने को सुरा का स्वाद क्या रुचेगा—

रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न।
प्यालैं ओठ प्रिया बदन, रह्यौ लगाऐं नैन ॥६४६॥

निःसन्देह ओठों की अपेक्षा नयनों की प्यास जितनी विषम होती है उतने ही वे पीने में तेज भी होते हैं।

प्रेम का आविर्भाव

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक रूप-आकर्षण ही अनुकूल वातावरण में पनपकर प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है और इस की गति बडी ही वेगवती तथा सूक्ष्म होती है। नीतिकारों ने धर्म की ये दोनों विशेषताएँ बताई हैं "धर्मस्य त्वरिता गतिः" और "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" के कथन किसने नहीं सुने? परन्तु यदि देखा जाय तो प्रेम की गति धर्म से भी अधिक तीव्र और सूक्ष्म है। इसे तनिक पैर टेकने के लिए जगह मिलनी चाहिये फिर वह ऐसे

हाथ पैर पसार कर पड जाता है कि अन्य सब को वहाँ से निकलना ही पड़ता है और पैर टेकने की जगह लेना इसके लिये जैसे कोई बात ही नहीं। आप अनुमान भी नही कर सकते, दृष्टि के मार्ग से आकर यह सीधा नयनों के द्वार से हृदय में प्रवेश कर जाता है। यहीं से हृदय में कुछ विचित्र सी प्रतिक्रिया होने लगती है। सूर के कृष्ण ब्रज की 'खोरी' में खेलने निकले थे। वहीं कहीं उन्हे 'नैन विसाल भाल दिये रोरी" राधिका दीख पड़ी। बस फिर क्या था "नैन नैन मिलि परी ठगोरी।" चढ़ गया प्रेम का जादू। इसी प्रकार बिहारी की राधा अपनी गाय चरने के लिये छोड़ने गई थी पर साथ में प्रेम की बला बाँध लाई—

> उन हरकी हँसि कै इतैं, इन सौंपी मुस्काइ।
> नैन मिलैं मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ॥

"यह छोटी सी पहचान कहीं बन न जाये प्रीत" की शङ्का निर्मूल नहीं है। कभी कभी फिल्मी-गान की भी एक-आध पंक्ति में बड़े पते की बात छिपी रहती है, बस इस छोटी सी घटना से ही ब्रज में आग लग गई–प्रेम की आग—

> को जाने ह्वै है कहा, ब्रज उपजी अति आगि।
> मन लागै नैनन लगैं, चलै न मग लगि लागि॥

प्रथम आकर्षण में हृदय की जो दशा होती है उसका बिहारी ने विभिन्न प्रकार से वर्णन किया है। नायिका को कल नहीं पड़ती, इधर से उधर, उधर से इधर फिरकी के समान घूमने लगती है, हृदय में एक विचित्र प्रकार की अग्नि सी सुलगती मालूम पडती है—

> उत तैं इत इत तैं उतहिं छिनक न कहूँ ठहराति।
> जक न परति चकरी भई फिरि आवत फिरि जाति॥
> ह्याँ तैं ह्वाँ ह्वाँ तैं इहाँ नैकौ धरत न धीर।
> निसिदिन डाढी सी फिरति बाढी गाढ़ी पीर॥

निःसन्देह प्रेम की दरेर में आकर मनुष्य दूसरे के हाथ बिक जाता है। बिहारी के नायक की शिकायत है कि—

> चिलक चिकनई चटक सौं, लफति सटक लौं आइ।
> नारि सलोनी सांवरी, नागिनि लौं डसि जाइ॥

चिलक, चिकनई, लफति आदि द्वारा नारी को पूरी तरह नागिन बनाने का काम करके भी उसके विष के सञ्चार से शरीर और हृदय में जो पीड़ा होती है उसे अधिक प्रभावशाली ढंग से बिहारी न दिखा सके। प्रथम आकर्षण का

लगभग ऐसा ही वर्णन अधिक प्रभावशाली शैली में संस्कृत के रससिद्ध कवि भवभूति ने किया है। मालती माधव के प्रति हृदय में प्रेम की प्रथम लहर का अनुभव कर अपनी सखी लवङ्गिका से कह रही है—

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं।
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव।।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो।
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती।। मालती माधव २-१।।

सखि! न जाने कौनसा मनोराग है जो तीव्र विष के समान उत्तरोत्तर शरीर में फैलता सा जा रहा है। कामानल झभक दिया गया सा निर्धूम जल रहा है और ज्वर के सदृश मेरे शरीर को पीडित कर रहा है। (मुझे लग रहा है जैसे ये मेरे प्राण लेकर ही हटेगा) पिताजी, माताजी और तुम कोई भी मुझे बचा नहीं सकता। अनुराग का विषवत् निरन्तर विसर्पण, विधुत अनल के समान दहकना और महाज्वर के समान अङ्गों में पीडा उत्पन्न करना, सब कुछ हृदय की बेचैनी को प्रकट करता है और अन्तिम पंक्ति उसके चरमोत्कर्ष की असह्यता को द्योतित करती है। बिहारी की आग और नागिन का एकत्र मार्मिक समन्वय भवभूति की रचना में मिलता है।

प्रेम का प्रसार

पीछे कहा जा चुका है कि शृङ्गार का रसराजत्व उसके अन्तर्गत व्यापक भावक्षेत्र पर ही आधारित है। प्रेम का प्रभाव बडा ही व्यापक होता है। यह सत्य है कि दृग उलझने पर—प्रेम होने पर—कुटुम्ब से नाता टूटने की नौबत आ जाती है किन्तु इस तथ्य को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि इसके कारण एक नवीन व्यापक कुटुम्ब की प्रतिष्ठा भी होती है। एक ओर से होने वाला संकोच दूसरी ओर प्रसार के रूप मे परिणत होता है। इस प्रसार के अनेक स्वरूप होते हैं किन्तु सर्वप्रथम जिस स्वरूप का आविर्भाव होता है उसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'सम्बन्ध-भावना' कह सकते है। अंग्रेजी में एक कहावत है–"Love me, love my dog." अर्थात् यदि तुम मुझे प्यार करते हो तो मेरे कुत्ते को प्यार करो। यह कहावत इसी सम्बन्ध-भावना का स्पष्टीकरण है। जितना ही अधिक आप किसी की वस्तुओं या सम्बन्धियों को प्यार करते हैं उतना ही उसे अपने प्रेम का प्रमाण देते हैं और बदले में उसका प्रेम पाते है, किन्तु प्रिय की वस्तुओं से प्रेम इसलिये नहीं किया जाता कि प्रिय के प्रति आपका प्रेम प्रमाणित हो जाय। वास्तविकता यह है कि आप ऐसा करने के लिये बाध्य है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि आप जिस व्यक्ति से प्रेम करते है उस व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं से भी स्वतः ही प्रेम करेंगे। शुक्लजी ने ठीक ही कहा है कि प्रेम में दृष्टि प्रिय पर से होती हुई उसके कर्म पर जाती है। यहां कर्म के साथ वस्तु भी समझ लेनी चाहिये। वास्तव में कर्म यहाँ पर उपलक्षण मात्र ही है। सारांश वह है कि प्रेमपात्र की प्रत्येक वस्तु और कार्य प्रेमी को अच्छे लगते है। अतः सच्चे सहृदय कवि सदा से ही इस 'सम्बन्ध-भावना' की अभिव्यक्ति करते आये हैं। बिहारी के दोहों में भी इसका कुछ वर्णन हुआ है। वस्तुतः यह खेद की बात है कि बिहारी जैसे प्रतिभाशाली कवि ने परम्परा-निर्वाह की धुन में इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और इस प्रकार की स्वतन्त्र उद्भावनाएँ अधिक नहीं कीं अन्यथा उनका कविरूप और भी सुन्दर एवं महनीय होता फिर भी जो दो-चार उक्तियाँ उन्होंने इस विषय में कही हैं वे उनके सजग कलाकार के सर्वथा अनुरूप हैं उदाहरण लीजिये—

> भेटत बनै न भावतौ चित तरसत अति प्यार।
> धरति लगाइ लगाइ उर भूषन बसन हथ्यार ॥५६१॥

लज्जावश नायिका नायक से मिल नहीं पाती किन्तु हृदय में प्रेम का सागर उमड़ कर छटपटाहट उत्पन्न कर रहा है जिससे वह प्रिय के भूषण, वस्त्र और हथियारों को ही बारबार हृदय से लगाती है।

कितना स्वाभाविक वर्णन है! पूरे दोहे में न कोई अलङ्कार है न कल्पना की ऊँची उड़ान किन्तु मानव हृदय की एक शाश्वत वृत्ति का अनावृत सौन्दर्य फूटा पड़ता है। मुग्धा नायिका की सहज लज्जा और औत्सुक्य से भी कुछ अधिक इस दोहे से व्यञ्जित है जिसका परिगणन काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने नहीं किया। 'धरति लगाइ-लगाइ उर' में केवल औत्सुक्य नहीं है क्योंकि प्रियदर्शन में कालक्षेप की असहिष्णुता का नाम ही औत्सुक्य है। यहाँ समय प्रियदर्शन में बाधक नहीं है, प्रिय का दर्शन दुर्लभ भी नहीं क्योंकि वह दूर नहीं है, नायिका की लज्जा स्वयं बाधक बनकर मार्ग रोकती है। 'चित तरसत' में चिन्ता तो है ही नहीं क्योंकि हृदय ताप की अभिव्यक्ति होते हुए भी 'शून्यता' अथवा निश्चेष्टता यहाँ नहीं है। विषाद' भी नहीं है क्योंकि उसमें 'धरति लगाइ लगाइ उर' जैसा उत्साह कहाँ? 'चपलता' भी यह नही है क्योंकि चपलता अनवस्थिति अर्थात् अविमृश्यकारिता अथवा अल्हड़पन का नाम है। प्रिय की वस्तुओं को बिना कुछ सोचे-विचारे या अनुभव किये अठखेली में ही हृदय से नहीं लगाया जा रहा है। अतः इन भावों में से यह

कुछ नहीं है और सबकुछ है। यही इसकी अद्वितीयता है प्रिय के छल्ले के साथ यह प्रणय-व्यापार भी वैसा ही है—

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूँबति चाहति लाइ उर, पहिरति धरति उतारि॥

सचमुच सच्चे कवि शास्त्रोक्त भावों की ही परिधि में बँधकर नहीं चलते। अपने गम्भीर मानस के भावमुक्ताओ का उन्मुक्त विकिरण कर वे अपनी कविता को ऐसी बना देते है कि वह 'अरगट ही फानूस सी परगट परै लखाय।'

प्रिय की अनुपस्थिति में उसकी वस्तुओं को ही देखकर वियोग की बेचैनी में भी एक प्रकार की राहत का अनुभव होता है, तभी तो प्रणयचिन्ह का आदान-प्रदान प्रेमजगत् की एक प्रमुख विशेषता है। पुरुष के विविध-व्यापार-आकुल परुष हृदय की अपेक्षा स्त्री के भावप्रवण कोमल हृदय को इसकी अधिक आवश्यकता है। वियोग के दिन 'प्रणयचिह्न' के दर्शन से अपेक्षाकृत आसानी से कट जाते हैं। कालिदास के दुष्यन्त ने इसीलिये शकुन्तला के हाथ मे अपनी अँगूठी पहिना दी थी। यह सब इसी सम्बन्ध-भावना का प्रभाव है जिसके कारण मनुष्य अपना सर्वस्व खोकर भी प्रेमी की दी हुई प्रेम-निशानी को वियुक्त करना नहीं चाहता। इसीलिये उरोजों पर लगे प्रिय के नखचिह्न को सुरक्षित रखने का उपाय किसी कवि की नायिका ने किया था। बिहारी की नायिका सारे दिन अपने अधर पर हुए प्रिय के दन्तक्षत को ही देखती रहती है।

छिनक उघारति छिन छुवति, राखति छिनक छिपाइ।
सब दिन पिय खंडित अधर, दरपन देखति जाइ॥६६४॥

प्रियतम ने फाग खेलते समय जो गुलाल आंखों में डाल दिया था वह पीड़ा कर रहा है फिर भी वह उसे निकालना नहीं चाहती—

दियौ जु पिय लखि चखन में खेलत फाग खियाल।
बाढत हूं अति पीर सु न, काढत बनत गुलाल॥२८०॥

आधुनिक कवि 'मधुप' की नायिका तो रीतिकाल के स्वर में स्वर मिलाती हुई वियोग-जन्य ताप को भी इसलिये शीतल उपचारों से दूर नहीं करने देना चाहती कि वियोग में पति का दिया चिन्ह ही तो है जिसके आधार पर वह जी रही है—

दूरि कै मृणालनि औ चूरि कंजमालनि कौं
फोरि चन्द्रकान्त मनि तोरि हार डारचौ है।

फारि फारि फेंक दीन्हे कमल के सीतगात,
गात ते बिलग लेप मलज को तारचौ है।
कदरी कपूर चूर दूरि करि बोली बैन
आली बतराबहु धौं कहा चित धारचौ है।
हाय हाय कैसे हू न करत बनैगो दूरि
पिय कौ दियौ जु सखि ताप हू सहारौ है।

नायक के कबूतरों की कलाबाजी देखकर नायिका के सात्त्विक भावों की उठान भी कोरी कल्पना नहीं है अपितु इसी सम्बन्ध भावना की दृढ़भित्ति पर आधारित है—

ऊँचै चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदन, तनु पुलकित किहि हेतु ।।३७३।।

कल्पना अनुभूति और लोकनिरीक्षण में संतुलन न रहने के कारण कहीं ऐसे वर्णनों मे कुछ अस्वाभाविकता भी आगई है—

उड़ति गुड़ी लख लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ।।३७२।।

नायक की पतंग को देखकर नायिका की दशा यदि कबूतर देखने वाली नायिका जैसी हो जाती तब तक तो बिलकुल स्वाभाविक थी किन्तु बावली बनकर सारे आँगन में उसकी छाँह को छूते फिरना बिलकुल बचपन है। बाल्य, कैशोर्य और यौवन अवस्थाओं की चपलताएँ एकसी ही नहीं होतीं। इस दोहे में सम्बन्ध-भावना के प्रभाव की कल्पना कवि ने पतंग से भी ऊपर पहुँचा दी है।

इस सम्बन्ध-भावना की अपनी सीमाएँ भी हैं। प्रिय की उन्हीं वस्तुओं और कार्यों से प्रेम हो सकता है जो पारस्परिक प्रेम में व्याघात बनकर न आयें। उदाहरणार्थ कोई नायिका प्रियतम की अन्य प्रेयसी से प्रेम नहीं बल्कि ईर्ष्या ही करेगी। अन्य नायिका-प्रेम के सम्बन्ध में तो यह सम्बन्ध-भावना बिलकुल ही नहीं चल सकती; अन्य वस्तुओं के विषय में भी सन्तुलन की अपेक्षा रखती है। वह वस्तु चाहे बाँसुरी हो या कविता, लेखनी हो अथवा किताब, यदि प्रिय की ओर से प्रेयसी की उपेक्षा का कारण बनती है तो परिस्थिति के अनुसार उस उपालम्भ, ईर्ष्या, घृणा अथवा द्वेष की ही पात्र बन जायेगी। कृष्ण की मुरली इसीलिये गोपियों के उपालम्भ की भाजन बनी और प्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन के कवि की लेखनी और कविता

उसकी स्त्री की ईर्ष्या और द्वेष का कारण, जिसका अवसान करुण दुर्घटना में हुआ। सम्बन्ध-भावना की इन सीमाओं में से अन्य-नायिका-प्रेम-विषयक उदाहरण बिहारी के दोहों में खण्डिता की उक्तियों मे भरे पड़े है। दूसरे प्रकार की उक्तियाँ उनमें नहीं मिलती जिसका कारण यह है कि युग की प्रवृत्ति के अनुसार उनके नायक के नायिकाओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं अथवा कार्यो में आसक्त होने का प्रश्न ही नहीं था।

इस सम्बन्ध-भावना के अनन्तर प्रेम की पुष्टि और प्रसार के अन्तर्गत दर्शन तथा सान्निध्य-प्राप्ति के उपाय आते है। प्रेम के प्रसार का यह स्वरूप उक्त स्वरूप से पूर्णतया भिन्न है सम्बन्ध-भावना मे प्रिय के साथ-साथ तत्सम्बद्ध वस्तुओ से भी प्रेम होता है, अतः प्रेम के क्षेत्र का प्रसार स्पष्ट है किन्तु दर्शन और सान्निध्य की लालसा में वृत्तियाँ सब ओर से प्रायः सिमट कर प्रिय में ही केन्द्रित हो जाती है और उसकी वस्तुएं भी अपेक्षाकृत गौण पड़ जाती है। अधिक स्पष्ट करने के लिये उदाहरण लीजिये—

रही अचल सी ह्वै मनौ, लिखी चित्र की आहि।
तजै लाज डरु लोक कौ, कहौ विलोकति काहि ॥५३०॥

नायिका की लोक लज्जा डर आदि सब प्रिय दर्शन की कामना में विलीन हो गए है प्रिय के साथ उसकी वस्तुएँ (अलंकार आदि) भी दीखती ही है किन्तु उनकी ओर से भी नायिका की चेतना खिंची हुई है। हाँ, इनके द्वारा परिपुष्ट नायक-सौन्दर्य अवश्य उसकी अनुभूति का विषय बन रहा है जबकि 'धरति लगाइ-लगाइ उर भूषन बसन हथ्यार' में चेतना इन वस्तुओं के प्रति ही अधिक संवेदनशील थी। वास्तव में दर्शन और सान्निध्य प्रेम में प्रसार की अपेक्षा गम्भीरता के अधिक आधायक है किन्तु स्वयं दर्शन और सान्निध्य के लिये प्रेमीजन अनेकानेक उपाय खोज निकालते है। अतः इस दिशा में उत्साह का प्रसार होने के कारण इसे प्रसार के अन्तर्गत मानना अनुचित भी नहीं है। बिहारी ने रीतिपरम्परा की संकीर्ण पद्धति में बँधकर भी दर्शन, सान्निध्य और उनके उपायों की नई-नई उद्भावनाएँ करके प्रेम के प्रसार के लिये यत्र-तत्र उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत किया है—

देखत कछु कौतिगु इतै, देखौ नैकु निहारि।
कबकी इकटक डटि रही, टटिया अंगुरिन फारि ॥६३३॥

प्रियतम को देखने के लिये अंगुलियों से टटिया फाड़ ली गई है और न जाने नायिका कब से यहाँ डटी हुई है किन्तु सखी की चतुर आँखों ने उसको

पकड़ ही लिया । नायिका भी कम विदग्धा नहीं है । लीजिये उसने दूसरा उपाय सोच निकाला—

> कर मुँदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ ।
> पीठि दियै निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ ।।६१०।।

यौवन प्रमदाओं को ललित वचन सिखाता है तो प्रेम न जाने मिलन और दर्शन के कितने उपाय सिखा देता है । अगर कुछ कष्ट पाकर भी प्रेम-पात्र का सामीप्य मिल जाय तो प्रेमियों के लिये वह कष्ट भी जीवनदायक सा प्रतीत होता है—

> इहिं काँटै मो पाइ गड़ि लीनी मरति जिवाइ ।
> प्रीति जतावत भीति सौ मीत जु काढ्यौ आइ ।।६०५।।

नायिका के पैर में काँटा चुभ गया, नायक ने अपने हाथ से उसे निकाल दिया । उसके सुखद स्पर्श से काँटे का दर्द आह्लाद बन गया, नायिका को मानो जीवन मिला, और इसका श्रेय काँटे को, क्योंकि उसने ऐसा काम किया जो फूल भी नही कर सकता था । सचमुच कभी कभी "गुलों से खार अच्छे है जो दामन थाम लेते हैं" ।

प्रेम का अंकुर दर्शन और सान्निध्य पाकर पल्लवित हो उठता है तत्पश्चात् विभिन्न प्रकार की क्रीडा-शाखाओं द्वारा उसका प्रसार होता चला जाता है । कृष्णभक्त कवियों ने प्रेम के अनेकानेक खिलवाड़ों की नई-नई उद्भावना करके उसे राधाकृष्ण की नस-नस में व्याप्त कर दिया जिससे राधाकृष्ण प्रेम-प्रतीति के पर्यायवाची शब्द ही बन गए । ब्रज की गोपियों को कृष्ण खूब छकाते थे, कभी उनका मक्खन चुरा लिया तो कभी मटकी फोड़ दी । पनघट पर बैठ जाते और गगरियों की शामत बुला देते । गोपियाँ दही बेचने निकलतीं कि ये रास्ते में घेर कर उनकी दही खाते-लुटाते, वे वस्त्र उतार कर यमुना में स्नान करने के लिये धँसतीं और ये उन्हे लेकर चम्पत हो जाते पर जब उनका दाँव चढ़ता तो ये भी नाचते ही नजर आते थे । कभी मुरली छुपा कर इन्हें छकाया जाता, कभी गुलाल से इनका मुँह रंग दिया जाता और कभी स्त्री-वेश में नई-नवेली बना दिया जाता । इन्हीं क्रीडाओं से वे सचमुच गोपीवल्लभ बन गए । रीतिकालीन कवियो ने ऐसी उद्भावनाएँ कम ही की हैं अधिकतर परम्परागत क्रीडाओं का ही वर्णन उन्होंने किया है बिहारी भी इसके अपवाद नहीं हैं फिर भी उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने पुरानी लीक पर चलते हुए भी अपने नये पदचिह्न छोड़ने का प्रयास किया है ।

प्रेमपात्र को चिढ़ाने, चौकाने, डरा देने में भी एक प्रकार का रस मिलता है। इन व्यापारों की प्रतिक्रिया के रूप में उसकी विशेष मुद्राएँ और चेष्टाएँ जो प्रेमी के मन को लुभाने वाली और प्रायः प्रथमतः अनुभूत होती हैं, सामने आ जाती हैं। यह व्यापार दोनों पक्षों की ओर से चलता है किन्तु अधिकतर नायक ही नायिका की विशेष मुद्रा का सौन्दर्य-पान करने के लिए ऐसा करते वर्णित किये गये है। कामधनुहीं सी भ्रकुटियों का कुछ तिरछा हो जाना, नाक का चढ़ना और खिली हुई मुस्कान का फड़कते अधरों पर दौड़ जाना कुछ ऐसी बातें है जिनका रस बार-बार पीकर भी प्यास नही बुझ पाती। देखिये कृष्ण को मुरली छुपाकर कैसा छकाया जा रहा है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौह करै भौहन हँसै, दैन कहै नटि जाय ॥४७१॥

यद्यपि इसमें छकाने वाले पक्ष की ही चेष्टाओं का उल्लेख है किन्तु कृष्ण के मुख के बदलते हुए भाव भी सहृदयों की अन्तर्दृष्टि से छुपे नहीं रह सकते। राधा के शपथ खाने पर कि बाँसुरी मेरे पास नहीं है कृष्ण के मुख पर अविश्वस्त से विश्वास की एक रेखा दौड़ जाती है जो मुरली के खो जाने के विषाद से मिश्रित है पर फौरन ही राधा की भौहैं हँसौही सी हो उठती है कृष्ण के मन का सन्देह विश्वास बन जाता है कि मुरली इसी के पास है, अतः वे उसे माँगते हैं तब वह मना कर देती है। इस पर उन के मुख पर खीझ का भाव दौड़ जाता है।

अन्य उदाहरण लीजिये जिसमें दोनों पक्ष की चेष्टाएँ अंकित है—

नाक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिर फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कंकरीली गैल ॥६०५॥

नायक और नायिका कहीं जा रहे हैं। मार्ग एक ओर कँकरीला है और दूसरी ओर साफ। कँकरीले मार्ग पर चलने में नायिका के पैरों में कंकड़ चुभे तो वह नाक चढ़ा कर सी-सी करने लगी। उसकी यह मुद्रा नायक को अच्छी लगी और यह बार-बार जान-बूझकर कँकरीले मार्ग पर चलने लगा और अभिनय ऐसा करता था मानो भूलकर उधर चल पड़ा है। इधर यह उदार नायक भी नायिका के हाव-भाव के लोभ में फँसा हुआ फगुआ भी नहीं दे पा रहा—

ज्यौं ज्यौं पटु झटकति हटति, हँसति नचावति नैन।
त्यौ त्यौं निपट उदारहूं, फगुआ देत बनै न ॥३५२॥

एक दूसरे के देखने, बातों में रस लेने तथा इस प्रकार की अन्य क्रीडाओ के पश्चात् प्रेम के क्रमिक विकास में उन चेष्टाओं और क्रीडाओं का वर्णन है जिनमें स्पर्श-जन्य सुख की प्राप्ति होती है। बिहारी ने इस प्रकार के वर्णन में प्रेम के अन्तर्गत आने वाले अनुभवों की मार्मिक अभिव्यक्ति की है जिससे उक्तियाँ वस्तुतः सहृदय-हृदय संवेद्य हो गई हैं। प्रियतम के मुख में पान का बीड़ा देती हुई इस मुग्धा की चेष्टाएँ देखिये—

हँसि ओठन बिच, करु उचैं, किये निचौहे नैन।
खरैं अरैं पिय कैं प्रिया, लगी बिरी मुख दैन ॥६२६॥

कितना साफ सुन्दर और मार्मिक चित्र है! प्रियतम ने पान लगा कर लाने को कहा, नायिका ले आई, नायक महोदय ने रसिकतावश हाथ न बढा कर मुँह बढ़ा दिया, इस पर वह सकुचाई; पर वह हठ पकड़ गया; आखिर बेचारी को पान उसके मुँह में रखना ही पड़ा। उसकी रसिकता और प्रेम से आह्लादित होने के कारण नायिका के अधरों पर हँसी आगई और नयनों में लाज, मुग्धा जो ठहरी। यह सब कुछ करने पर वह समझी कि चलो छुट्टी हुई पर नायक अपने ऊपर आभार रखे रहने देने के लिये तैयार नही था, उसने भी पान उठाया और नायिका के अधर-पल्लवों की ओर बढा दिया और नायिका ? पान की उसे आवश्यकता ही नहीं थी, अधर उसके यौही लाल थे और नायक की इस चेष्टा से तो गाल भी लाल हो उठे थे। उसकी दशा का वर्णन देखिये—

नाक मोरि नाहीं करैं, नारि निहोरैं लेइ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिन, बिरी बदन प्यौ देइ ॥६३१॥

दाम्पत्यप्रेम का यह स्वाभाविक स्वरूप कितना सात्त्विक है ? इसे वासना नही कहा जा सकता क्योंकि इसमें इन्द्रियों की अतृप्त पिपासा नहीं मनोभाव की सहज सन्तुष्टि का चित्रण हुआ है।

प्रेम का वेगसे बढता हुआ प्रवाह लज्जा के भारी बाँध को धीरे-धीरे काटता हुआ अपने अनुकूल मार्ग का निर्माण स्वयं करता रहता है, यहाँ तक कि एक दिन यह बाँध उसमे बाधक नहीं रह जाता, इसी को लक्ष्य करके तो गुप्त जी ने लिखा है 'मुग्धा एक दिन में ही मध्या बन जाती है।' लेकिन यह काम एक दिन का नहीं है—इसकी अभिव्यक्ति ही एकदम हुई सी प्रतीत होती है। फिर तो ऐसी-ऐसी चुहल चलती हैं—

प्रीतम-दृग मींचत प्रिया पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नेकु न होति जनाइ ॥४४१॥

सब जानते है कि विनोद में पीछे से आकर जिसकी आँखे मूँदी जाती है वह मूँदने वाले को पहचान कर उसका नाम बतलाता है और बता देने पर मूँदने वाला हाथ हटा लेता है। नायिका की आँखें कोई ऐरा-गैरा तो मूँद नहीं सकता। उसका प्रिय या सखियाँ इनमें से ही किसी की हिम्मत हो सकती है। पुरुष और स्त्री का स्पर्श एकदम अपना भेद खोल देता है। नायिका नायक को स्पर्श से ही पहचान लेती है पर नाम नहीं बताती, इस सन्देह से कि नायक हाथ हटा लेगा और वह स्पर्श सुख से वञ्चित हो जायेगी। यह वही नायिका है जो कुछ दिन पहले नायक के हाथ से पान खाने के प्रश्न पर ही सिटपिटाती हुई उसकी खुशामद कर रही थी। इससे आगे तो चोर-मिहीचनी इस प्रकार होती है—

दोऊ चोरमिहीचनी खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै छुवत हियैं लपटात ॥५२७॥

प्रेम करना खेल नहीं है, पर प्रेम खेल-खेल में ही हो जाता है और खेल-खिलवाडा में ही पनपता है। क्रीडारस के अभाव में प्रेम का अंकुर झुलस जाता है। क्रीडा ही उसका जीवन है। बढवार पर पडे हुए प्रेम में तो उठते-बैठते, चलते-जाते, खाते-पीते, सोते-जागते खिलवाड़ ही चलता रहता है। देखिये नायिका ने सोने का स्वाँग रचा था पर—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत, रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन ॥६३८॥

प्रिय ने मुख खोल कर देखा, प्रेम के सामने बहाना कितनी देर टिक सकता है ? नायिका के अधर फडक उठे, अङ्ग पुलकित हो गए, आँखें खुलीं और प्रिय की आँखों से जा टकराई।

ऋतु अनुकूल क्रीडाओं का भी वर्णन बिहारी ने किया है। फाग का वर्णन लीजिये—

ज्यौं ज्यौं झुकि झाँपत बदन, झुकति विहंसि सतराइ।
तत्यौं गुलाल मुठी झुठी, झझकावत प्यौ जाइ ॥५००॥

जैसे जैसे नायिका चौक कर मुँह ढकती है और खिझला कर हँसती हुई झुकती हैं त्यौं-त्यौं नायक गुलाल की झूँठी मुट्ठी से उसे डराता जाता है।

गुलाल और रंग से ही नही प्रेम के रस से भी होली खेली जा रही है—

रसभिजए दोऊ दुहुन, तउ टिकि रहे टरैंन।
छबि सौ छिरकत प्रेम रग, भरि पिचकारी नैंन ॥५११॥

दोनों ने एक दूसरे को रस में डुबा दिया है फिर भी प्रेम का रंग आँखों की

पिचकारी में भर-भर कर परस्पर छिडक रहे है, तनिक भी टस से मस नहीं होते। पारस्पारिक आकर्षरण की महिमा ही ऐसी है कि विशाल नक्षत्र भी आकाश में ठहरे हुए है फिर मानव-शरीर का तो कहना ही क्या।

फाग-क्रीडा के अन्य भी सुन्दर उदाहरण बिहारी-सतसई में मिलते है पर जब वे परम्परा का तमाशा खड़ा करने लगते हैं तो हृदय में रस की अपेक्षा चमत्कार ही उत्पन्न कर पाते हैं। देखिये सात्विक कंप और स्वेद के कारण नायक की मुट्ठी का गुलाल बाजीगर की मुट्ठी के रुपये के समान उड गया और मुट्ठी खाली रह गई—

गिरै कंपि कछु कछु रहै, कर पसीजि लपटाइ।
लैयौ मुठी गुलाल भरि, छुटत झुटी ह्वै जाइ ।।६३२।।

कभी-कभी प्रेम-तरङ्ग से प्रेरित नायक नायिका का प्रसाधन भी करने लगता है। कवि लोग इसका वर्णन भी करते आये हैं। बिहारी ने भी इस परम्परा को निवाहा है। पीछे नायक द्वारा नायिका के बाल सँवारने का उदाहरण दिया जा चुका है। नीचे लिखे दोहे में तिलक का वर्णन है—

कियौ जु चिबुक उठाइकै कंपित कर भरतार।
टेढीयै टेढी फिरै टेढे तिलक लिलार ।।५१५।।

तिलक लगाते हुए नायक को सात्विक कम्प हो जाने के कारण तिलक टेढा हो गया, फिर भी प्रिय के प्रेम का द्योतक होने के कारण उस टेढे तिलक को ही अमूल्य संपत्ति समझकर नायिका गर्व से इठलाती फिरती है।

इसी प्रकार नायक द्वारा लगाया यह बिथुरा हुआ महावर नायिका के हर्ष का कारण और सपत्नी के दुख का कारण बन रहा है—

बिथुरचौ जावक सौति-पग, निरखि हँसी गहि गाँसु।
सहज हँसौही लखि लियौ आधी हँसी उसाँसु ।।

इस प्रकार की क्रीडाओं से आगे बढ़कर संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत रति के ऐन्द्रिय उपभोगों का क्षेत्र आ जाता है जिसका वर्णन संस्कृत के पिछले खेवे के कवियों ने बडी रुचि के साथ किया है और रीतिकालीन कवियों ने श्रद्धा के साथ उनका अनुगमन किया है। बिहारी ने भी नग्न शृङ्गार की कुछ उक्तियाँ कहकर यह लकीर पीटी है फिर भी कहीं-कहीं उनकी प्रतिभा ने पुराने कनवैस पर नवीन चित्र प्रस्तुत किये हैं। एक उदाहरण लीजिये—

अँगुरिन उचि भरु भीति दै, उलनि चितै चख लोल।
रुचि सौ दुहूँ दुहूँन के, चूमे चारु कपोल ।।५०२।।

परकीया नायिका और चुम्बन पुरानी बातें है पर स्थान और ढँग की कल्पना बिहारी की है। विपरीत सुरत आदि के भी उन्होंने चित्र खीचे है जिन पर विचार करना यहाँ अभीष्ट और उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

अनुभाव-विधान—

बिहारी मार्मिक अनुभाव-व्यञ्जना के धनी हैं। भाव को हृदयङ्गम कराने के लिये वे भाँति-भाँति की सहज चेष्टाओं का विधान करके अभीष्ट घटना का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देते है जिसमें अनुभावो की रेखाएँ इतनी स्पष्ट, उचित एवं उपयुक्त होती हैं कि उनका सौन्दर्य आँखों को बरबस आकृष्ट कर लेता है। अनुभाव की सत्ता अपने लिये नही होती उसके आस्तित्व की सार्थकता मनोभाव विशेष के अभिव्यञ्जन में ही है यह उसके नाम से ही प्रकट है। भाव विशेष का आविर्भाव होने पर ही अस्तित्व में आना (अनु=पीछे+भाव=होना) तथा उस भाव का अनुभव कराना ही तो 'अनुभाव' के नामकरण का कारण है। रस के रूप में विपरिणत होने वाले स्थायी भाव की प्रतीति सहृदयों को अनुभावों के द्वारा ही होती है। नायिका के हृद्गत स्थायी भाव के सूचक अनुभाव नायक के रतिभाव को जागरित करने के कारण उद्दीपन हो जाते हैं। इसीलिये विश्वनाथ महापात्र ने स्त्रियो के शारीरिक लावण्य विकास से लेकर छोटी मोटी सभी चेष्टाओं को अनुभाव की सीमा में परिगणित किया है।[1] भावों की भाँति अनुभाव भी कायिक, वाचिक सात्त्विक और आहार्य भेद से चार प्रकार के हो सकते है बिहारी ने सभी प्रकार के अनुभावों का मार्मिक चित्रण कर रसोद्भूति को सबलता प्रदान की है। कायिक अनुभाव के उदाहरण देखिये—

> इत तैं उत उततैं इतैं, छिन न कहूँ ठहराति।
> जक न परति चकरी भई, फिरि आवत फिरि जाति ॥२०८॥

नायिका की यह अस्थिरता की स्थिति 'औत्सुक्य' की अभिव्यक्ति करती है। इसी प्रकार निम्ननिर्दिष्ट दोहे में 'चपलता' का भाव अनुभावों द्वारा स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष हो उठता है—

> उड़ति गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँहि।
> बौरी लौं दौरी फिरै छुअत छबीली छाँहि ॥

मिलन उत्साह में पगी हुई वधू निशा के निकट आते आते किस प्रकार घरेलू धन्धों को सोत्साह पूरा कर रही है—

---

१ साहित्यदर्पण—३-१४२

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल ।
झमकि झमकि टहलैं करैं लगी रहचटैं बाल ।।५४३।।

स्वाधीनपतिका की यह गर्व से वक्र गति भी दर्शनीय है—

कियौ जु चिबुक उठाइ कैं कम्पित कर करतार ।
टेढीयै टेढी फिरै टेढे तिलक लिलार ।।

सुरतश्रम के अनुभावों की योजना भी देखिये—

सकुचि सरकि पिय-निकट तैं मुलकि कछुक तन तोरि ।
कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुँह मोरि ।।४६४।।

नायक-नायिका के परस्पर प्रेम-संलाप तथा खण्डिता की कटूक्तियाँ वाचिक अनुभावों में रखी जायेगी । एक उदाहरण लीजिये—

सकत न तुव ताते वचन मोरस को रसु खोइ ।
खिन खिन औटे खीर लौ खरौ सवादिल होइ ।।

इस उक्ति में नायक नायिका-विषयक अपनी रति की अविचलता वाणी द्वारा प्रदर्शित करता है, अतः यह वाचिक अनुभाव ही माना जायेगा । इसी प्रकार यह उक्ति भी—

रह्यौ चकित चहुँधा चितै, चित मेरौ मति भूलि ।
सूर उयै आए, रही दृगनु साँझ सी फूलि ।।६००।।

सात्त्विक अनुभावों मे से स्तम्भ का चित्रण लीजिये—

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझै बोलति नीठि ।
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि ।।६३५।।

नीचे दिये हुए दोहे में 'पुलक' सात्त्विक अनुभाव व्यक्त है—

मैं यह तोही में लखी भगति अपूरब बाल ।
लहि प्रसादमाला जु भौ, तनु कदम्ब की माल ।।४६८।।

निम्नलिखित दोहे में कायिक और सात्त्विक दोनों प्रकार के अनुभावों का कितना स्वाभाविक संमिश्रण हो गया है—

मुख उघारि पिउ लखि रहत, रह्यौ न गौ मिस सैन ।
फरके ओठ उठे पुलकि, गए उघरि जुरि नैन ।।६३८।।

ओठों का फड़कना, आँखों का उघड़ना और जुडना कायिक अनुभाव हैं तथा पुलक सात्त्विक। प्रियतम के पास सज्जित होकर जाना नायिका की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, जब नायिका प्रिय के समीप जाने के उद्देश्य से ही बनाव-शृङ्गार करती है तब उसकी सज्जा आहार्य अनुभाव कही जाती है। बिहारी ने अधिकतर नायिकाओं की साज-सज्जा का समान्य वर्णन ही किया है अनुभाव के रूप में नहीं।

अनुभावों की कोई गिनती नही है। मनोगत भावों की अभिव्यक्ति-स्वरूप न जाने कितनी चेष्टएँ व्यक्तिभेद के कारण संसार में हो सकती है, जो कवि जितने ही अधिक तथा स्वाभाविक व्यापारों की उद्भावना कर सकता है वह उतना ही महान् होता है। फिर भी समूचे साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि प्रायः कविजन इस दिशा में भी एक निश्चित से मार्ग पर चलते आए है। रससिद्ध कवियों की सफलता का अधिकांश श्रेय अनुभावों की स्वतन्त्र उद्भावना को ही प्राप्त है। बिहारी में यह गुण भी था जिसके कारण उनकी रचनाएँ अत्यन्त मार्मिक हो सकीं। एक उदाहरण लीजिये—

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहूँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल ॥४७२॥

मुरली, पीताम्बर, मुकुट और बनमाला के इधर उधर गिरने से कृष्ण की अस्तव्यस्तता प्रकट होती है जिससे उनकी व्याकुलता अभिव्यञ्जित है। अस्तव्यस्तता की दशा में मनुष्य अपने आप को तथा अपनी वस्तुओं को सँभालने के लिये अपेक्षित चेतना संगठित नहीं कर पाता इसी तथ्य के आधार पर बिहारी ने उक्त अनुभावों की योजना की है जो अभिप्रेत भाव तथा प्रभाव दोनों के आधान में समर्थ है।

आयौ मीत विदेश ते काहू कह्यौ पुकार।
सुन पुलकी, विहँसी हुलस, दोऊ दुहुन निहार ॥

नायक-नायिका की चेष्टाओं, मुद्राओं और अनुभावों के अतिरिक्त अप्रस्तुत पक्ष में उपमानगत व्यापारों की भी योजना, जिसका चरम उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु के व्यापारों को सातिशय द्योतन करना ही होता है, बिहारी ने की है जिससे रचना में चाक्षुष प्रभाव का समावेश हो गया है। उदाहरण लीजिये—

चिलक चिकनई, चटक सौ लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी साँवरी नागिन लौं डस जाइ ॥१९६॥

इस दोहे में नारी के लिये अप्रस्तुत उपमान नागिन की अवतारणा की गई है। चिलक और चिकनई शब्द नागिन के रूप पर प्रकाश डालते है तथा लफना

उसकी चेष्टा की ओर संकेत करता है किन्तु इन शब्दों का उद्देश्य इतना ही नही है। नारी के स्वाभाविक लावण्य और वर्ण के अतिरिक्त उसकी चपलता, सुकुमारता, तनुता और लचक की अभिव्यक्ति भी उसका ध्येय है और मुख्य ध्येय है।

भाव-व्यञ्जना

यह कहने की आवश्यकता नही कि जो कवि अनुभावों की योजना मे जितना अधिक दक्ष होगा वह भाव-व्यञ्जना में उतना ही अधिक सफल होगा क्योंकि विभाव और अनुभाव ही भाव-व्यञ्जना के साधन हैं और साधन की श्रेष्ठता साध्य की उत्तमता का प्रमाण होती है। किसी भी रचना की आस्वाद्यता उसमें अन्तर्हित भावों के ऊपर निर्भर है। यहाँ यह संकेत कर देना उपयुक्त प्रतीत होता है कि वास्तव में भावों का स्थान मानवमन ही है, उसके अतिरिक्त अन्यत्र भावों की स्थिति संभव ही नहीं। अतः जब हम किसी कविता में निहित भावों की चर्चा करते हैं तब हमारा तात्पर्य उस स्थिति से होता है जो उस कविता के प्रभाव से किसी सहृदय व्यक्ति की होती है। बिहारी में भावाभिव्यञ्जन की स्वाभाविक क्षमता थी। भावों को अभिव्यञ्जित न करके नामोल्लेख द्वारा प्रकट करना स्वशब्दवाच्यत्व दोष का कारण बन जाता है। बिहारी ने यथासंभव भावों को व्यञ्जित ही किया है। उनकी अधिकांश उक्तियाँ शृङ्गार-रसमयी हैं अतः रति स्थायीभाव एवं तत्सम्बन्धी अन्य भावों की ही अधिक व्यञ्जना उनकी सतसई में प्राप्त होती है। किसी-किसी दोहे में तो रस की पूरी सामग्री—चारों अवयव, स्थायी भाव, विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) अनुभाव तथा सञ्चारी भाव—की बड़ी ही कुशल योजना उन्होने की है। वास्तव में रस-व्यञ्जना के लिये रस के सभी अवयवों को जुटाना आवश्यक नहीं है क्योंकि जिन अवयवों का उल्लेख रचना में नहीं होता उनका आक्षेप कर लिया जाता है। कुछ रस तो ऐसे होते हैं कि आलम्बनमात्र के यथार्थ वर्णन से ही उनकी अभिव्यक्ति हो जाती है। हास्यरस ऐसा ही है। इसी प्रकार शृङ्गार में भी यदि आलम्बन का ही वर्णन कर दिया जाय तो भी रसानुभूति हो ही जाती है। सहृदय की मनोवृत्ति किसी सञ्चारी-भाव-मात्र की व्यञ्जना में भी रम ही जाती है। ध्वनिवादी ऐसे स्थल पर भावध्वनि मानते हैं और रसवादियों की दृष्टि में वहाँ भी रसानुभूति ही होती है, अन्तर केवल कोटि का रहता है। बिहारी के दोहों में रस से सम्बद्ध सभी भावों की अभिव्यक्ति हुई है। सञ्चारियों के कतिपय बिलकुल साफ उदाहरण लीजिये—

मानु तमासौ कर रही बिवस बारुनी सेइ ।
झुकति हँसति हँसि हँसि झुकति झुकि झुकि हँसि हँसि देइ ।।

इस दोहे में मद की अभिव्यक्ति हुई है । मदिरा जनित संमोह तथा आनन्द नामक मनोविकार मद कहा गया है । मद के अनुभाव उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के व्यक्तियों में अलग-अलग देखे जाते है । उत्तम व्यक्तियों में सोना मध्यम व्यक्तियों मे हँसना, झूमना तथा नीच व्यक्तियो में गाली बकना, गिरना आदि मद के लक्षण प्रकट होते है । सोने का वर्णन दृश्यकाव्य में भले ही उपयुक्त हो पर श्रव्य काव्य में वह चमत्कृति का अधायक नही होता । गाली बकना आदि भी काव्य के सात्त्विक आनन्द के प्रतिकूल पड़ते है इसलिये बिहारी ने मध्यम-प्रकृति व्यक्तियों में प्राप्त होने वाले अनुभावों की ही योजना सर्वत्र मद की व्यञ्जना में की है ।

लज्जा स्त्रियों का सर्व सुलभ तथा सहज मनोभाव है जो पुरुष, परिचित पुरुष, और नायक के समक्ष उत्तरोत्तर अधिक गहरा दीख पड़ता है । स्वभाव-सिद्ध होने के अतिरिक्त प्रतिज्ञा-भङ्ग आदि कारण विशेष द्वारा भी लज्जा का उद्‌बोध हो जाता है । बिहारी ने दोनों प्रकारों का उल्लेख किया है—

सटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि ।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि ।।

यहाँ पर नायक-दर्शन विभाव है तथा सटपटाना, मुँह ढक लेना और एकदम झाँक कर पीछे भाग जाना अनुभाव है ।

कारण विशेष द्वारा अनुभूत लज्जा का उदाहरण यह है—

बिछुरे जिय संकोच इहि बोलत बनत न बैन ।
दोऊ दौरि लगे हियै किये लजौंहे नैन ।।

श्रम, व्याधि आदि के कारण शिथिलता आने से काम के प्रति अरुचि होना आलस्य कहलाता है । उदाहरण लीजिये—

रँगी सुरत-रँग पिय हियै लगी जगी सब राति ।
पैंड पैंड पर ठठुकि कै ऐंड भरी ऐंडाति ।।१८३।।

यहाँ सुरत तथा रात्रि जागरण विभाव है और पग पग पर ठिठकना, अँगडाई लेना आदि अनुभाव ।

इष्ट की असिद्धि अथवा विनाश तथा गुरुजन, राजा आदि के प्रति अपराध करने पर हृदय में जिस अनुताप की अनुभूति होती है वह 'विषाद'

कहलाता है। अनुत्साह, खिन्नता निःश्वास आदि इसके अनुभाव होते है।
निम्नलिखित दोहा विषाद का कितना सुन्दर उदाहरण है—

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति फिरि फिरि लेति उसासु।
साई सिर सित केस लौं बीत्यौ चुनति कपासु॥

यहाँ संकेत स्थान का विनाश विभाव है तथा करुण अवलोकन और उसाँस लेना अनुभाव।

विचार पूर्वक किसी निर्णय पर पहुँचना वितर्क कहलाता है। जैसे—

नेहु न नैनन को कछू उपजी बुरी बलाइ।
नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाइ॥

शारीरिक क्रिया के आधिक्य से उत्पन्न होने वाला भाव श्रम कहलाता है। स्वेद आना, आँखें भारी हो जाना, जंभाई और अंगड़ाई आदि इसके अनुभाव हैं—

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेदकन जोति।
आरुन बदन छबि मदन की, खरी छबीली होति॥

वास्तव में आलस्य, श्रम, निद्रा आदि हृदय की वृत्तियाँ न होकर शारीरिक धर्म हैं, अतः उन्हें भाव नहीं कहा जा सकता फिर भी काव्यशास्त्रियों ने औपचारिक दृष्टि से सञ्चारी भावों में इनकी गणना की है क्यों कि चिन्ता त्रास आदि की भाँति ही ये भी रसानुभूति में सहायक होते हैं। तात्पर्य यह है कि संचारी भावों में कुछ तो हृदय-वृत्तियाँ आती हैं और कुछ शारीरिक। महत्त्व की दृष्टि से इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। हृदय की वृत्तियाँ तो स्वतन्त्र रूप में व्यञ्जित होकर भी अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं किन्तु शारीरिक व्यापार स्वतन्त्र रूप से आने पर किसी प्रकार की अनुभूति का उद्बोधन नहीं करते। उदाहरणार्थ उक्त दोहे में तो स्वेदकण आदि द्वारा व्यञ्जित श्रम छबि मदन की आदि पदों की सहायता से संकेतित सुरतव्यापार से अभिव्यक्त रतिभाव की अनुभूति कराता है अतः संचारी भाव है किन्तु 'स्वेद सलिल-कण मुख पर झलके किया देर तक था व्यायाम" जैसी उक्तियों में श्रम को संचारी नहीं माना जा सकता क्योंकि उससे किसी प्रकार की भाव-अनुभूति नहीं होती।

कभी कभी हृदय में एक भाव के उठते उठते दूसरा भाव और उत्पन्न हो जाता है। कभी एक भाव की शान्ति में और दूसरे की अनुभूति में चमत्कार का अनुभव होता है तो कभी अनेक भाव एकत्र स्थित रह कर

विचित्रता का समावेश करते है। इस प्रकार रीतिकारों ने भाव की चार अवस्थाएँ आस्वादन में हेतु मानी है—भावसन्धि, भावोदय, भावशान्ति और भाव-शबलता।

भावसन्धि—

जब दो भाव मिलकर समवेत रूप में आस्वाद्य बनते हैं तब भाव सन्धि नहीं कही जा सकती क्योंकि एक ही स्थान में एकाधिक सञ्चारी तो प्रायः हुआ ही करते हैं। भाव सन्धि की स्थिति वहीं मानी जाती है जहाँ विरोधी भावों का एक साथ वर्णन हो और वे समवेत प्रभाव उत्पन्न न कर पृथक् पृथक् आस्वाद के कारण हों। दो भावों की स्थिति एक ही विभाव के प्रति रह सकती है और एकाधिक विभावों के प्रति भी। बिहारी की रचना में दोनों ही उदाहरण प्राप्त होते हैं—

छुटी न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे संकोच सनेह॥

यहाँ पर प्रियतम विभाव है तथा उसके प्रति व्रीडा तथा औत्सुक्य व्यञ्जित है। लोचनों का सटपटाना एक मात्र अनुभाव है जो दोनों ही भावों की अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त है—

पिय बिछुरन को दुसह दुख हरसु जात प्यौसार।
दुरयोधन लौ देखियत तजत प्रान इहि बार॥

इस दोहे में वियोगजन्य दुख तथा प्रत्याशित मिलन-जनित हर्ष के विभाव पृथक् पृथक् हैं। इस प्रकार यहाँ विषाद तथा हर्ष की सन्धि है।

भावोदय तथा भावशान्ति—

वास्तव में एक ही स्थल पर होते हैं। कारण विशेष से किसी भाव के शान्त होने पर जब अन्य विरुद्ध भाव का उदय होता है तब भावोदय की स्थिति होती है और किसी भाव के उदय होने से यदि उसके पूर्ववर्ती किसी भाव की शान्ति होती है तो वहाँ भाव-शान्ति की स्थिति मानी जाती है। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से देखने पर दोनों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता क्योंकि दोनों एक ही स्थान पर स्थित रहते हैं किन्तु तनिक ध्यान से विचार करने पर दोनों का मौलिक अन्तर साफ दृष्टिगोचर होने लगता है। बात यह है कि जहाँ भाव के उदय में चमत्कार हो वहाँ भावोदय तथा जहाँ शान्ति में उत्कर्ष हो वहाँ भावशान्ति होती है। उदाहरण लीजिये—

बिथुरयौ जावक सौति पग निरखि हँसी गहि गाँसु ।
सलज हँसौही लखि लियौ आधी हँसी उसाँसु ।।

इस दोहे में असूया भाव की शान्ति और विषाद का उदय है। विषाद में अधिक चमत्कार होने के कारण यह भावोदय ही माना जायेगा और—

सोवति लखि मनु मानु धरि ढिंग सोयौ प्यौ आइ ।
रही सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौं लपटाइ ॥

यहाँ पर नायिका का हृदय से लिपटना उसके अमर्ष की शान्ति पर ही आधारित है वही आस्वादन-निमित्त है अतः यह भावशान्ति का उदाहरण है ।

भावशबलता

कई विरोधी भावों की एकत्र स्थिति भावशबलता कहलाती है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार विरोधी भावों की उपमर्द्य-उपमर्दक स्थिति में भावशबलता होती है किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ उपमर्द्य-उपमर्दक भाव को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार किसी भी अवस्था में भावों का मिलन भावशबलता कहलाता है। वास्तव में उपमर्द्य-उपमर्दक भाव को भावशबलता के लिये आवश्यक न मानने पर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भाव परस्पर विरोधी होने चाहियें, अन्यथा समान भावों का संघात समवेत रूप में ही आस्वाद्य बन सकेगा। बिहारी में भावशबलता के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

बालम बारै सौति के सुनि पर नारि विहारु ।
भौ-रस अनरसु रिसरली रीझखीझ इक बारु ।।१८७।।

पति के सपत्नी की पारी में अन्यनारी के समीप चले जाने पर ईर्ष्याजनित हर्ष, अपने यहाँ न आने पर विषाद और क्रोध, सपत्नी के प्रति उपहास, अपनी पारी में नायक के अन्यत्र न जाने के कारण प्रसन्नता और अन्य नारी की ओर आकृष्ट होने की लत पड़जाने से खीझ, इन विरुद्ध भावों की शबलता यहां आस्वाद्य है। इसी प्रकार—

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात
भरे भौन में करत है नैनन ही सब बात ।।३२।।

इस दोहे में भी नायिकागत खीझ, प्रसन्नता और लज्जा की शबलता है ।

रसाभास तथा भावाभास

रस और भाव जब अनौचित्य-प्रवर्तित होते हैं तो क्रम से रसाभास तथा भावाभास कहलाते हैं क्योंकि रसानुभूति सत्त्वमय होती है और अनुचित

रति आदि की अनुभूति सत्त्वमयी नहीं मानी जा सकती, अतः उसका रसकोटि तक उन्नयन नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि प्रेम का जो स्वरूप धर्मशास्त्र से सम्मत है वही रस की श्रेणी में आता है। स्वकीया-प्रेम तथा कुमारी-प्रेम ऐसे ही है। कुमारी-प्रेम इसलिये सह्य माना गया है क्योंकि उसकी स्वकीया-रूप में परिणत होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है। परोढा प्रेम अथवा परोढा का किसी अन्य नायक से प्रेम अनुचित होने के कारण रसाभास कहलायेगा। फिर भी रसाभास और भावाभास दोनों ही आस्वाद्य होते हैं यह बात दूसरी है कि वे विशुद्ध रसकोटि तक नहीं पहुँच सकते। पुरुष-प्रवृत्त रति तथा एक नायिका का अनेक-पुरुष-विषयक प्रेम भी अनुचित माना गया है अतः यह भी रसाभास के ही अन्तर्गत आयेगा। इसी प्रकार अनौचित्यप्रवृत्त रस में यदि कोई भाव-विशेष प्रधानतया अभिव्यक्त होता है वह भावाभास कहलाता है। बिहारी ने भी इन सब के उदाहरण-स्वरूप कतिपाय दोहे लिख दिये हैं—

देह लगे हू गेहपति तऊ नेह निरवाहि।
नीची अंखियनु ही इतै गई कनखियनु चाहि॥

विवाहित पति के साथ बैठी हुई इस परोढा नायिका का अपने उपपति की ओर कटाक्ष करके देखना रसाभास की ही सृष्टि करता है।

कहत न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार ढिग सुकलौ सूकत जाति॥

इस दोहे में पुरुष-प्रवृत्त रति की अभिव्यक्ति हुई है। पुरुष-प्रवृत्त-रति अनाचार व अत्याचार की सीमा तक पहुँच सकती है इसीलिये उसे अनुचित बताया गया है। इसी प्रकार एक स्त्री का अनेक पुरुषों से प्रेम करना अनुचित है और वह शृङ्गाराभास ही हो सकता है; यथा—

लखि लौने लोयननु के कोयन होइ न आज।
कौनु गरीब निवाजिबौ कित तूठ्यौ रतिराज॥

इस दोहे में 'आजु' से स्पष्ट ही नायिका का नित प्रति नया प्रेम करना व्यञ्जित है। 'कौन' इस अनिश्चयवाचक सर्वनाम से नायक-अनेकत्व भी ध्वनित होता है। अतः यहाँ रसाभास ही है। इसी प्रकार जहाँ अनौचित्य-प्रवृत्त-रसविषयक भाव-विशेष की प्रधानता अभिव्यक्त होती है वहाँ भावाभास ध्वनि कही जाती है। बिहारी सतसई से उदाहरण लीजिये—

सन सूक्यौ बीतौ बनौ ईखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजौं धरु धरहरि उर नारि।

यहाँ पर 'नारि' सम्बोधन से प्रौढा नायिका की प्रतीति होती है। "धरु धरहरि उर" से उसका विषाद ध्वनित है जिसका कारण है सहेटस्थलों का नष्ट हो जाना जहाँ नायिका उपपति से मिला करती थी। अतः यह प्रौढागत उपपतिविषयक विषाद अनुचित होने के कारण भावाभास ही है।

विप्रलम्भ-वर्णन

प्रेमियों का समय भी सदा एक सा नहीं रहता। जहाँ संयोगावस्था में वे विभिन्न केलियों द्वारा पुष्ट मधुर रस का आस्वाद लेते है वहाँ वियोग में उन्हें पारस्परिक अदर्शन आदि के कटुरस का घूँट भी पीना पड़ता है, संयोग-दशा में प्रेम का जितना पोषण और प्रसार होता है वियोगावस्था में उतनी ही तीव्र वेदना की अनुभूति होती है। अतः अनुराग की गहनता का मापदण्ड वियोग ही है संयोग नहीं, और इसीलिये विप्रलम्भ को अधिक मधुर और महत्त्वपूर्ण माना भी गया है। यद्यपि 'स्नेहः प्रवासाश्रयात्' के अनुसार कुछ लोग वियोग में स्नेह का ह्रास ही प्रतिपादित करते है किन्तु प्रेम रस के अमर कवि कालिदास ने अपने मेघदूत में स्पष्ट रूप से इस प्रवाद का प्रत्याख्यान किया है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वयोगाद्।
इष्टे, वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ॥

अर्थात् प्रेम को वियोगदशा में ध्वंसशील बताया गया है पर वास्तव में इष्ट के अयोग के कारण उसके प्रति उत्तरोत्तर प्रवृद्ध होते हुए भाव से वह राशि के रूप में सञ्चित होता रहता है। कविवर अमरुक ने भी विप्रयोग में अद्भुत अद्वैत-अनुभूति का उल्लेख किया है। संयोग की दशा में प्रेमी-युगल संसार से विच्छिन्न होकर अपने आप में रत होते हैं। वे अपनी केलियों में किसी अन्य को साझीदार तो क्या दर्शक के रूप में भी सहन नहीं कर सकते किन्तु वियोग में वे उनके साथ तादात्म्य स्थापित करते है, अपनी व्यथा सुनाते हैं और प्रेम-पात्र का पता भी पूछने लगते हैं—प्राणियों से ही नहीं अचेतन पदार्थों तक से। तुलसी के राम 'लता-तरु-पाँती' से सीता का पता पूछते फिरे थे और जायसी की नागमती ने 'भौरा और काग' से अपने प्रिय के पास संदेश लेजाने की प्रार्थना की थी। स्वयं कालिदास के यक्ष ने मेघ के द्वारा अपनी प्रियतमा के पास संदेश भेजा था। तात्पर्य यह है कि संयोग की अपेक्षा वियोग में प्रेम का प्रसार दिखाने के लिये अधिक स्थान होता है।

भरत मुनि ने विप्रलम्भ के कोई भेद-उपभेद नही बताए। सर्वप्रथम भोजदेव ने अपने शृङ्गारप्रकाश में विप्रलम्भ के भेदों का निरूपण किया।

धनञ्जय ने शृङ्गार के तीन भेद अवश्य किये थे और प्रथममिलन से पूर्व की अवस्था को 'अयोग' का नाम दिया। बाद के आचार्यों में विप्रयोग के उपभेदों को लेकर दो मत प्रतिष्ठित हुए एक के अनुसार वह पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण भेदों वाला हुआ और दूसरे के अनुसार उसके अभिलाष, ईर्ष्या, विरह प्रवास और शाप, ये पाँच उपभेद हुए। पण्डितराज जगन्नाथ ने इन उपभेदों में कोई विच्छित्तिवैचित्र्य नहीं माना[1], परन्तु इन उपभेदों में अधिक अन्तर चाहे न हो फिर भी मनोदशा में अन्तर अवश्य पाया जाता है। जैसे प्रवासजन्य विप्रलम्भ में संताप की तीव्रता होगी और ईर्ष्याजन्य में रोष-मिश्रित विषाद की। इसीलिये पण्डितराज का मत अधिक समीचीन नहीं जान पड़ता। उक्त दोनों मतों में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है। अभिलाष और पूर्वराग में कोई अन्तर नहीं। धनञ्जय का अयोग भी इनसे भिन्न नहीं है। करुण और शाप भी प्रायः समान से ही हैं। दोनों विप्रलम्भ के कारण-मात्र है और मनोदश पर कोई विशेष प्रभाव डालने में असमर्थ है। अतः ये प्रवास से बहुत भिन्न नहीं हैं और उसमें अन्तर्भूत माने जा सकते हैं। मान तथा प्रवास दोनों मतों में समानरूप से स्वीकृत हैं ही। करुण विप्रलम्भ शाप आदि दैवी व्यापारों पर आश्रित रहने के कारण तर्कप्रधान युग में उपेक्षास्पद ही समझना चाहिये। अब केवल 'विरह' अवशिष्ट रह जाता है जिसमें खण्डिता अथवा विप्रलब्धा नायिका की मनोदशा का वर्णन रहता है। इसे न तो पूर्वराग में ही रखा जा सकता है और न प्रवास में ही। प्रणयमान भी इसे नहीं कह सकते और जब तक अन्यस्त्री-विषयक रति का स्पष्ट पता न चल जावे तब तक ईर्ष्यामान भी नहीं मान सकते अतः 'विरह' उपभेद भी पृथक् मानना ही पड़ेगा। इय प्रकार विप्रलम्भ के ४ भेद हो जाते है— पूर्वराग, मान, विरह और प्रवास।

विप्रलम्भ के इन भेदों में से पूर्वराग में उत्कट अभिलाषामात्र होती है। प्रियतम के संसर्ग का अनुभव पहले से न किया होने के कारण वियोग-व्यथा की अधिक अनुभूति इसमे संभव ही नही है। मान भी थोड़े ही समय के लिये होता है, वह भी घर के भीतर ही। इसलिये वेदना का उत्कर्ष इसमें भी अधिक नहीं हो सकता। उसे तो विप्रलम्भ के भीतर न मानकर संयोग के भीतर ही मानना चाहिये। मान थोड़े समय तक रहेगा और फिर उसकी शान्ति हो जायेगी। अन्य संचारियों की भाँति मान का कोप भी संचरण

---

१ "इमं च पंचविधं प्राञ्चः प्रवासादिभिरुपाधिभिरामनन्ति। ते च प्रवासाभिलाष विरहेर्ष्याशापानां विशेषानुपलम्भात् नास्माभिः प्रपञ्चिताः" (रस गङ्गाधर)

करके लुप्त हो जायगा। इसलिए उसे विप्रलम्भ में लाना ही ठीक नहीं। इसी से कुछ लोगों ने कहा है कि यदि खुशामद से पूर्व ही मान उड़ जाय तो विप्रलम्भ नहीं माना जा सकता। शृंगार के दोनों भेदों में योग और अयोग ही प्रधान माना जाता है। मान की अवस्था में संयोग नहीं रहता, इसी से वह विप्रलम्भ के भीतर माना गया है।[१] यह सब कुछ होते हुए भी मान में वेदना का प्रसार चरम सीमा पर नही पहुँच सकता। विरह के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। इस प्रकार केवल प्रवास विप्रलम्भ ही वेदना के तीव्र स्वरूप का चित्रण करने के लिये उपयुक्त क्षेत्र रह जाता है। यों तो कवियों ने पूर्वराग और मान का भी काफी वर्णन किया है किन्तु विरह की दसों दशाओं को दिखाने के लिये उनमें स्थान नहीं है। बिहारी ने वियोग के चारों स्वरूपों का वर्णन किया है किन्तु प्रवास का विशेष रूप से। काम दशा के भी सभी स्वरूप उनके वियोग-वर्णन में प्रतिबिम्बित हुए है।

पूर्वराग—

किसी के गुणों का श्रवण अथवा सौन्दर्य का दर्शन कर हृदय में जो अनुराग भावना उद्‌भुत हो जाती है उसे पूर्वराग कहते हैं इसमें विशिष्ट कारणों से सम्मिलन में बाधा होती है—

हरि छबिजल जब तें परे तब तें छिनु बिछुरै न।
भरत ढरत बूडत तरत रहत घरी लौं नैंन॥

यहाँ दर्शनजन्य पूर्वराग है। हरि (नायक) आलम्बन है, उसकी छबि उद्दीपन है, आँखों में बार-बार आँसुओं का आना आदि अनुभाव है, स्मृति, चिन्ता संचारी है, और नायक-विषयक रति स्थायी भाव है। इस प्रकार रस की समस्त सामग्री इस दोहे में मौजूद है।

मान—

मान विप्रलम्भ दो प्रकार का होता है प्रणय-मान तथा ईर्ष्यामान। प्रणय-मान में यत्किञ्चित् कारणवश प्रेमियों की परस्पर रूठने की प्रवृत्ति होती है। ईर्ष्यामान प्रियतम के अन्य वनिता-आसक्ति आदि अपराध के कारण उत्पन्न रोष को कहते है।

प्रणय-मान—

कहा लेहुगे खेल पै तजौ अटपटी बात।
नैंक हँसौही हैं भई, भौहैं सौहैं खात॥४९६॥

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ १२१।

दोऊ अधिकाई भरे, एकै गौ गहराइ।
कौन मनावै को मनै, मानै मन ठहराइ ।।५५६।।

ईर्ष्या मान—

गह्यौ अबोलो बोलि प्यौ, आपुहिं पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुन की, लखि सकुचौहो दीठि ।।५८८।।

विरह—

बिलखी लखै खरी खरी, भरी अनख बैराग।
मृगनैनी सैनन भजै, लखि बेनी के दाग ।।५८४।।
नभलाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न ।।

प्रवास—

प्रियतम के किसी कारण विशेष से बिदेश चले जाने पर हृदय में जो संतापमयी वृत्ति जागरित हो जाती है वह प्रवास विप्रलम्भ कहलाती है, इसके तीन रूप होते है १—प्रियतम की विदेशगमन-वेला में उद्वेग, २—उसके विदेश में रहते समय दाहक संताप की अनुभूति और ३—लौटकर आये हूए प्रिय के दर्शन होने से पूर्व का औत्सुक्य। बिहारी ने तीनो ही दशाओं का यथेष्ट वर्णन किया है, क्रम से उदाहरण लीजिये—

१— ललन-चलन सुनि चुप रही, बोली आप न ईठि।
राख्यौ गहि गाढ़ै गरैं मनो, गलगली डीठि ।।

२— पजर्‌यौ आगि वियोग की, बह्यौ विलोचन नीर।
आठौ जाम हियौ रहै, उड़्यौ उसास समीर ।।५५०।।

३— रहे बरोठे में मिलत हरि प्रानन के ईसु।
आवत-आवत ही भई विधि की घरी घरी सु ।।२२३।।

इस प्रकार विप्रलम्भ के सभी स्वरूप बिहारी-सतसई में मिलते हैं फिर भी बिहारी ने प्रवास विप्रलम्भ का ही अधिक वर्णन किया है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इनके विरह-वर्णन में उतनी गम्भीरता नहीं है जितनी सूर आदि भक्त कवियों के वर्णन में। वास्तव में रीतिकाल के लौकिक-उपभोगपरक दृष्टिकोण में विरह का विस्तार समा ही नहीं सकता था। उस ओर कवियों की इतनी रुचि भी नहीं थीं जितनी संयोग की ओर। रीतिकालीन कवि-जगत् के गुरु बिहारी भी जग की इस वायु से प्रभावित न होते तो सचमुच आश्चर्य की बात थी। लगता है जैसे कवि ने खानापुरी

करने के लिये ही विरह के क्षेत्र मे प्रवेश किया है। उसकी विविध दशाओं का शारीरिक पर्यवेक्षण ही वे कर पाये मानस में गोता लगाने का पूरा-पूरा साहस होते हुए भी उन्होंने इसकी आवश्यकता नही समझी। उदाहरण लीजिये—

करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाडतु नीच।
दीनै हूँ चसमा चखनु, चाहै लहै न मीच ॥१४०॥

नायिका विरह में इतनी कृश हो गई कि मृत्यु उसे चश्मा लगा कर भी नही देख पाती। विरह-जन्य-कृशता की यह बाहरी नापजोखमात्र है जिससें निम्नकोटि के चमत्कार की ही सृष्टि हो सकती है रस का अनिर्वचनीय आस्वादन नहीं। यह तो कृशता की नापजोख की बात हुई जो एक चाक्षुष तथ्य है। अचाक्षुष ताप की पैमायश करने में भी बिहारी आँखों को चकाचौंध में डाल देने वाले कमाल से आगे प्राय: नहीं पहुँच पाये—

औंधाई सीसी, सुलखि बिरह-बरत बिललात
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छीटौ छुयौ न गात ॥२१७॥
जिहि निदाघ-दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥२४४॥

यह ताप केवल नायिका के ही नहीं पड़ोसियों के भी किसी पाप का कुफल है जो अवश्यं भोक्तव्य के रूप में सिर आ पड़ा—

सीरैं जतननु सिसिर ऋतु, सहि विरहिन-तन तापु
बसिबैकौ ग्रीषम-दिननु परचौ परोसिनि पापु ॥२६६॥

उपचार करने वाली सखी भी स्नेह के कारण ही नायिका के पास जा पाती है और वह भी भीगे हुए कपड़े का कवच धारण करके—

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस ककै सनेह-वस सखी सबै ढिंग जाति ॥२८३॥

नायिका की उष्ण आहों से माघ की रात में भी पूरे गाँव में लुवों का चलना ऐसी ही बात है—

सुनत पथिक मुँह माह-निसि चलति लुवै उहिं गाम।
बिन बूझै बिनही कहैं, जियत बिचारी बाम ॥२८५॥

गनीमत है कि बिहारी की नायिका का ताप यहीं तक सीमित रहा। एक कवि ने तो नायिका की "छाती सों छुवाइ दिया बाती क्यों न बारि लै" का ही ऐलान कर दिया और एक अन्य कवि जी सर सरिताओं को सुखाते हुए

मानसरोवर की तह को भी दरकाने और "विधि की बनावट" को चौपट करने में दत्तचित्त हुए। प्रेम की लता को तो बिहारी ने विरह में उत्तरोत्तर[1] फैलते हुए देखा था—

नैक न झुरसी बिरह-झर, नेहलता कुम्हिलाति।
नित-नित होति हरी-हरी, लरी झाल रति जाति ॥६८॥

फिर उसी की बदौलत लुवौ का चलना कुछ समझ मे नहीं आता। विरहाग्नि की विषमता का ऐसा चमत्कारक वर्णन भी बिहारी ने किया है जो सुरुचिपूर्ण उक्ति वैचित्र्य में पर्यपवसित है और चमत्कारपूर्ण होता हुआ भी सहृदय-संवेद्य हैं—

लाल तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप अपार ॥
सरसैं बरसै नीर हूं, झरहूँ मिटै न झार ॥३६॥
याकैं उर और कछू लगी विरह की बाइ।
पजरैं नीर गुलाब कै पिय की बात बुझाइ ॥४८॥

किन्तु है यह सब परम्पराभुक्त ही। चन्दनादि शीतल पदार्थ, मल्लिका-परिमल, वर्षाऋतु, चन्द्रमा की चाँदनी, गुलाबजल आदि से वियोगव्यथा के और अधिक उद्दीप्त होने की बात कविलोग युगों से कहते आये हैं बिहारी ने भी अधिकतर ऐसी ही उक्तियाँ कही हैं—

औरैं भँति भएब ए चौसर, चन्दन चन्द।
पति बिनु अति पारत बिपति, मारत मारुत मन्द ॥८६॥
हौ ही बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सब गाँठ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकरनाउँ ॥२२५॥
विकसित-नव-मल्लीकुसुम-निकसत परिमल पाइ।
परसि पजारति विरह-हिय बरसि रहे की बाइ ॥१७५॥
मार-सुमार करी डरी, मरी मरीहिं न मारि।
सींचि गुलाब घरी-घरी, अरी बरीहि न बारि ॥३०८

महाकवि कालिदास ने "विसृजति हिमगर्भैरिन्दुरग्निं मयूखैः" तथा गोस्वामी तुलसीदास ने "पावकमय ससि" कहा है चन्द्रमा की वियोगविषमता को उजागर किया था। ऐसी स्थिति में प्रिय की दी हुई तुच्छ वस्तु भी प्राणावलम्ब का सहारा बन जाती है—

हँसि उतारि हिय ते दई, तुम जु तिहिं दिना लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यौं वहै चुहुटिनी माल ॥६०॥

हित करि तुम पठयो लगै वा बिजना की बाइ ।
टली तपनि तन की तऊ, चली पसीना न्हाइ ॥५६०॥

प्रियतम के भेजे हुए पदार्थ ही नही संदेश भी विरह में धैर्य देते है इसीलिये उनकी प्राप्ति के हेतु औत्सुक्य का अतिरेक स्वाभाविक ही है यदि सन्देश सखीजन द्वारा लाया हुआ हो तब तो वह मिलन से तनिक-बहुत ही कम होता है[1] । बिहारी की नायिका सखी द्वारा लाये प्रियतम के सन्देश को जानने के लिये कितनी उत्सुक है—

फिरि फिरि बूझति कहि कहा, कह्यौ साँवरे गात ।
कहा करत देखे कहाँ अली, चली क्या बात ॥२१६॥

वियोगजन्य प्रेम के प्रसार की अभिव्यक्ति इस दोहे में सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से हुई है। अलङ्कार की चमक तथा वक्रोक्ति की बाँकी अदा न होने पर भी यह दोहा भाव से ओत-प्रोत है। पत्रिका-विनिमय, स्वप्नदर्शन तथा चित्रावलोकन आदि की योजना भी विप्रलम्भ-वर्णन के अन्तर्गत कवि-समुदाय करता आया है, इन सब का उद्देश्य प्रेम की व्यापकता की व्यञ्जना ही है। बिहारी ने भी इन विषयों से सम्बद्ध दोहे लिखे हैं। प्रियतम की पत्रिका को उसी के समान प्रेम का आलम्बन किस प्रकार बनाया जा रहा है—

कर लै चूमि चढाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति धरति समेटि ॥६३५॥
रँगराती रातैं हियैं प्रियतम लिखी बनाइ ।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाइ ॥१६४॥

प्रियतम के पत्र के उत्तर में बिरहिणी वाला भला क्या लिखे ? उसे मनकी दशा लिखते बनता ही नहीं। संदेश भेजे तो संदेशवाहक से कहे कैसे ? लज्जा जो आती है। अतः उसने लिख भेजा:—

कागद पर लिखत न बनै कहत सँदेस लजात ।
कहि है सब तेरौ हियौ मेरे मन की बात ॥६०॥

मन की बात को भला मन से अधिक कौन जान सकता है, कौन लिख सकता है कौन पढ सकता है और कौन कह सकता है ? दिल से दिल को राहत ही नही बेचैनी भी होती है। और समान रूप से आसक्त दिल की बात दूसरा दिल स्वयं जान ही लेता है फिर लिखने की जरूरत ही क्या है ? यह बिहारी की अपनी सूझ है—

१ कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किंचिदूनः (मेघदूत) ।

बिरह बिकल बिनु ही लिखी, पाती दई पठाइ।
आँक बिहूनीयौ सुचित, सूनै बाँचत जाइ ॥५२३॥

प्रियतम को पत्र लिखते-लिखते विरह-व्यथा-प्रसूत आँसू उमड़कर पत्रिका पर गिर कर उसे गला दें तो क्या आश्चर्यः—

तर झरसी ऊपर गरी, कज्जल-जल छिरकाइ।
पिय पाती बिनही लिखी बाँची बिरह बलाइ ॥३२८॥

विरहताप के कारण पत्र का नीचे से झुलस जाना कवि को ताप की नाप जोख की ओर उन्मुख करता हुआ प्रतीत होता है परन्तु 'झरसी' और 'गरी के विरोध में चमत्कार के साथ सरसता का भी समावेश हो गया है। पत्रिका का गलना तो स्वाभाविक है पर झुलसना परम्परा का पालन मात्र। अब स्वप्नदर्शन का एक उदाहरण लीजिये—

सोवत सपने स्याम घन, मिलि हिलि हरत बियोग।
तबही टरि कितहूँ गई, नींदौं नीदनु जोग ॥११६॥

चित्रदर्शन का बिहारी ने अद्भुत ढंग में वर्णन किया है। ज्ञानमार्ग के अनुसार ज्ञान के माध्यम से ज्ञाता तथा ज्ञेय में अभेद सम्पन्न हो जाता है। योगमार्ग में समाधि अथवा ध्यान द्वारा साधक और साध्य में एकता स्थापित हो जाती है। संस्कृत में भृङ्गी-कीट न्याय ध्याता एवं ध्येय के अभेद में पर्यवसित होने की ओर सकेत करता है। बिहारी ने एक दोहे में इस का भी उल्लेख किया है। प्रियतम के ध्यान में लीन नायिका प्रियतम के रूप में ही परिणत हो जाती है और आरसी में अपने नये रूप का प्रतिबिम्ब देखकर रीझ जाती है—

प्रिय के ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपुहीं आरसी लखि रीझै रिझवारि ॥

परम्परा का पल्ला छोड़कर और तमाशे से दृष्टि हटाकर जब बिहारी अपनी सामान्य भावभूमि पर स्थित रह कर नायिका की विरह दशा का वर्णन करते हैं तब उनकी उक्तियाँ उनके निर्धारित स्टैण्डर्ड से नीचे रह ही नहीं पाती। उदाहरण लीजिये—

करके मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनुहूँ नीठि पिछानी जाइ ॥५१६॥

बिहारी स्वभावतः ध्वनिवादी कवि है। ध्वनि में भी रस और भावध्वनि को उन्होंने प्रश्रय दिया है। उनकी रचना की आलोचना इसी दृष्टि से होनी

चाहिये। इस दोहे में बिरहिणी की दशा हाथ से मसले हुए पुष्प के समान बताई गई है। केवल 'कुम्हलाना' क्रिया से ही क्लान्ति की अभिव्यक्ति हो सकती थी किन्तु कवि ने 'कर के मीड़े' विशेषण द्वारा उपमान की दशा के माध्यम से नायिका की क्लान्ति का अभिव्यञ्जन किया है। कुसुम को हाथ से मसल देने पर उसमें विवर्णता, कृशता, आदि जिस मात्रा में आ जाते है उस मात्रा में अन्य प्रकार से नही। अतः इस प्रकार के उपमान द्वारा उपमेय नायिकागत विरहजन्य कृशता तथा ग्लानि की अभिव्यक्ति होती है जिसे उत्तरार्ध और भी अधिक तीव्रता के साथ आस्वाद्य बना देता है। कुम्हलाना तथा अनभिज्ञेयता सूचित विवर्णता, कृशता आदि अनुभावों से पुष्ट ग्लानि भाव की मार्मिक अभिव्यञ्जना इस दोहे में होती है।

सारांश यह है कि बिहारी का विरहवर्णन अधिकतर ऊहात्मक है। ऊहा स्वतः इतनी बुरी वस्तु नही है किन्तु जब ऊहा में काव्यार्थ 'सिद्ध' के रूप में स्वीकार किया जाता है उस वक्त आस्वाभाविकता आजाती है पर जब वह साध्य के रूप में रहता है तो खटकता नहीं। उदाहरण लीजिये—

जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैड़ो घर कौ भयौ पैंड़ो कोस हजार ॥१४५॥

ऊहात्मक होने पर भी यह दोहा विरह-ताप की नाप-जोख करने वाले उदाहृत दोहों से भिन्नकोटि के प्रभाव की सृष्टि करता है क्योंकि जिस प्रकार उन दोहों में ताप के स्थूल अभिधेत्र अर्थ को सिद्ध मानकर लुवैं आदि चलाई गई हैं उस प्रकार यहाँ घर की दूरी को हज़ार कोस बताकर भी उसके आधार पर यह नहीं कहा गया कि घर हज़ार कोस है इसलिये आने में १० दिन लग गए। अतः इन शब्दों का प्रयोग अभिधापरक न रहकर लक्षणापरक हो गया जिससे विलम्ब की असह्यता द्वारा द्योतित औत्सुक्य की व्यञ्जना निकलती है।

काल की दीर्घता द्वारा विलम्ब को लक्षित कर औत्सुक्य की व्यञ्जना करने वाला यह दोहा भी ऐसा ही है—

रहे बरोठे मैं मिलत, पिउ प्रानन के ईसु।
आवत आवत की भई, बिधि की घरी घरी सु ॥२२३॥

सत्य तो यह है कि प्रवसत्पतिका की अपेक्षा प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका का चित्रण अधिक स्वाभाविक हुआ है। निम्नलिखित दोहे में नायिका 'अवहित्था की स्वाभाविक सज्जा से कितनी आकर्षक हो उठी है—

ललन-चलनु सुनि पलनु मै अंसुआ झलके आइ ।
भई लखाइ न सखिन हूँ झूँठै दी जमुहाइ ।।३५८।।

तथा आगतपतिका एवं उसके प्रियतम का यह सकोच कितना रसात्मक है—

बिछुरै जिये संकोच इहि बोलत बनत न बैन ।
दोऊ दौरि लगे हियै किये लजौहै नैन ।।५७८।।

और आगतपतिका यह उत्साह भा—

मृगनैनी दृग की फरक उर-उछाह तन फूल ।
बिनही प्रिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल ।।२२२।।

इन सब उक्तियों में बिहारी की मौलिकता द्रष्टव्य है। प्रसङ्ग की योजना उनकी अपनी है किन्तु परम्परा ने यहाँ भी उनका पीछा बिलकुल ही नहीं छोड़ दिया था। उदाहरण लीजिये—

पूस मास सुनि सखिनु सौं साईं चलत सवारु ।
गहि कर बीन प्रबीन तिय गायो रागु मलारु ।।१४६।।

यह वर्षा जिसके कारण नायक प्रवास से रुक गया मलार गाकर बरसाई गई है जो परम्परा-जगत् में ही देखी जाती है। इससे अधिक स्वाभाविक उक्ति तो यह है—

बिलखी डभकौहें चखन तिय लखि गवन बराइ ।
पिय गहबरिआए गरैं राखी गरैं लगाइ ।।१६६।।

अभिलाषा—

इस दशा में विरहिणी कि उक्तियों से प्रियमिलन की उत्कट इच्छा की प्रतीति होती है—

तोही निरमोही लग्यौ मोही इहै सुभाउ ।
अनआए आवै नहीं आए आवतु आउ ।।३६।।

चिन्ता—

देखत दुरै कपूर लौं उपै जाइ जिन लाल ।
छिन-छिन जात परी खरी, छीन छबीली बाल ।।८६।।

सखी को चिन्ता है कि कहीं प्रतिदिन क्षीण होती हुई नायिका एक दिन कपूर की तरह ही लुप्त न हो जाय। इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की आशका से विवर्ण एवं हतश्री कर देने वाला मनोभाव ही चिन्ता है। यहाँ इष्ट की (नायक की) अप्राप्ति विभाव है, नायिका की प्रतिक्षण बढ़ती हुई

क्षीणता अनुभाव जिससे पुष्ट रक्षाविषयक चिन्ता व्यञ्जित है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण लीजिये—

को जानै ह्वै है कहा, ब्रज उपजी अति आगि।
मन लागै नैनन, लगै, चलै न मगपति लागि॥

स्मृति—

नायक के रूप, चेष्टाओं तथा साहचर्य-साक्षी स्थान के हृदयरूढ संस्कारों की बार-बार अनुभूति वियोग में हुआ ही करती है—

जहाँ जहाँ ठाढ्यौ लख्यौ स्याम सुभग सिर मौर।
बिनहूँ उन छिनु गहि रहत आँखिनु अजौ व ठौर॥
चितवनि भोरे भाइ की गोरे मुँह मुस्कानि।
लटति लटकि आली गरै चित खटकति नित आनि॥

गुण-कथन—

दच्छिन पिय ह्वै बामवस बिसराईं तिय आन।
एकै बासरि कैं बिरह, लागी बरस बिहान॥

भावुकतावश विरह का कारण स्त्रियों में प्राय: नायक की निठुरता को ही माना जाता रहा है। संयोग के समय सुख देने वाले नायक के गुणों की तुलना उसकी वियोग जनयित्री निठुराई से करती हुई वे विसूरा ही करती हैं।

उद्वेग—

अनर्थातिशय से प्रसूत सम्भ्रम जब चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्ति पाता है तो वह उद्वेग कहलाता है—

ह्याँ तें ह्वाँ ह्वाँ तै इहाँ नैकौ धरति न धीर।
निसि दिन डाढी सी रहति बाढी गाढी पीर॥५२२॥

प्रलाप—

धुरवा होहिं न अलि उठै, धुवाँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत् कौं पावस प्रथम पयोद॥५४६॥

उन्माद—

बिरहजरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि कै बार।
अरी आहु भजि भीतरी बरसत आजु अंगार॥५९३॥

व्याधि—

याके मन औरै कछू लगी बिरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कै पिय की बात बुझाइ॥

जडता—

पल न चलै जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अबही तनु रितयौ कहौ मनु पठयौ केहि पास॥

कब की ध्यान-लगी लखौं, यह घरु लगिहै काहि।
डरियतु भृङ्गी-कीट लौं, मति वहई ह्वै जाइ॥५८३॥

इस दोहे के पूर्वार्ध में जडता तथा उत्तरार्ध में चिन्ता अभिव्यक्त हैं।

मरण—

कहा कहौ वाकी दसा हरि प्रानन के ईस।
विरहज्वाल जरिबौ लखै मरिबौ भयो असीस॥

विरह की इन दशाओं में से व्याधि का वर्णन ही बिहारी ने अधिक किया है। विरह ताप कृशता आदि के ऊहात्मक वर्णन में उन्होंने तत्कालीन भद्दी रुचि का भी प्रदर्शन कर दिया है किन्तु अन्यत्र प्रेम के विविध स्वरूपों और तदन्तर्गत अनुभूतियों का विशद चित्रण कर सच्चे कवि हृदय एवं काव्यमर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनकी रचनाओं के परिशीलन से यही निष्कर्ष निकलता है कि विप्रलम्भ की अपेक्षा संयोग शृङ्गार का वर्णन वे अधिक स्वाभाविक ढँग से कर पाये है। इसका कारण बहुत कुछ उनकी वैयक्तिक परिस्थितियों से सम्बद्ध है। बिहारी का प्रायः सारा जीवन सुख के साथ बीता था। युवावस्था में वे ससुराल में ही रहे थे। अतः वियोग उनका स्वतः उतना अनुभूत विषय नही था जितना संयोग। यही कारण है कि वियोग की विविध दशाओं और भावानुभूतियों की अपेक्षा संयोगकेलियों के चित्रण में वे अधिक नवीनता, रमणीयता और स्वाभाविकता ला सके है।

अन्यरस—

हिन्दी के ही नहीं संस्कृत के रीति-ग्रन्थों में भी शृङ्गार का ही विस्तृत वर्णन मिलता है। अन्य रसों के उदाहरण मात्र देकर संक्षेप में संकेत कर दिया गया है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि बिहारी का भी मुख्य लक्ष्य शृङ्गार वर्णन ही रहा है फिर भी अन्य रसों के उदाहरण-स्वरूप एक-एक दो-दो दोहे बिहारी-सतसई में मिल सकते है।

हास्य—

हास्य तथा अद्भुत रस मे केवल आलम्बन की चेष्टाओं, व्यापारो, वेष, स्वरूप आदि के चित्रण से भी काम चल जाता है, आश्रय के निबन्धन की अनिवार्यता उसमें नहीं होती। संस्कृत के साहित्य में हास्य की योजना प्राय: रूढिवद्ध सी रही है। नाटकों में तो विशेषरूप से विदूषक के पेटूपन तथा ऊटपटाँग कथनों द्वारा हास्य-सृष्टि का विधान किया गया है। नाट्य-शास्त्र में हास्य के जो आलम्बन गिनाये गए है वे दृश्यकाव्य के लिये ही अधिक उपयुक्त है। वैद्य, ज्योतिषी आदि को हास्य का आलम्बन बनाकर फुटकर उक्तियाँ संस्कृत के सूक्तिसंग्रहों मे अवश्य मिलती हैं। यही परम्परा बिहारी ने भी निबाही है:—

बहु धनु लै अहसानु कै पारा देत सराहि।
वैदवधू लखि भेद सौं रही नाह मुँहु चाहि॥

इस दोहे में वैद्यराज अपनी पाराभस्म की प्रशंसा के पुल बाँधकर किसी नपुंसक की नपुंसकता तो नहीं, धन का हरण कर रहे हैं किन्तु वे स्वयं नपुंसक होने के कारण पत्नी को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। पत्नी साभिप्राय दृष्टि से उनके दम्भ को देखती रह जाती है।

इसी प्रकार यह दोहा लीजिये जिसमें पुराणवाचक पण्डितजी स्वयं परस्त्री-गमन के व्यसनी होते हुए भी भक्तिन बिल्ली की तरह दूसरों को उपदेश दे रहे है। श्रोताओं में बैठी हुई उनकी परकीया यह ढोंग देखकर हँसकर मुँह फेर लेती है। तब मिश्रजी की हँसी भी बडी कठिनाई से रुक पाती है—

परतिय-दोष पुरान सुनि हँस मुलकी सुखदानि।
कसुकर राखी मिश्रहू मुँह आई मुस्कानि॥

बिहारी का यह हास्य कोरा हास्य नहीं है। शिष्ट एवं गम्भीर होने के अतिरिक्त यह समाज के दम्भी तत्त्वों की पोल भी खोलता है। झूंठे सिद्धान्त-वादियों के लिये यह एक चुनौती है। शोक तथा उल्लास की शबलता में रँगे हुए ये ज्योतिषी, जी हास्य के आलम्बन होकर भी कितने दयनीय हैं—

चित पितुमारक जोग गनि भयौ भये सुत सोगु।
फिरि हुलस्यो जिय जोइसी समुझै जारज जोगु॥

विशुद्ध, शिष्ट तथा स्वस्थ स्मित का उदाहरण लीजिये—

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

करुण—

इष्ट वस्तु के आत्यन्तिक वियोग की अनुभूति से हृदय की जो दशा हो जाती है वही करुणरस की स्थिति कही जा सकती है। जब तक प्रिय वस्तु के मिलने की आशा अथवा संभावना रहती है तब तक रतिभाव ही स्थायी भाव होता है और वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार की सत्ता होती है; जैसे—

स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर।
असुअन करति तरौंस को खिनकु खरौहों नीर॥

इस दोहे में कृष्ण के पुर्नमिलन की आशा के सर्वथा लुप्त होने का कारण नही है। अतः यहाँ करुण रस नहीं माना जा सकता। करुण रस के उदाहरण-रूप में यह दोहा दिया जा सकता है—

कहे जु वचन वियोगिनी विरह विकल बेलाइ।
किये न को असुआं-सहित सुआ ति बोल सुनाइ॥

नायिका के वचनों को यदि नायक के लौट आने पर तोता सुनाता तो लोगो को हँसी ही आती आँसू नहीं। आँसू तभी संगत हो सकते है जब उसका निधन हो गया हो क्योकि तोते द्वारा दुहराये गये उसी व्यक्ति के शब्द करुणाजन्य आँसुओं का प्रवर्तन कर सकते है जो संसार में नहीं रहा हो। अतः इस दोहे में करुणरस ही माना जाना चाहिये।

रौद्र—

रौद्र रस का वर्णन बिहारी की प्रकृति के प्रतिकूल ही था फिर भी एक-आध दोहे में उसकी व्यञ्जना स्पष्ट प्रतीत होती है—

प्रलयकरन बरसन लगे जुरि जलधर इक साथ।

तथा—लोपे कोपे इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल।
गिरिधारी राखे सबै गो गोपी गोपाल॥

वीर—

सामां सैन सयान के सबै साहि के साथ।
बाहुबली जयसाहिजू फतेह तिहारे हाथ॥

यह कहा जा सकता है कि राजविषयक रति होने के कारण वीररस यहाँ प्रमुख नहीं है अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य है, परन्तु आस्वादन का पर्यवसान वीर-रस में होने के कारण वही प्रमुख है। कवि की राजविषयक रति उतनी स्पप्ट नहीं है।

भयानक—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कम्पि किसोरी दरस कै खरे लजाने लाल॥ ६०१

शान्त—

हरि कीजतु तुमसौ यहै बिनती बार हजार।
जिहि तिहिं भाँति डरचौ रहौ परचौ रहौ दरबार॥ २५१
जम-करि-मुँह-तरहरि परचौ, इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौ, नरहरि के गुन गाउ॥२१॥

अद्‍भुत—

मोहन मूरति स्याम की अति अद्‍भुत गति जोइ।
बसत सुचित अन्तर तऊ प्रतिबिम्बित जग होइ॥ १५१

बीभत्स—

यों दल काढ़े बलख तें तैं जयसाहि भुवाल।
उदर अघासुर के परे ज्यों हरि गाइ गुआल॥ ७११

इस दोहे में प्रस्तुत पक्ष में तो राजविषयक रति ही है। भयानक की व्यञ्जना अप्रस्तुत पक्ष में होती है। प्रस्तुत का उत्साह राजरति का अङ्ग है, फिर भी आस्वादन का पर्यवसान बीभत्स में ही होता है।

वास्तविक बात तो यह है कि बिहारी सतसई में शृङ्गार के अतिरिक्त हास्य, अद्‍भुत तथा शान्त के उदाहरण ही स्पष्ट हुए है, अन्य रसों के उदाहरण उतने साफ नही हैं। बिहारी का प्रमुख लक्ष्य शृङ्गार रस की धारा बहाना ही था। उसी मे 'बूड़े' हुए अपने पाठकों को वे तिराना चाहते थे अतः अन्य रसो का तो आचमनमात्र ही उन्होंने कराया है।

———

८—बिहारी की बहुज्ञता

संस्कृत वाङ्मय में कवि शब्द का बड़ा महत्त्व मिलता है और इस शब्द का वैदिक काल से लेकर आज तक भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयोग हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी स्वीकृत ससार के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे और उसी प्रकार यजुर्वेद मे भी कवि शब्द का बहुत से स्थलों पर प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में ही इस शब्द के विविध अर्थ लक्षित किये जा सकते है। अनेक मन्त्रों में यह शब्द अग्नि वायु आदि देवताओं के विशेषण के रूप में आया है[1] और भाष्यकारों ने इसका अर्थ ऐसे स्थलों पर 'क्रान्तदर्शन' मेधावी' आदि किया है[2]।

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टा जनत्साम्नः साम्नः कबिः[3]।

इस मन्त्र में 'साम्नः कविः' का अर्थ सायणाचार्य ने 'साम का उच्चारण करने वाला' किया है। इसके अतिरिक्त मनुष्यों में से विशेष कर्म करके देवत्व तक उठने वाले व्यक्तियों के लिये भी ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ पर भी भाष्यकारों ने पूर्ववत् ही 'कान्तदर्शन' और 'मेधावी' अर्थ किया है[4]। ऐसे भी मन्त्र है जिनमें अपने आपको विद्वान् मानने वाले अहङ्कारी मनुष्य के लिये व्यङ्ग्यरूप में कवि शब्द का प्रयोग किया गया है[5]।

---

१ त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः। (ऋग्वेद मं० १ सूक्त ३१)
त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम्। ऋ० १।३१।२
आयः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो नोर्वा (ऋ० १।१४९ ३
विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रास्तावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे (ऋ० ४।२४।२

२ इन मन्त्रों का माधवाचार्यकृत भाष्य देखिये।

३ ऋ० २।२३।१७

४ धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान्व एना ब्राह्मणा वेदयामसि (ऋ० ४ ३६ ७
तत्त इन्द्रिय प्रथमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम् (ऋ० १।१०३।१)
धीरासः पद कवयो नयन्ति नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम् (वही १।१४६।४)
वत्से बाष्कयेऽधिसप्ततन्तून् वितन्विरे कवय ओतवा उ (वही १।१६४।५)

५ कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को विवेद। (वही, १।१८५ १)
कवीयमानः क इह प्रवोचत् १।१६४।१८

सोम की स्तुति से सम्बन्धित एक मन्त्र में सोम की 'कवीनां पदवी:' कहा गया है[1] जिसका अर्थ माधवाचार्य ने इस प्रकार किया है—

"कवीनां = क्रान्तप्रज्ञानाम्, पदवी:=स्खलन्ति पदानि साधुत्वेन यो योजयति स पदवी:—राजा" अर्थात् क्रान्तमेधाओं का राजा (पदवी:— (स्खलित पदों का साधुत्वपूर्ण योजक यानी राजा) भाष्यकार की इस व्याख्या से कवि शब्द से सामान्य रूप से 'विद्वान्' से तात्पर्य प्रतीत होता है और पदयोजना करने वाले, विद्वानों में राजा (प्रधान) समझे जाते थे ऐसा ज्ञात होता है।

यजुर्वेद के नीचे दिये हुए मन्त्र में कवि शब्द को प्राय: भाष्यकारों ने ईश्वर का विशेषण माना है—

कवि र्मनीषी परिभू: स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य: ।[2]

उव्वट ने तो इस मन्त्र में कवि का प्रयोग उपासक मनुष्य के लिये ही माना है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेकत्र यह शब्द देखा जा सकता है और देवता[3] पितर[4], विद्वान्[5], कृतिकुशल, क्रान्तदर्शन[6], मेधावी आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। श्रीमद्भागवत में कवि शब्द का प्रयोग ब्रह्म[7], और विद्वान्[8], के अर्थ में आया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में इस शब्द का प्रयोग मेधावी विद्वान् के अर्थ में किया है:—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता: ।[9]

---

१ ब्रह्मा देवानां पदवी: कवीना मृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् । (वही, ९।९६ ६)

२ यजु० (अध्याय ४०)

३ असौ वा आदित्य: कवि: [शतपथ० ६।७।२ ४]

४ ये वै ते न ऋषय: पूर्वे प्रेतास्ते वै कवय: [ऐतरेय ६।२०]

५ 'ये वै विद्वांसस्ते कवय: [शतपथ, ७।१।४।४]

६ 'शुश्रुवांसो वै कवय:' [तैत्तिरीय० ३ २ २३]
'ये वा अनूचानास्ते कवय:' [एतेरेय २।२।३८]
'एते वै कवयो यदृषय' [शतपथ १।४।४]
'तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवय: सयज्ञा:' [वही ४ ३।३।१३]

७ 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' [श्रीमद्भागवत]

८ 'कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्' [वही]

९ 'श्रीमद्भागवद्गीता'

यह तो हुई प्राचीन ग्रन्थों में कवि शब्द के प्रयोग की बात। व्याकरण की दृष्टि से इसकी व्युत्पत्ति पर भी विचार कर लेना चाहिये। वैदिक शब्दों के कोष निघण्टु में 'कवि' शब्द 'मेधावी' के पर्यायवाची शब्दों में लिया गया है।[१] 'कवते' धातु गत्यर्थक धातुओं में निघण्टु के दूसरे अध्याय में पढ़ी गई है यद्यपि पाणिनिकृत धातुपाठ में इसके दर्शन नहीं होते। निरुक्तकार यास्क कवि शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते है:—

"कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा ।।[२]

क्रान्तदर्शन का अर्थ है क्रान्त=व्याप्त, दर्शन=ज्ञान वाला। इस व्याख्या के अनुसार यास्क का क्रम् धातु से 'वि' जोड़कर 'कवि' शब्द की निष्पत्ति करना अभीष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार निष्पन्न 'कवि' शब्द के अर्थ की संगति निघण्टु में संगृहीत मेधावी वाचक 'कवि' शब्द से बैठ जाती है। परन्तु दूसरी व्याख्या में खींच-तान ही करनी पड़ती है। वैयाकरणों में चिरप्रचलित इस उक्ति के अनुसार कि गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं, गति और शोषण अर्थ में उपदिष्ट 'कुङ्' धातु से यथाकथञ्चित् 'कवि' शब्द की सिद्धि का समर्थन किया जा सकता है। वास्तव में पाणिनि द्वारा उपदिष्ट "कु शब्दे" और 'कुङ्' शब्दे से कवि शब्द की निष्पत्ति होती है। इस से शब्दयोजकत्व भी कवि शब्द के प्रचलित (पण्डित) अर्थ के साथ समन्वित हो जाता है जिसमें अमरकोषकार ने इस शब्द को रखा है:—

विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः ।।[3]

इस प्रकार कवि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। सब पर विचार करने से 'निपुणता' सामान्य रूप से दृग्गोचर होती है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रारम्भ में किसी कायविशेष के सम्पादन की निपुणता, जो उस क्षेत्र में ज्ञानाधिक्य की जननी कही जा सकती है, 'कवि' शब्द से अभिप्रेत थी। कालान्तर में यह शब्द भी योग तप आदि के समान भाषा विज्ञान के 'विशेषीकरण' के नियमानुसार विशेषपरक हो गया और सामान्य विद्वान् का अर्थबोध न करके शब्दार्थ-योजना-निपुण के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। अब तो विशेष से अतिविशेषपरक होते होते इस शब्द की दुर्दशा ही हो गई। जो 'कवि' शब्द जगन्नियन्ता जगदीश्वर, दिव्यगुण सम्पन्न देवताओं तथा अप्रतिम-

१ 'निघण्टु' [अध्याय ३]
२ निरुक्त, [अध्याय १२ ख० १३]
३ अमरकोष, २रा काण्ड ब्रह्म-वर्ग।

प्रतिभा और अमोघ मेधा के आकर ऋषियों के लिए प्रयुक्त होता था वह इस 'कपूत कलिकाल' में उदरगर्त को भरने के लिए विविध राजा, महाराज, नवाब, सामन्त और लक्ष्मी के कृपापात्रों की चाटुकारी और झूँठी प्रशंसा करने वालों के लिए प्रयुक्त होने लगा। राजस्थान मे अब भी चारणजाति के पुरुष, जो दो चार अक्षर जोड़ कर तुकबंदी कर लेते हैं या अपने पूर्वजो द्वारा छोड़ी हुई ऐसी ही कृतियों का पाठ किया करते है, 'कविजी' शब्द से पुकारे और जाने जाते है, कविसम्मेलनी तुक्कड़ों में तो फिर भी कुछ तत्त्व होता है।

अब 'काव्य' शब्द पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये क्योंकि 'कवि' के कर्म या 'भाव' (काव्य) पर बिचार किए बिना उसकी चर्चा अधूरी ही मानी जायेगी। इस गौरवशाली शब्द का उतना ही प्राचीन होना स्वाभाविक है जितना कवि शब्द का। अतएव इसका प्रथम प्रयोग ऋग्वेद में खोजा जा सकता है। ऋग्वेद में यह शब्द पुल्लिग और नपुंसक दोनो लिगों में प्रयुक्त हुआ है। पुल्लिङ्ग काव्य शब्द सभी स्थलों पर 'कवि-सम्बद्ध' अथवा 'कवि-पुत्र' के अर्थ में आया है[1] और नपुंसकलिङ्ग काव्य शब्द सामर्थ्य[2] और कविकृत स्तुति[3] आदि का वाचक है। भृगुपुत्र उशना (शुक्र) कदाचित् भृगुकवि के पुत्र होने के कारण ही 'काव्य'[4] (पुल्लिङ्ग) शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त बने। स्वयं 'क्रान्तदर्शन' मेधावी होने के कारण वे (उशना) कवि पद वाच्य भी हैं। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा है:—

"कवीनामुशनाः कविः"[5]

संस्कृत के प्रसिद्ध कोष मेदिनी में भी 'कवि' शब्द के अर्थो में काव्य (उशना) का उल्लेख हुआ है।[6]

---

१ वत्सो वां मधुमद्वचो शंसीत् काव्यः कविः [ऋग्वेद, ८।८।११] काव्यः विद्वत्पुत्रः, कविः मेधावी [माधवाचार्य इसी मन्त्र की व्याख्या]

२ अस्मा इत्काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम्। [वही, ५।३९।५]
तथा—प्र काव्य मुशनेव ब्रुवाणो [वही ९।९।८]

३ आत्मा यज्ञस्य रह्या सुष्वाणः पवते सुतः प्रत्न निपाति काव्यम् [वही, ९।६।८]
तथा—विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानँ सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यो ममार स ह्यः समान [वही, १०।१५।५]

४ देखिये, [ऋग्वेद १।८३।५, १।१२१।१२, ८।२३।१७ और इन मन्त्रों का भाष्य]

५ गीता—

६ कविर्वाल्मीकिकाव्ययोः.... .... ।
सूरौ काव्यकरे पुंसि स्यात् खलीने तु योषिति [मेदिनी०]

यजुर्वेद में एक स्थान पर 'काव्य' शब्द मित्र वरुण आदि देवताओ के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] मन्त्र और छन्द के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है[2]। 'छन्द' शब्द का प्रयोग पाणिनि के अनेक सूत्रों में 'वेदों' के लिये हुआ है। आचार्य महीधर ने काव्य छन्दः (यजुः १०।३४) की व्याख्या करते हुए परमात्मा को कवि, उससे सम्बद्ध वेदत्रयी (ऋक्, यजुः, साम) को काव्य और उसे ही छन्द बताया है। भारतीय धारणा के अनुसार वेदों का परमात्मा से प्रवक्ता और प्रोक्त का सम्बन्ध है। वेदों को परमात्मा की कृति माना गया है। इस प्रकार 'काव्य' शब्द कविकृति का प्रवत्तिनिमित्त सिद्ध हो जाता है।

जिस प्रकार 'कवि' शब्द की विशेष से अतिविशेषपरक होते होते दुर्दशा हो गई उसी प्रकार काव्य शब्द की भी, यह बताने की बात नहीं। ईश्वर देवताओं और महर्षियों की क्षमता का सूचक ईश्वर की कृति का बोधक, वेदमन्त्रों का वाचक तथा रामायण जैसे महाकाव्य का सकेतक यह काव्य शब्द इतना अपकृष्टार्थ हो गया कि 'काव्यालापाँश्च वर्जयेत्' कह कर उसका बहिष्कार तक किया गया—समय एव करोति बलाबलम्।

कवि शब्द के उत्थान-पतन और ह्रास-विकास के इस इतिहास से इतना स्पष्ट हो जाता है कि यह शब्द अपने क्रोड में क्षमता, निपुणता, प्रतिभा, विद्वत्ता, बहुज्ञता आदि अनेक अर्थो को समेटे हुए है। हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने कवि के इन गुणों की अनिवार्यता अनुपहसनीय काव्य-रचना के लिये स्पष्ट रूप से मानी है। आचार्य मम्मट काव्य के हेतु का विवेचन करते हुए कहते है :—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।

शक्तिः कवित्वरूपः संस्कार विशेषः, यां बिना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा

१ काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे।
रिशदसा सधस्थ आ [यजुर्वेद, २३।६२]
[काव्ययोः कविहित यो महीधर]

२ पुत्रमिव पितरावश्विनो भेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः [यजु० १०।३४]
(काव्यैः मन्त्रैः महीधर)
काव्यं छन्दः [यजु० १०।३४]
कवेः परमात्मन इदं काव्यं वेदत्रयी रूपं छन्दः, भाष्यकार महीधर।

उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोषकलाचतुर्वर्गगजतुरगखङ्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसंवन्धिनाम्। आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्ति:। काव्यं कर्त्तुं विचारयितुं च ये जना जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौन:पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रय: समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतव:[१]।

अर्थात् कवित्ववीजरूपशक्ति जिसके अभाव में काव्य रचना हो ही नहीं सकती, स्थावर जङ्गम लोक का वृत्त, छन्द, व्याकरण, अभिधानकोष, विविध कलाएँ, चतुर्वर्ग का ज्ञान, गज, अश्व-खङ्ग आदि के लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन, महाकवियों के काव्यों का अवलोकन तथा काव्यस्रष्टाओं एवं मर्मज्ञों द्वारा पथप्रदर्शन के साथ बारबार अभ्यास, ये सभी समवेत रूप में—अलग-अलग नहीं—काव्य की उत्पत्ति के हेतु होते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि कवि ऊपर गिनाये हुए शास्त्रों का पूरा पारंगत ही हो और उनकी बारीकियों को समग्रत: समझता हो। सामान्यतया उनके मोटे-मोटे सिद्धान्त, क्षेत्र और सीमाओं का ज्ञान अपेक्षित है जिससे प्रसंगवश उनसे सम्बन्धित वर्ण्यविषय के वर्णन में वह कोई प्रतिकूल बात न कह जाय और श्रोता या पाठक को उसकी समुचित झाँकी दे सके। अगर वह हरफन मौला हो भी, तो भी उसे किसी खास फन की करामात दिखाने में मशगूल होकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वह कविकर्म के यथोचित निर्वाह से च्युत हो जायेगा और पाठकों को मनोरञ्जन के स्थान में बौद्धिक आयास ही प्रदान कर सकेगा। संस्कृत के पिछले खेवे के कवियों में पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई थी। इसका प्रारम्भ 'शिशुपालवध' के यशस्वी प्रणेता माघ से हुआ और गुरुमुख से न सुनकर स्वयं पढ़ने का आग्रह करने वाले अनधिकारियों को अपने 'शृंगारामृतशीतगु' (शृंगार रस रूपी अमृत से भरे चन्द्रमा) महाकाव्य 'नैषध' के अमृत से वञ्चित रखने के लिये 'ग्रन्थग्रन्थि' का महान् आयास उठाने वाले 'श्रीहर्ष' में यह चरमसीमा पर पहुँच गई। माघ और भारति ने खड्ग, पद्म, मुरज आदि के बन्ध बाँधने के अतिरिक्त एकाक्षर पद्यों की रचना कर अपने भाषापाण्डित्य का खुमार निकाला तो श्रीहर्ष ने सर्वदर्शनों से अपनी अभिन्नहृदयता जताते हुए कोड़ियों लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियों में अपनी अहम्मन्यता का परिचय दिया।

---

१ काव्य प्रकाश प्रथम समुल्लास

जहाँ काव्य की आत्मा की उपेक्षा कर कवि बाह्य आडम्बरों मे उलझ जाता है, वहाँ उसकी रचना 'काव्य' नही रह जाती और चाहे कुछ रहती हो। नाथों और सन्तों की अटपटी उलटबासियों या 'सून' में विचरण करने वाली उक्तियों में क्या काव्यत्व है ? सूर और तुलसी की कूटरचनाओं में ब्रह्मानन्द-सहोदर की कौनसी अक्षय्य धारा बह रही है ? हिन्दी साहित्य के सूर्य और चन्द्र का तेज तथा कौमुदी क्या इन्ही रचनाओं से फूटे पड़ते है ?

कविता हृदय की वस्तु है अतएव उसके क्षेत्र में बुद्धि का प्रवेश अनुगम्यमाना न होकर अनुगन्त्री के रूप में ही उचित है। अर्थात् शास्त्रीय-ज्ञान अथवा लौकिक बहुज्ञता का उपयोग भाव तक पहुँचने के लिये शॉर्टकट बताने वाले के रूप में ही होना चाहिये। ऐसा प्रसंग आ जाने पर जहाँ इसके बिना वर्ण्यविषय तक सहृदयों की पहुँच हो ही न सके मोटी-मोटी सामान्य और सन्तुलित बातें रखी जा सकती है। काव्य की रचना किसी शास्त्र विशेष के विद्वानों अथवा बहुश्रुत पण्डितों के ही लिये नहीं की जाती, उसका उद्देश्य सहृदयता का एक निश्चित सामान्य स्टैण्डर्ड रखने वाले व्यक्तिमात्र का मनोरञ्जन करना है। सामाजिक के इस 'सामान्य स्टैण्डर्ड' को दृष्टिकोण में रखकर तदनुकूल ही अपने ज्ञान या विज्ञान का भाव-साधना के लिये उपयोग करने वाला कलाकार ही सुकवि कहाता है। यह सत्य है कि एक युग ऐसा था जब कविकर्म करते-करते अन्य क्षेत्रों में भी उछलकूद मचाने वाले शाबाशी के पात्र हुआ करते थे, पर यह युग संस्कृत के कवियों के ही भाग्य में था। उनके सम्बन्ध में भी यह गौर करने की बात है कि 'शाबाशी' की यह आवाज बहुत ऊँची नहीं होती थी क्योंकि यह पण्डितों की ही गोष्ठी से आती थी, सामान्य सहृदय-समाज से नहीं उठा करती थी। उस युग में काव्य रचना शायद पण्डितों के लिये ही होती भी थी। पर हिन्दी के कवि ने दूसरे ही युग में जन्म लिया था, उसके सामने क्षेत्र दूसरा ही था जिसमें आँखें खोल कर चलने की कहीं अधिक आवश्यकता थी। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी ने इसे समझा, वे यश के पात्र बने; केशव ने इधर-उधर उछलकूद मचाई तो 'कठिन काव्य के प्रेत' का खिताब पाया।

बहुत से कवियों को तो कविता में पाण्डित्य-प्रदर्शन का मौका न चूकने की आदत होती ही है, परन्तु बहुत से आलोचक उनसे भी तेज होते हैं। वे छोटी-मोटी बातों के आधार पर ही कवियों को बड़ी तत्परता के साथ 'सर्वशास्त्रवित्' मान लेने के मानसिक रोग से पीडित होते हैं और प्रायः दवा देते भी उनका यह मर्ज बढ़ता ही जाता है और अन्त में लाइलाज हो जाता

है। आप उन्हें समझाइये कि अमुक कविने, जिसे उन्होंने किसी विद्या की सामान्य सी बातों का उल्लेख करने पर उसका शास्त्रनिष्ठ पण्डित मान लिया है, उस शास्त्र की जैसी सामान्य बातों का उल्लेख किया है केवल उससे तो उसे उस शास्त्र का पण्डित कहना समीचीन प्रतीत नही होता, तो उनकी भद्दी दलीलों को सुनकर आप एक अजीब परेशानी का अनुभव करेंगे। बिहारी के भी कुछ आलोचक इस टाइप के हैं।

बिहारी के कुछ दोहों में 'पारौ' (पारदभस्म) 'नारी-ज्ञानु' 'रोग-निदानु, विषमजुर और 'सुदरसन' (सुदर्शन तथा इस नाम का चूर्ण) शब्द मिल गये और लोगों ने चटपट उन्हें आयुर्वेदज्ञ मान लिया—

वहु धनु लै अहसानु कै पारौ देत सराहि।
वैद्य-बधू हँसि भेद सौं, रही नाह मुँह चाहि ।।[1]
मैं लखि नारी-ज्ञानु, करि राख्यौ निरधारु यह।
वह ई रोगु-निदानु, वहै बैद औषधि वहै ।।[2]
यह बिनसत नग राखि कै, जगत बड़ौ जस लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइये, आय सुंदरसन देहु ।।

इन दोहों में आयुर्वेद का कौनसा असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है? वैद्य, औषधि, रोगनिदान, नाड़ी, पारा विपमज्वर, सुदर्शन आदि के नाम से जनसाधारण का भी परिचय होता है फिर कवि का अनुभव तो बड़ा विस्तृत होता है। पर जो केवल इसी आधार पर बिहारी को आयुर्वेदाचार्य की डिग्री देना चाहते हैं उन्हें क्या कहा जाय? रत्नाकर जी ने भी 'सुदरसन' का प्रयोग किया है, पर वे वैद्य नहीं थे। तुलसीदास जी ने तो 'पुटपाक' तक का भी रूपक बाँधा है किन्तु उन्हें आज तक किसी ने वैद्यराज नहीं कहा, हाँ कविराज (कवि-सम्राट्) अवश्य कहा है (इस युग में वैद्य लोग भी कविराज होने लगे है) इसी प्रकार 'बेंदी' और 'बंकबिकारी' को देखकर बिहारी को गणित का बडा भारी पण्डित मान लिया गया है—

कहत सबै, बेंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु।
तियलिलार बेंदी दियै, अगिनितु बढ़त उदोतु ।।
कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढिगौ इतौ उदोतु।
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होतु ।।

१ बिहारी सतसई ४७९
२ वही ५५७

'अंक पर दायीं ओर शून्य बढ़ा देने से उसका मूल्य दस गुना हो जाता है' शून्य के इस साधारण नियम को अंकज्ञान रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है। जूनियर स्कूलों के विद्यार्थी तक इतना और भी जानते हैं कि यदि यह विन्दु दायी ओर की बजाय बायीं ओर बढाया जाय तो मूल्य में कोई अन्तर नही पड़ता और यदि उस शून्य के भी बायी ओर अंग्रेजी के विराम जैसा बिन्दु (दशमलव चिह्न) रख दिया जाय तो मान दसगुना कम भी हो जायगा। ऐसे विद्यार्थी भी गणित में अनुत्तीर्ण होते हुए मिलेगे, उन्हे कोई गणित के विद्वान् मानने के लिये तैयार नही, पर बिहारी को उनसे आधे ज्ञान के लिये ही गणितशास्त्रविद् मान लिया गया है। गाँव का मामूली सा बनिया तक इस बात को जानता है कि रुपयासूचक अंक एक तिरछी पाई खीचकर उसके अन्दर की, (बायी) ओर रखा जाता है और दाम सूचक दायी ओर, पर उस बेचारे की गणितज्ञता को कोई नहीं मानता, परन्तु बिहारी को, जिन्होंने दोहे में यह भी नहीं बताया कि बंकबिकारी दायी ओर देने से दाम रुपैया होता है या बायी ओर, अनेक आलोचक 'रामानुजम्' मान बैठे हैं। यदि बिहारी के दोहे को देखकर कोई 'नौसिखिया' चट से दामसूचक अंक के बायी ओर बंक बिकारी दे दे तो ? हम तो बिहारी की इस 'बंकविकारी' की वक्रता के चमत्कार का ही अनुभव करके सन्तोष किये लेते हैं।

ज्योतिष-शास्त्र-विषयक सामान्य सी उक्तियों के आधार पर बिहारीलाल ज्योतिषी भी स्वीकार कर लिये गये है—

पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर कै चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ॥
चित पितु-मारक जोग गनि, भयो भयें सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज जोगु ॥
भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे विराजि।
इन्दुकला कुज में बसी, मनौ राहु-भय भाजि ॥
तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय, पुण्यकाल-सम दोनु।
काहू पुन्यन पाइयतु, वैस-संधि-संक्रोनु ॥
सनि-कज्जल, चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सबु देहु ॥

बिहारी के इन दोहों में प्रदर्शित ज्योतिष् ज्ञान की परीक्षा एक-एक करके की जाय तो उचित होगा। पहले दोहे में नायिका के 'आनन-ओप-उजास'-जन्य अव्यवस्था का शिकार बेचारे पास-पड़ौस के लोगों को होना पड़ रहा है जो

तिथि देखने के लिये हरवक्त एक हाथ में पत्रा रखने के लिये विवश हैं क्योंकि जिधर देखिये उधर यह 'उजास' ही 'उजास' दीख पड़ेगा। इस दोहे में 'पत्रा', 'तिथि' और 'पूनो' ज्योतिषशास्त्र की ऐसी गुत्थियाँ है जिन्हें बिहारी के सिवा और कोई खोलने की ताव नही ला सकता ? खैर हमें तो यह खेद है कि इस 'उजास' के परिकर ने बिहारी की नायिका के सौन्दर्य-प्रसाद से हमारे हृदय को वंचित ही रखा। इससे तो दूसरे दोहे का 'जारज-जोग' ही ठीक रहा जिसने ज्योतिषी जी के 'हुलास' के साथ हमारे हास को भी पर खोलने का मौका दिया, कारण दोनों के अलग-अलग ही क्यों न सही। इसमे 'पितुमारक' और 'जारज' योगों के नामोल्लेख के अतिरिक्त क्या है ? ज्योतिषशास्त्र की कोई ठोस बात है ? तीसरे दोहे मे लाल बिंदी और सफेद अक्षतों को कुज (मंगल) और इन्दुकला बना कर उत्प्रेक्षा का बँधान बाँधा गया है। नवग्रह की वेदी में विभिन्न ग्रहो के स्थान निश्चित कर उनमें ग्रहानुसार रंग भरने वाले साधारण 'पाधा' (जिसका ज्योतिष्ज्ञान बहुत मामूली ही होता है) के अतिरिक्त रंग बेचने वाले बहुत से पंसारी भी—जिन्हें नक्षत्रों के नाम भी मालूम न होंगे—इस बात को जानते हैं। ज्योतिष् की तो कोई खास बात है ही नहीं, केवल रंगों के आधार पर उत्प्रेक्षा की रूपरेखा ठीक-ठीक रखने के लिये आकाश के तारे तोड़ कर रमणी के कोमल मुख पर जड़ना ठीक सा नहीं जँचता। 'लाल बिंदी पर सफेद अक्षत कैसे लगते हैं।' इसकी नाप जोख के लिये ही यहाँ सामग्री भी इस लोक की नहीं है—आकाश से आई है। ज्योतिष आदि शास्त्रों के पाण्डित्य की सिद्धि तो ऐसी रचनाओं से हो ही नही सकती, उलटे बिहारी का बिहारित्व भी दब सा जाता है। यदि ऐसे स्थलों पर भी जीवन जगत् और प्रसङ्ग की सामान्य सुलभ बातों को ग्रहण करने की अपनी प्रवृत्ति वे न त्यागते तो अच्छा होता।

चौथे दोहे में प्रदर्शित सूर्य के राशिसंक्रमण वाली तिथि के पर्व होने की बात प्रायः सबको बिदित है। हाँ, अन्तिम दोहे में ज्योतिष् के सर्वसाधारण ज्ञान से ऊँची बात कही गई है जिसका आधार जातकसंग्रह के इस श्लोक में दिया हुआ फल है—

> तुलाकोदण्डमीनस्थो लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
> करोति नृपतेर्जन्म, वंशे च नृपतेर्भवेत्॥[१]

अर्थात् तुला, धनु और मीन के शनि यदि जन्मलग्न में स्थित हो तो वह बालक

१ जातक संग्रह, राजयोग प्रकरण १५

राजा होता है अथवा राजवंश मे जन्म लेता है। ठीक, पर 'सनि कज्जल' और 'चख-झख-लगन' के चक्कर में झख मारकर भी साधारण पाठक भाव तक नहीं पहुँच पाता।

एक सोरठे में बिहारी ने वर्षा के योग का भी स्पष्ट रूपक बाँधा है जिससे उनका ज्योतिषज्ञान प्रकट होता है—

मंगल विंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत।

इसमें स्पष्ट ही इस श्लोक का भाव प्रतिबिम्बित हुआ है—

एकनाडीसमारूढौ चद्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही।[1]

अर्थात् चन्द्रमा, मंगल और बृहस्पति के एक ही नाड़ी पर स्थित होने पर इतनी वर्षा हो कि पृथ्वी समुद्र का रूप धारण कर ले।

इन उदाहरणों से अवश्य ही इतना पता चलता है कि बिहारी को ज्योतिष का कुछ अधिक ज्ञान था। पर इसके आधार पर उन्हें 'शीघ्रबोध' के प्रणेता काशीनाथ का पौत्र और प्रसिद्ध आचार्य केशवदास का पुत्र मान लेना ठीक मालूम नहीं पड़ता। लोलिम्बराज नामक एक आयुर्वेदज्ञ ने आयुर्वेद से संबद्ध कई ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें पर्याप्त काव्यत्व भी है, पर उन्हें कवि बताकर आज तक किसी ने उनसे कुछ समय पूर्व होने वाले पण्डितराज जगन्नाथ से उनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा।

वैद्यराज, गणित के मास्टर और ज्योतिषी बन कर ही बिहारी अपना पीछा न छुड़ा सके। उन्हें आलोचकों ने पौराणिक और दार्शनिक भी बताया है, भक्तप्रवर भी वे कहे गये हैं। आज यदि बिहारी होते तो उन्हें अपने आलोचकों की ऐसी भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं के निराकरण के लिये एक प्रेसनोट देने की आवश्यकता अवश्य प्रतीत होती क्योंकि वे ईमानदार थे, झूँठी कीर्ति की अभिलाषा उन्हें न थी। बिहारी की भक्ति और दार्शनिकता पर अलग से विचार किया गया है। यहाँ हम उन उक्तियों को उद्धृत कर देना उचित समझते हैं जिनके आधार पर कुछ लोगों को उनके पौराणिक होने की गलत-फ़हमी हो गई है—

पिय बिछुरन कौ दुसह दुख, हरषु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान इहिबार।[2]

---

१ नरपतिचर्या, ३-२९

२ बिहारी सतसई १५

मोर-मुकुट की चन्द्रकनि, यों राजत नँदनन्द।
मनु ससि-सेखर की अकस किय सेखर सतचन्द ॥[१]
रह्यौ ऐंचि अंत न लहै, अवधि दुसासन वीर।
आली बाढत विरह ज्यों पंचाली को चीर ॥[२]
विरह-विथा जल परस विन, बसियत मो-मन-ताल।
कछु जानत जल-थँभ-विधि दुरजोधन लौं लाल ॥[३]
बसि सकोच-दस-बदन-बस, साँच दिखावत बाल।
सिय लौ सोधति तिय तनहि, लगनि अगनि की ज्वाल ॥[४]
प्रलयकरन बरसन लगे जुरि जलधर एक साथ।
सुरपति-गर्व हरचौ हरषि गिरिधर गिरि धर हाथ ॥[५]
यों दल काढे बलख तैं तूँ जयसाह भुआल।
उदर-अघासुर के परे ज्यों हरि गाय-गुवाल ॥[६]
छ्वैं छिगुनी पहुँचौ गिलत, अतिदीनता दिखाय।
बलि बामन को ब्यौत सुनि, को बलि तुम्है पत्याय ॥[७]

आज के युग में भी—जब कि नई रोशनी में उनमें काम की कोई बात न दीखने के कारण पुराणों के पठन-पाठन और श्रवण की प्रथा समाप्त-प्राय है—द्रोपदी के चीर हरण, सीता की अग्नि परीक्षा, गोवर्धन धारण, बलि-प्रवञ्चन आदि की अनेक कथाएँ बेपढ़े-लिखे लोग भी जानते है। बिहारी के युग में पुराणों के आख्यान निश्चय ही जनता में और भी अधिक प्रचलित रहे होंगे और जनसाधारण भी बिहारी के दोहों में संकेतित आख्यानों के अतिरिक्त अन्य कितने ही आख्यानों से परिचित रहा होगा। थोड़ा-बहुत पढ़े-लिखे प्रायः सभी लोग आजकल इन आख्यानों को जानते है, पर वे पौराणिक नहीं हैं। बिहारी तकदीर के सिकन्दर थे, तभी तो इने गिने आख्यानों के संकेतमात्र से ही उन्हें पौराणिक की पदवी मिल गई। विश्व कवि मिल्टन के 'Paradise Lost' तथा "Paradise Regained" में बाइबिल की न जाने कितनी अन्तःकथाएँ आई हैं, वाल्टर स्काट की रचनाओं के विषय

१ वही १५
२ वही ३६६
३ वही ४१२
४ वही ७४
५ वही ५३८
६ वही ७१०
७ वही १५६

में भी यही कहा जा सकता है, किन्तु इन दोनों ही कलाकारों का 'चर्च' से सम्बन्ध जोडने का साहस अंग्रेजी का कोई भी आलोचक आज तक न कर सका। बिहारी के नीतिविषयक दोहों को देखकर उन्हें 'टिपिकल' नीतिकार कहना भी अनुचित होगा, पर लोगों ने कहा अवश्य है। इसे आप चाहें तो बिहारी की बहुज्ञता कहलें, पर हम तो उससे भी अधिक आलोचकों की दरियादिली की ही दाद देना मुनासिब समझते है। खैर हुई कि इस दरियादिली के बहाव की लपेट में उन्होंने—

डीठि बरत बाँधी अटन, चढि धावत न डरात।
इतहि उत चित दुहुन के, नटलौ आवत जात॥
झटकि चढति उततिय अटा नैकु न थाकति देह।
भई रहति नट कौ बटा, अटकी नागर नेह॥[1]

इन उक्तियों के आधार पर किसी नट खानदान से उनका सम्बन्ध न जोड़ा और इससे भी अधिक गनीमत यह हुई कि इस दोहे के आधार पर उन्हें बधिक न समझा गया :—

खौरि पनिच, भृकुटी-धनुष, बधिकु-समरु तजि कानि।
हनत तरुन-मृग, तिलक-सर, सुरक भाल भरि तानि॥[2]

एक और स्पृहणीय कृपा जो बिहारी के ये आलोचक जान या अनजान में उन पर कर गये है यह है कि उनका जीवन-चरित खोजने के लिये उनकी उक्तियों का अधिक विश्लेषण उन्होंने नहीं किया, अन्यथा वे नीचे दिये हुए दोहे की घटना का सम्बन्ध अपने 'पौराणिक' बिहारी से जोड़ देते तो आश्चर्य न था :—

पर-तिय-दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कसि करि राखी मिश्रहू, मुँह आई मुसकानि॥[3]

इस वाद-प्रतिवाद को समाप्त कर उस प्रश्न पर विचार करना चाहिये जो इतने विवेचन के बाद भी अछूता पड़ा है, वह यह कि आखिर बिहारी की बहुज्ञता क्या है और उसका उपयोग बिहारी ने किस प्रकार किया है ? पीछे आचार्य मम्मट द्वारा कवि के लिये अनिवार्य प्रतिपादित लोक, शास्त्र आदि के अवेक्षण का उल्लेख हो चुका है। शास्त्रों के ज्ञान और काव्य में उसके उपयोग के ढंग के बारे में भी वहीं विचार किया जा चुका है। ऊपर बिहारी

---

१ बिहारी सतसई, १९३, १९४
२ वही, १०४
३ वही, २६४

के जिन दोहों का उदाहरण रूप में उद्धरण हुआ है उनसे स्पष्ट है कि बिहारी ने अनेक विद्याओं की साधारण बातों का उचित उपयोग किया है। मम्मट ने शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा लोकज्ञान की महत्ता का अनुभव करते हुए अपनी कारिका में लोक-पर्यवेक्षण को ही शास्त्रावेक्षण से प्राथमिकता दी है। वस्तुत; सबसे बडा शास्त्र और आचार्य लोक ही है। इससे न जाने कितनी ऐसी बातों की शिक्षा मिलती है जिनके बिना जीवनयात्रा असंभव नही तो महा कठिन अवश्य हो जाती है और जिनके ज्ञान के लिये लोकशास्त्र के ही व्यवहार-पृष्ठ पलटने पडते हैं, अन्य शास्त्रों से काम चल नही सकता। शास्त्रों में कुशल और लोकाचार से विवर्जित मूर्ख पण्डित उपहास के ही पात्र बनते है, इसलिये लोक के भीतर आँख खोलकर चलने और विभिन्न प्रकार के परिपक्व अनुभव प्राप्त करने से बहुज्ञता का अधिकांश पेटा भर जाता है। जो कवि अपने इस ज्ञान और अनुभव के भाण्डार को शब्द की सुन्दर मञ्जूषाओं में भरकर संसार के सामने रखता है वह मानो उसकी कच्ची वस्तु से पक्का माल तैयार कर उसे देता है, लोक की वस्तु जनता-जनार्दन को ही समर्पित कर देता है:—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।

यह सत्य है कि बिहारी ने तुलसी के समान लोक के विस्तृत क्षेत्र के अधिकांश भाग का पर्यवेक्षण नही किया, (इसके कारण और परिस्थितियों के विवेचन का यहाँ स्थान नही है) फिर भी जितने क्षेत्र की सैर उन्होंने की है उसका पूरा-पूरा अनुभव प्राप्त किया है और उससे यथासंभव लाभ भी उठाया है। सामाजिक, राजनीतिक, लौकिक, अलौकिक कितने ही प्रसङ्गों और वस्तुओं का प्रयोग उनकी सतसई में मिलता है:

सामाजिक

बिहारी की रचना से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में लोग—विशेषकर स्त्रियाँ—जादू टोने में विश्वास रखती थीं। यह भी विश्वास था कि यदि टोने की विधि में कोई कमी रह जाय तो वह उलटा भी पड़ सकता है।[२] टोना करने बाली (टुनहाई) स्त्री कुछ अच्छी नहीं समझी जाती थी।[३]

---

१ देखिये, पञ्चतन्त्र की इस श्लोक से सम्बद्ध कथा:—
अपि शास्त्र कुशला, लोकाचार विवर्जिता।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति, यथा ते मूर्ख पण्डिताः॥

२ बिहारी सतसई, ४७

३ वही, ३४७

पतंग[१] और कबूतर[२] उडाने का लोगों को शौक था और शायद आजकल की भाँति यह बुरा नही समझा जाता था। मदिरापान[३] के बारे में भी यही कहा जा सकता है। स्त्रियों के भी मदिरा पीने का उल्लेख है। मलंग फकीरो का भी उल्लेख उन्होने किया है।[४] ये औघड़ या हठयोगियों के समान ही साधना करते थे और अपने शरीर को कौडो (बड़ी-बड़ी कौड़ियों) की लड़ियो और लोहे की साँकलो से जकडे हुए चुपचाप आँखे मूँदकर ध्यान में बैठे रहते थे।

विवाह के अन्तर्गत 'हथलेवा' नामक टेहले का जिक्र भी मिलता है। नवबधू को मुँह दिखाने के उपलक्ष में आजकल की भाँति ही कुछ दिया जाता था जिस पर उसका पूरा अधिकार होता था।[६] श्वसुर के यहाँ रहने वाला जामाता आजकल के समान ही हीनदृष्टि से देखा जाता था।[७] यह बिहारी का अपना कटु अनुभव था।

स्त्रियाँ नैहर में पति से मिलने में लजाती थीं[८] (शायद यह अच्छा भी नहीं समझा जाता था) प्रतीत होता है कि बिहारी को इसका भी अपबीती के रूप में अनुभव था। स्त्रियाँ भोडर (अभ्रक) की बिन्दियाँ लगाती थीं। भाभी-देवर के सम्बन्ध के विषय में कुछ आजकल जैसी ही भावना उस समय भी थी, उनकी नोंक-झोंक का संकेत बिहारी ने किया है।[९] फाग आदि उत्सवों[१०] और वेश्या-नृत्य[११] का भी उल्लेख है। धोबी, ओढ़, कुम्हार, आदि जातियाँ आजकल के सदृश ही पिछड़ी हुई मानी जाती थीं।[१२] इसके अतिरिक्त बटमारी,[१३] कज़ाकी,[१४] और क़त्ल,[१५] आदि अपराधों का भी उल्लेख बिहारी में मिलता है।

अनेक प्रकार के धार्मिक तथा अन्य प्रकार के विश्वासों की ओर भी संकेत किया गया है। श्राद्ध-पक्ष में कौवों को बलि दी जाती थी,[१६] स्त्रियाँ अपने वामाङ्गों का स्फुरण अशुभसूचक मानती थीं।[१७] अनेक सम्प्रदाय अपने अपने मत का प्रचार करने में लगे हुए थे।[१८]

---

१ वही, ३७२
२ वही, ३७३
३ ,, ६५०
४ ,, २३०
५ ,, २५६
६ ,, २८८
७ ,, १७५
८ वही, ५२१
९ वही, ८५
१० वही, ५२१
११ ,, २८४
१२ ,, ४३७
१३ ,, १७
१४ ,, ६६६
१५ ,, ३२४
१६ ,, ४३३
१७ ,, ५६६
१८ ,, ५७६

अनेक उत्सवों और पर्वों का भी उल्लेख बिहारी ने प्रसङ्गवश किया है—

होली—

होली के अवसर पर पिचकारियों द्वारा रंग खेलने, एक दूसरे के मुख पर गुलाल मलने की रीति का उल्लेख भी बिहारी ने किया है। आजकल इस अवसर पर एक अन्य प्रथा का भी प्रचलन है। भाभी अथवा साले की पत्नी के साथ फाग खेलने वाला व्यक्ति उसे उपहार के रूप में वस्त्र आदि दिया करता है। इस उपहार को 'फगुवा' कहते हैं क्योंकि यह फाग के उपलक्ष्य में दिया जाता है बिहारी ने इसका भी उल्लेख किया है—

ज्यौं ज्यौ पटु झटकति हटति हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौ निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न। ३५२॥

तीज का त्यौहार—

श्रावण शुक्ला तृतीया को हरियाली तीज भी कहते है। इस दिन स्त्रियां शृङ्गार करके एक दूसरी से मिलती है, झूला झूलती हैं और इकट्ठी होकर आबादी से बाहर खुले जंगल में जाकर कुछ विशेष क्रीडाएँ करती हैं जिन्हें तीज खेलना कहा जाता है। यह विशेष रूप से स्त्रियों का ही पर्व होता है।

तीज परव सखियन सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजे चीर॥

श्राद्ध पक्ष—

आश्विन का कृष्णपक्ष पितृपक्ष अथवा श्राद्धपक्ष कहलाता है। इस पक्ष में सनातनी हिन्दू अपने मृत पितरों का श्राद्ध और तर्पण करते हैं। आजकल इन दिनों को कनागत भी कहते हैं। वह शायद इसलिये कि यह पक्ष कन्या-राशि पर से सूर्य के चले जाने पर आता है। श्राद्ध के दिन कौओं को बलि खिलाते है बिहारी ने कहा है :—

ज्यौं लों काग सराध पख तौं लौं तव सनमानु।

दशहरा—

आश्विन शुक्ला दशमी का प्रसिद्ध पर्व है। इस दिन नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना जाता है। इसके लिये लोग बहुत दूर तक जंगल में जाते भी हैं किन्तु नीलकण्ठ के दर्शन कठिनता से ही हो पाते हैं। एक अन्योक्ति में बिहारी ने इसका भी उल्लेख किया है।

गणेश पूजन—

कार्तिक कृष्णा चतुर्थी को विवाहित हिन्दू स्त्रियाँ अनिवार्य रूप से

इस पर्व को मनाती है। आजकल गणेश पूजा का रिवाज उठ सा गया है। उसके स्थान पर करवे का पूजन करती है और उसी करवे से चन्द्रमा को अर्घ्य देकर तब भोजन करती है, इसलिये इसे अब 'करवा चौथ' कहा जाता है। दो दोहों मे बिहारी ने इसका भी संकेत किया है।

संक्रान्ति—

यों तो सूर्य जब भी एक राशि से दूसरी पर संक्रमण करता है तभी संक्रान्ति होती है किन्तु मकर-संक्रान्ति को बहुत अधिक पवित्र माना गया है। इसमें दान देने का बडा महत्त्व कहा गया है, बिहारी ने एक दोहे में इसका भी उल्लेख किया है—

काहू पुन्यन पाइये बैस-सन्धि-संक्रौनु।

मणियों के प्रभाव,[१] हिंडोरा झूलना,[२] लट्टू,[३] गेंद[४] आँखमिचौनी,[५] चौगान,[६] आदि खेल, घोड़े की खूँद,[७] सेहुँड़ के दूध से लिखे हुए अक्षरों का आग पर तपाने से चमकना।[८] कुही[९] और बाज[१०] का पक्षियों पर झपटना, मतीरा,[११] आदि अनेक बातों का प्रसङ्गवश कथन हुआ है। निम्नलिखित दोहे में ग्रामीण नायिका के सहेटो के रूप में कई फ़सलों का समयानुक्रम से वर्णन हुआ है:—

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजौं, धर धरहरि उर नारि॥[१२]

राजनीतिक

भारतीय इतिहास का मुसलमानी युग अधिकारो के लिये सुलतान और अमीरों के संघर्ष, अभिसन्धि और दलबन्दी का इतिहास है। बिहारी दरबारी जीवन से खूब परिचित थे। शाहजहाँ के दरबार में उनका अच्छा मान था। अन्य कई राजाओं के यहाँ भी आना-जाना था। उन्होंने राजनीतिक उलट-फेर अवश्य देखे होंगे। संघर्ष के फलस्वरूप जिसके भी हाथ में उस युग में राज्य आ जाता था वही अपने दल वालों का अभ्युदय करता था। बिहारी के नीचे दिये हुए रूपक में यही संकेत है:—

---

१ वही, ४
२ „ ३१६
३ „ ४६८-४७१
४ „ ४८८
५ „ ५२६
६ „ १७८
७ वही ५३६
८ „ ४५५
९ „ २५७
१० „ ३००
११ „ ३६६
१२ „ १६८

अपने अंग के जानिकै, जोबन नृपति प्रवीन
स्तन, मन, नैन नितब कौ, बडौ इजाफ़ा कीन ।[१]

नायिका के बाल्यकाल रूपी विरोधी से उसका शरीर रूपी साम्राज्य जब यौवन रूपी राजा को मिल गया तो अपने पक्ष वाले स्तन, मन, नैन और नितम्ब की तरक्की करना उसके लिये आवश्यक ही था। दुहरे शासन की चक्की में प्रजा कैसे पिसती थी इस अन्धेरगर्दी को बिहारी ने देखा था।

दुसह दुराज प्रजान कौ, क्यौ न बढै दुख द्वन्द्व ।
अधिक अँधेरी जग करत, मिलि मावस रविचन्द ।।[२]

संधि की चेष्टा और 'भेद' के सभी उपायों के निष्फल हो जाने पर दृढ़ किले मे बैठे हुए शत्रु को सुरंग लगाकर ही वश में किया जा सकता है :—

क्यौहूँ सहबात न लगै, थाके भेद-उपाइ ।
हठ दृग-गढ-गढवै सुचलि, लीजै सुरंग लगाइ ।।[३]

नया शासक प्रबन्ध को दृष्टिकोण में रखकर अपनी योजना के अनुसार देश की पूर्व-व्यवस्था में कैसा उलट-फेर करता है यह भी बिहारी ने बताया है :—

नव-नागरि तन-मुलक लहि, जोबन-आमिर-जोर ।
घटि बढि तैं बढि घटि रकम करी और की और ।।

पर बिहारी की इन उक्तियों से उन्हें शुक्राचार्य अथवा चाणक्य मान लेना ठीक न होगा। वास्तव में नीति भारतीय कवि का बड़ा ही प्रिय विषय रहा है। इसका कारण वे संस्कार हैं जो अनादिकाल से भारतीय मनोभूमि पर जमे हुए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के साथ-साथ जहाँ एक ओर आचार-विचार-विषयक चर्चा बड़े जोरों के साथ चली वहाँ दूसरी ओर व्यवहार पर पॉलिश चढ़ाने का काम भी होता रहा। आध्यात्मिकता के स्वर्ग से उतर कर ऐहिकता के धरातल पर आते ही कुछ ऐसी माया फिरी कि पारस्परिक व्यवहार में अधिकाधिक सजगता बरती जाने लगी। सामाजिक जीवन को उचित दिशा में ले जाने के लिये व्यक्तियों को अपनी व्यक्तिगत बातों के अतिरिक्त भी कुछ उत्तरदायित्व निबाहना आवश्यक प्रतीत हुआ और उसके निर्वाह के जिन ढंगों का परिस्थिति वश प्रादुर्भाव हुआ वे नीति अथवा नियम कहलाये जो शनैः शनैः धर्म के ही अङ्ग बन गये। इन नियमों को ध्यान में

१ वही, २
२ बिहारी सतसई, ३५६
३ वही, ३०६

रखकर जीवनयापन करने के प्रयोजन से अनेक स्मृतियाँ बनी। कर्म के विभिन्न क्षेत्रों मे सन्तुलन रखने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की नीतियाँ अस्तित्व में आयी, अनेक प्रकार के नियम बने। राजधर्म अथवा राजनीति से सम्बद्ध एक और प्रकार की नीति भी विकसित हो चली जिसमें बुद्धि और छल का खेल था। यह कूटनीति के नाम से आज भी चली आ रही है। धर्म के साथ ही नीति का पल्ला भी बँध जाने से भारत जैसे धर्मप्राण देश का कवि उसकी उपेक्षा कर नही सकता था। नीतिविषयक असख्य मुक्तक रचनाएँ संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध हैं। उसके सुभाषितो में अन्योक्ति के छल से न जाने कितने नीतिसम्बन्धी तथ्यों का प्रतिपादन किया है। हिन्दी साहित्य को अन्यान्य सम्पत्ति के साथ इस प्रवृत्ति के भी विरासत में न मिलने का कोई कारण नहीं था। उधर बौद्धों का सारा साहित्य इस प्रकार की रचनाओं से भरा पडा है। अपभ्रंश परम्परा में भी इस परिपाटी का तारतम्य विच्छिन्न नही हुआ था। हेमचन्द्र के व्याकरण में संगृहीत अपभ्रंश के दोहों में कितने ही नीतिविषयक हैं। तुलसीदास ने अनेक दोहे इस विषय पर लिखे। रहीम ने भी एक सतसई इसी सम्बन्ध में लिखी बताते हैं, पर वह प्राप्त नहीं हैं; हाँ, उनके बहुत से फुटकर दोहे मिले है जिनमें से अनेक साधारण जनता में भी प्रचलित हैं। अकबर के दरबारी राजा बीरबल और नरहरि महापात्र के नीतिविषयक पद प्रसिद्ध हैं। डा० हजारीप्रसाद ने सोलहवी शताब्दी के अन्त के एक 'जमाल' नामक मुसलमान नीतिकार कवि का भी उल्लेख किया है[1] जिसके दोहे राजस्थान में बहुत प्रचलित हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में भी यह परम्परा चली आ रही थी।

नीति-मुक्तककारों के अतिरिक्त प्रबन्धकार भी इस परम्परा से प्रभावित थे। 'भारवि' के किरातार्जुनीय' और 'माघ' के 'शिशुपाल वध' का दूसरा सर्ग राजनीति के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सामान्य नीति कथनों से ही भरा पड़ा है। तुलसी के 'रामचरित मानस' में न जाने कितने स्थलों पर नीतिविषयक उक्तियाँ कही गई हैं। रीतिकाल के प्राय: सभी कवियों ने नैतिक और व्यावहारिक उपदेश से पूर्ण थोड़ी बहुत उक्तियाँ कही हैं। बिहारी यद्यपि शृङ्गारी कवि थे, किन्तु उनकी सतसई में नीतिविषयक बहुत से दोहे मिलते हैं पर हम उन्हें 'रहीम' 'वृन्द' और 'गिरिधर' के समान नीतिकार नहीं मान सकते। यदि केवल नीतिविषयक दोहों को ही लेकर बिहारी का साहित्यिक मूल्य आंका जाय तो वे अपने वास्तविक स्थान से बहुत पीछे हट

---

१ हिन्दी साहित्य पृ० ३५१

जायेंगे। नीति के दोहे लिखकर भी बिहारी 'नीतिकार' नहीं है उसी प्रकार जिस प्रकार माघ या भारवि।

इन सब उल्लेखों से बिहारी के विस्तृत निरीक्षण का तो अवश्य पता चलता है पर उन्हे इन सबका परम विद्वान् स्वीकार करना गले नही उतरता। उनकी पर्यवेक्षण दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और पैनी थी जिसका प्रभाव उनकी कविता पर पड़ना स्वाभाविक ही था। जन-जीवन से अनेक प्रचलित बातों को उठाकर उन्होंने अपने काव्य में यथावसर गूंथ दिया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि साहित्यिक के अतिरिक्त बिहारी को अन्य बहुत से विषयो का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था। जो भी वस्तु उनकी दृष्टि में आई, जिस किसी का निरीक्षण उन्होंने किया उसकी तह तक पहुँच जाने की उनमें विलक्षण शक्ति थी। उनकी साहित्यिक जानकारी के विषय में पीछे बहुत कुछ कहा जा चुका है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की शृङ्गारिक परम्पराओं के अतिरिक्त रीतिशास्त्र के तत्वों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। भाषा पर उनका अपूर्व अधिकार था। शब्दों का चयन, वाक्य विन्यास आदि सब उनके असीम ज्ञान और अनुभव के सूचक हैं। इतना विस्तृत ज्ञान रखने वाले कवि बहुत कम हुआ करते है। वे निःसन्देह सच्चे अर्थ में कवि थे

६—भक्ति-भावना

रीतिकाल के सभी शृङ्गारिक कवियों की भक्ति-विषयक-उक्तियाँ भी मिलती हैं, उसी प्रकार, जिस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों की उद्दाम शृङ्गार-भावना से ओतप्रोत उक्तियाँ प्राप्त हैं। बात यह है कि कृष्ण-भक्त कवियों के द्वारा स्वीकृत एकान्त साधना जिसमें भक्त भगवान् का अन्तरङ्ग सखा बन कर उनकी लीलाओं का साक्षात् दर्शन करता था, अलौकिक शृङ्गार-भावना का आश्रय लिये हुए थी जिसके प्रभाव से इन कृष्णभक्त कवियों ने अपनी 'मथुरा तीन लोक से न्यारी' बसाई और राधाकृष्ण की विविध शृङ्गार-लीलाओं के गीत गाये। भक्ति की स्थली पर जिस अलौकिक प्रेम को उन्होंने उतारा था, रीतिकालीन कवियो ने उसे भौतिक विलास के आधार पर टिकाया क्योंकि जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे रसिक सम्राट् तथा उनका अनुकरण करने वाले सामन्तों के युग का प्रभाव ही ऐसा था। यह परिवर्तन इतना शीघ्र हुआ कि ये कवि राधाकृष्ण को न तो अपने युग की शृङ्गारभावना का ही ऐकान्तिक प्रतीक बना सके और न ही भक्तिकालीन भावना का पूर्ण परित्याग कर सके। शताब्दियों से बहकर आती हुई उस धारा का प्रवाह यद्यपि छिन्न-भिन्न हो गया था किन्तु फिर भी कहीं-कहीं पर वह रस अब भी भरा हुआ था जिसमें रीतिकालीन शृङ्गार रसधारा बड़े वेग से आकर मिली। इस प्रकार मिल जुलकर जो कुछ बना उसमें भक्तिरस की भी क्षीण सी रेखा कहीं-कहीं दीख ही जाती थी। लौकिक वासनावायु में श्वास लेने वाले इन कवियों को जब भक्ति-रस सिक्त मन्द समीरण छूता हुआ निकल जाता तो वे एक क्षण के लिये 'राधिका कन्हाई सुमिरन के बहाने' में इतने तल्लीन हो जाते कि अपने अङ्गीकृत सूत्र का उन्हें ध्यान तक न रहता। ऐसी दशा ने उनके मुख से जो उक्ति निकलती थी वे भक्ति रस से ओत-प्रोत होती थी, पर दूसरे ही क्षण वे अपनी स्वाभाविक भावभूमि पर उतर आते थे। तात्पर्य यह है कि वे भगवद्विषयक रति के उस सामान्य स्तर पर खड़े थे जिस पर संसार का प्रत्येक मनुष्य त्रिविधताप से संतप्त होने पर क्षणभर के लिये जा खड़ा होता है और भगवान् के सामने अपनी भूल की क्षमा के लिए अनुनय-विनय करेता हुआ दीख पड़ता है। भक्तिकालीन और रीतिकालीन कवियों की भक्तिविषयक उक्तियों में यही विशेष और सामान्य

स्तर का अन्तर है जो युग की परिस्थितियों का फल है। एतद्विषयक रचनाओं में अन्य अन्तर का आधार भी यही अन्तर है। डा० नगेन्द्र का कथन है—

"वास्तव में यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का ही एक अंग थी जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर तो सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्तिभावना से हीन नहीं है—हो ही नहीं सकता था क्योंकि भक्ति उसके लिये एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्तिरस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते[१]। इसीलिये रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।"

भक्तिरस में अनास्था प्रकट करने के लिये तो नैतिक बल की इतनी आवश्यकता नहीं क्योंकि आस्था या अनास्था भाव से सम्बद्ध हैं। भावावेश में किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति आस्था या अनास्था प्रकट की जा सकती है। भावावेश एक प्रकार की मानसिक निर्बलता ही है जिसके कारण मन का सन्तुलन ठीक नही रहता। नैतिक बल में हृदय और बुद्धि की शक्ति का सामञ्जस्य होते हुए भी बुद्धि का पलड़ा कुछ भारी रहता है। इसलिये किसी वस्तु का सैद्धान्तिक प्रत्याख्यान इसके बिना सम्भव नहीं। रीतिकालीन कवियों ने भक्ति का सैद्धान्तिक निषेध तो नहीं किया परन्तु शृंगारिक भावना के आवेश में मुक्ति का निषेध अवश्य किया है—

जौ न जुगति पिय मिलनकी, धूरि मुकति-मुँह दीन।
जौ लहिए सँग सजन तौ, धरक नरक हू कीन॥[२]

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥[३]

हाँ, तो रीतिकालीन कवि भक्ति की सामान्य भावभूमि पर खड़े थे, इसलिये उनकी भक्तिविषयक उक्तियों के आधार पर किसी सम्प्रदाय अथवा वाद-

१ रीतिकाव्य की भूमिका पृ० १८०
२-३ बिहारी सतसई, दोहा ७५-७६

विशेष से उनका पक्का गँठजोड कर देना उचित नही। वास्तव में दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण बुद्धि के आधार पर होता है पर भक्ति सवा सोलह आने हृदय की वस्तु है। कवि भी हृदय-प्रधान व्यक्ति होता है, इस दृष्टि से वह दार्शनिक की जाति का न होकर भक्त के वंश का होता है। अतः भक्त कवियो की वीणा से निकले हुए स्वरों में किसी वाद की ध्वनि सुनने के लिये चौकन्ना होना भ्रान्ति ही कहा जा सकता है। जब परिनिष्ठित सम्प्रदाय में दीक्षित भक्तो का भी उन्मुक्त हृदय साम्प्रदायिक भावनाओं और सिद्धान्तों की परिधि को लाँघ कर सियाराममय अखिल जगत् में प्रसृत देखा जाता है तो सांसारिकता में बँधा हुआ सामान्यहृदय किसी 'वाद' अथवा सम्प्रदाय तक कैसे पहुँच सकता है ? परन्तु जिन्हें बाल की भी खाल निकालने की आदत है वे

> करम उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भांति खरो।
> मोहिं तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो ।।[1]

कह कर अपने को अलग घोषित करने वाले तुलसी के यत्र-तत्र सामान्य रूप से आये हुए कथनों को उठा-उठा कर उनके अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, शाक्त या वैष्णव होने का सबूत पेश करने लगें तो आश्चर्य ही क्या ? ऐसे ही लोग यदि—

> मैं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचौं काँच सौ।
> एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ।।[2]

को देखते ही एकदम बिहारी को बड़ा भारी अद्वैतवादी करार देदें तो क्या किया जाय ? भक्त कवि में कृत्रिमता का सर्वथा अभाव रहता है। अनुभूति की सान्द्रता में वह कवि-कौशल पर दृष्टि नहीं जमा पाता। शृंगारी कवि भक्ति विषयक उक्तियों मे भी कवि-कौशल का पूरा ध्यान रखता है। उसकी मानसिक चेतना दोनों ओर कार्य करती है। फलस्वरूप भक्तकवि जैसी एकतानता उसमें नहीं मिलती। शृंगारी कवि का विरह-वर्णन भी उतना मार्मिक नहीं होता क्योंकि विरह की चरम अनुभूति भक्त कवि की भाँति उसके हृदय में नहीं आती। संयोगवर्णन में भी उच्छृङ्खलता ही अधिक रहती है। भक्त का भगवान् से मिलन होता ही नहीं अतः वियोग की अनुभूति चिरन्तन होती है जिसतक सामान्य शृंगारी कवि नहीं पहुँच सकता। उसके यहाँ वियोग में नायिका के शरीर से लू चलने, इत्र की शीशी के बीच में ही

---

१ विनय पत्रिका २२६

२ बिहारी सतसई १८१

सूख जाने और विश्वास के हिंडोले पर घडी के पेण्डुलम् की तरह नायिका के 'छ-सातक' हाथ हिलने-डुलने की बातें हुआ करती है। भक्त अपनी बात को कबीर की तरह दो-टूक शब्दों में कहना पसन्द करते है, शृंगारी कवि भक्ति-पक्ष में भी वक्रता नही छोड़ते। इसी प्रवृत्ति के कारण बिहारी भी अपने हृदय की कुटिलता को इसलिये नहीं छोड़ते कि 'त्रिभंगी' कृष्ण सरल हृदय में रहने मे असुविधा का अनुभव करेगे। बिहारी कवि ही थे, भावुक थे और रसिक थे। उनके हृदय में जब जैसा भाव उद्‌बुद्ध हुआ उन्होंने उसे शब्दों के कोमल पाश में फाँस लिया। उन्हें किसी दार्शनिक मतवाद से मतलब न था और न ही वे कट्टर साम्प्रदायिक थे। वे तो सामान्य व्यक्ति की तरह मत-मतान्तर के बखेड़े मे न पड़कर सभी देवी-देवताओं और अवतारों को मान्यता देते थे और उन्हें भगवान् का स्वरूप समझते थे 'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति' का उनका सिद्धान्त इन शब्दों में स्पष्ट हो गया है—

> अपने-अपने मत लगै, वादि मचावत सोर।
> ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नन्द-किशोर ॥

"एकै नन्द-किशोर, को देखकर बिहारी को कृष्ण का ही भक्त मान लेने की भ्रान्ति भी नहीं होनी चाहिये और न ही "यह बरिया नहिं और की तू करिया वह सोधि। पाहन नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि"[२] के आधार पर उन्हें राम भक्तों की श्रेणी में गिन लेने की त्रुटि होनी चाहिये। यथार्थता तो यह है कि नन्दकिशोर और रघुपति मे साधारण जन की भाँति वे भी कोई अन्तर नहीं मानते थे। दोनों ही शब्द उपलक्षण रूप में प्रयुक्त हुए है और सर्व-शक्तिमान् प्रभु के प्रतीक है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—

"वास्तविक बात यह थी कि राम और कृष्ण में ये लोग कोई भेद नहीं समझते थे। भगवान् की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढ़ा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूर और तुलसी ने भी ऐसा किया है। उनके बाद तो जितने कवि हुए उन्होंने बिना किसी भेद भाव के ही उन लीलाओं को ग्रहण किया। बिहारी भी कहते हैं—

> कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी मुरारि।
> बीधे मोसौ आइकै गीधे गीधहि तार ॥३१॥

१ बिहारी सतसई ५७८
२ वही ४०१

"गीध को तारने वाले राम थे मुरारि नही ।[१]"

जिस प्रकार राम और कृष्ण मे ये भेद नही मानते उसी प्रकार निर्गुण और सगुण भी इनकी दृष्टि में भिन्न नही । निर्गुण की व्यापकता का प्रतिपादन बिहारी ने इन शब्दों में किया है—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग रंग भूपाल ।।[२]

निर्गुण की निर्गुणता पर ही बिहारी को विस्मय नही, सगुण के गुणों पर रीझ कर उनमें बँधने की कामना भी है—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ ।
जौ बाँधे ही तोषु, तौ बाँधौ अपनै गुननु ।।[३]

इस से स्पष्ट है कि वे राम, कृष्ण, निर्गुण, सगुण सब को मानते थे, पर साम्प्रदायिक अर्थ में किसी के उपासक न थे और जैसा कि कहा जा चुका है यह प्रवृत्ति सामान्य-जन-प्रवृत्ति कही जा सकती है। यथार्थता तो यह है कि वे अन्य कुछ भी होने से पहले कवि थे यही कारण है उनकी भक्ति-विषयक उक्तियों में भी निराली वक्रता और वाग्विदग्धता दीख पड़ती है—

करौं कुबत जगु कुटिलता तजौ न दीनदयाल ।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगी लाल ।।[४]

मुरलीधर के तीन जगह से वक्र होने के कारण बिहारी भी हृदय की वक्रता नहीं छोड़ते, इसलिये नहीं कि इससे उनका कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है बल्कि इसलिये कि सरल चित्त में त्रिभंगी कृष्ण समा न सकेंगे। दूसरा उदाहरण लीजिये :—

मैं तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमाम ।
मति कबहुँक आएँ यहाँ पुलकि पसीजैं स्याम ।।[५]

यहाँ प्रसंगवश एक बात का उल्लेख करना अनुचति न होगा। आजकल अन्त:साक्ष्य की खोज कर कवि की उक्तियों में से उसका जीवनचरित ढूँढ निकालने की धुन में अनेक आलोचक भावोद्रेकावस्था में कवि के हृदय से

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १३१
२ बिहारी सतसई ४२८
३ वही २६१
४ वही ४२५
५ वही, २८१

अपने सम्बन्ध में निर्गत उक्तियो को प्रमाण मानकर कवि के प्रति अनर्थ कर डालते है। "प्रभु हौ सब पतितन को टीको" और "मोसों कौन खोटौ" से सूर और तुलसी को बिल्कुल ही गया-गुज़रा मान लेना सरस्वती की पूजा के पवित्र फूलों को नोचना तो है ही, कवि के साथ अन्याय और मानव-हृदय के प्रति अपनी अनभिज्ञता की विज्ञप्ति देना भी है। भक्ति-क्षेत्र में दैन्य-भूमिका पर पहुँचते ही भक्त को आलम्बन की महत्ता और अपनी लघुता का ज्ञान होता है और उसी क्षण भाव-विभोर होकर वह अपनी दीनता, क्षुद्रता और निरीहता का आलम्बन की महत्ता के ही अनुरूप बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करता है और अपने ऊपर अनेक दोषों का आरोप कर लेता है। 'प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दीन दशा का, बहुत साफ़ चित्र दिखाई पड़ता है, और वह अपने जैसा दीन-हीन संसार में किसी को नही देखता। प्रभु के अनन्त शील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष ही दोष और पाप ही पाप दिखाई पडने लगते हैं। इसी दृश्य के क्षोभ से आत्म-शुद्धि का आयोजन आप से आप होता है। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषों पापों और त्रुटियों को अत्यन्त अधिक परिमाण में देखता है और उनका जी खोलकर वर्णन करने में बहुत कुछ संतोष लाभ करता है। दंभ, अभिमान, छल, कपट आदि में से कोई उस समय बाधक नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पापों की पूरी सूचना देने से जी का बोझ ही नही सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। उसके सुधार का भार उसी पर न रहकर बॅट सा जाता है[1]।

यह दीनता धन्य है जो दीनबन्धु से नाता जोड़ती है।[2] बिहारी भी क्षण-भर के लिये जब भक्तिभाव में आत्म विस्मृत हो जाते थे तो उनके हृदय से भी ऐसी ही उक्तियाँ निकलती थीं जो किसी भी भक्त कवि की उक्तियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं, पर जहाँ उनका कवि हृदय जागरूक रहता था वहाँ उल्लिखित वक्रतापूर्ण उक्तियाँ ही निकलती थीं। इसलिये इस प्रकार के उल्लेखों से बिहारी को अनाचारी या पापी मान लेने की भ्रान्ति न होनी चाहिये।

बिहारी की सभी भक्ति-विषयक उक्तियों को विलासातिरेक से घबड़ाए हुए हृदय की लड़खड़ाती पुकार ही न समझना चाहिये। उनके बहुत

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वियोगीहरि द्वारा सम्पादित विनयपत्रिका की भूमिका पृ० ३

२ दिव्य दीनता के रसहि का जाने जग अंधु।
भली बिचारी दीनता दीनबन्धु से बन्धु॥ (रहीम)

से दोहे सूर के पदो से टक्कर लेने वाले है जिनसे उनके हृदय की सचाई और विश्वास टपकते है :—

कौन भाँति रहिहै विरदु, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसों आइकै, गीधे गीधहि तारि ॥[१]

बिहारी की इस उक्ति की तुलना सूर के नीचे लिखे पदों से कीजिये और समासशैली मे व्यासशैली की अपेक्षा भाव का जो अधिक घनत्व प्रतीत होता है उसका परीक्षण कीजिये :—

जानिहौ अब बाने की बात।
मोसौ पतित उधारौ प्रभु जौ तौ बदिहौ निज तात।
गीध व्याध गनिकाऽरु अजामिल ये को आँहि विचारे।
ये सब पतित न पूजत मो सम, जिते पतित तुम तारे ॥
जौ तुम पतितन के पावन हौ, हौहू पतित न छोटौ।
बिरद आपुनौ और तिहारौ करिहौ लोटक-पोटौ ॥
कै हौ पतित रहौ पावन ह्वै, कै तुम विरद छुड़ाऊँ।
द्वै में एक करौ निरवारौ, पतितनि-राव कहाऊँ ॥
सुनियत है, तुम बहु पतितनि कौ दीन्हौ है सुखधाम।
अब तौ आनि परचौ है गाढ्यौ सूर पतित सौ काम ॥[२]

हरि, हौं सब पतितन को राउ।
को करि सकै बराबरि मेरी, सो धौ मोहि बताउ ॥
व्याध गीध अरु पतित पूतना तिन में बढि जो और।
तिनमें अजामील गनिका अति उनमें मैं सिरमौर ॥
जहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई, मो समान नहिं आन।
अब जो आजु-काल के राजा तिनमें मैं सुलतान ॥
अब लौ तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसौ भेंट।
तजौ बिरद कै मोहि उबारौ, 'सूर' गही कसि फेंट ॥[३]

'सूर' अनेक पतितों के नाम गिनाकर उनके सिरमौर बन राव और सुल्तान बने तब कहीं फेंट कसने का साहस हुआ। इतने बड़े झमेले का अन्तर्भाव बिहारी ने 'बीधे मोसों आइकै गीधे गीधहिं तार' में कर दिया।

१ बिहारी सतसई ३१
२ सूरसागर १७६
३ ,, १४५

सूर ने अभिधा से काम लिया है और बिहारी ने व्यञ्जना से। सूर ने कहा है और बहुत कुछ कहा है पर बिहारी ने केवल संकेत कर दिया है। 'सूर' (शूर) का फेंट कसना उचित ही है, सुलतानी ऐंठ का अच्छा पार्ट अदा किया है परन्तु 'तजौ विरद कै मोहि उबारौ' में कलई खुल गई। वाग्वैदग्ध्य फीका पड़ गया पर उक्त दोहे में यह बात नहीं है। एक उदाहरण और लीजिये :—

मोहिं तुम्हैं बाढी बहस, को जीते जदुराज।
अपने अपने विरद की, दुहुन निबाहन लाज ॥[1]

आजुहौ एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं ॥
हौ तो पतित अहौ पीढिन को, पति तै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौ उधरि नचन चाहत हौं, तुम्है बिरद बिनु करिहौ ॥
कत अपनी परतीत नसावत, हौ पायो हरि हीरा।
'सूर' पतित तबहीलै उठिहैं, जब हँसि दैहो बीरा ॥[2]

इसके साथ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह पद भी रख लीजिये—

आजु हम देखत हैं को हारत।
हम अघ करत कि तुम मोहिं तारत को निज बान बिसारत।
होड़ पड़ी है तुम सन हम सन देखें को प्रन पारत।
हरीचन्द अब जात नरक मँह कै तुम धाय उवारत ॥

इस प्रकार कई अन्य दोहों में बिहारी ने प्रेमवश भगवान् को उपालम्भ दिया है :—

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारनविरदु बारक बारन तारि ॥

नाम दीनबन्धु है परन्तु पता नहीं कौनसे दीन तारे है। यों तो पुराने जमाने से ही उन दीनों की एक लम्बी लिस्ट चली आ रही है जिनका उद्धार कभी किया था। पर किया होगा। हमारा उद्धार करें तो हम मानें। हमें तो सब धोखा ही प्रतीत होता है :—

बन्धु भये का दीन के को तारयौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे विरद कहाइ ॥[3]

---

१ बिहारी सतसई ४२७

२ सूरसागर १३४

३ बिहारी सतसई ६१

इस जमाने में गरीबो की सुनता ही कौन है ? जग की हवा जगत्पति को भी लग गई। इसीलिये भक्तो की दीन पुकार उनके कानों तक पहुँच नहीं पाती। क्यों नहीं ? जगनायक और जगद्गुरु जो ठहरे। इस हवा के उद्गम वही तो हैं। उन्होंने ही गुरु-मन्त्र के साथ इसे संसार में फूंका :—

कब का टेरत दीन रट होत न स्याम सहाइ।
तुमहू लागी जगद्गुरु जगनायक जगबाइ ॥[१]

इसी हवा के कारण तो थोड़े ही गुणों पर रीझने की बान छोड़कर आजकल के दानी बन बैठे है—

थोड़े ही गुन रीझते बिसराई वह बान।
तुमहू स्याम मनौ भये आज कालि के दानि ॥[२]

इसे कहते हैं समय का प्रभाव, कपूत कलिकाल की तीव्रता में करुणाकर का कृपास्रोत सूख गया—

जौ अकरुन करुनाकरौ इहि कुपूत कलिकाल।[३]

कृष्ण के सखा भक्तों ने ही ऐसे उपालम्भ दिये हों यह बात नहीं है। तुलसीदास जैसे राम के दास भक्तों को भी अपने 'नाथ' की 'निठुराई' देखकर दुख हुआ[४] यहाँ तक कि वे राम के नाम का पुतला[५] बाँधने के लिये मजबूर हो जाते हैं :—

हौ अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरों बाँधि है सहि न जात मोपैं परिहास एते ॥[६]

यह परमात्मा के प्रति तुच्छ सांसारिक जीव की मुँह-जोरी नहीं है, उपास्य के सखा बनकर उनके साथ हँसने-बोलने, उठने-बैठने और लड़ने-झगड़ने का मानव-मन का स्वाभाविक तकाजा है जिसका उभार विश्वास की अटल नीवँ पर जमे हुए प्रेम की परा कोटि पर आधारित है। भगवत्प्रेम से उमड़ते हुए

---

१ बिहारी सतसई ७१

२ वही ६८

३ वही ६६०

४ जद्यपि नाथ ! उचित न होत अस प्रभु सों करौं ढिठाई।
तुलसीदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हार निठुराई ॥ [वि० प०]

५ जब नटों को खेल दिखाने पर भी कुछ नहीं मिलता तो वे कपडे का पुतला बनाकर उसे बाँस पर लटकाये फिरते हैं और उस पर धूल डालकर कहते हैं देखो यह सूम है।

६ विनय पत्रिका

मानस-महोदधि की उपालम्भ-महोर्मि के पश्चात् निरीहता की लघु लहर का लास्य भी दर्शनीय है जिसमें सतह नीची अवश्य है परन्तु अगाधता अक्षुण्ण है—

हरि कीजत बिनती यहै, तुमसों बार हजार।
जिहि तिहिं भाँति डरयौ रह्यौ, परयौ रहौ दरबार।।[1]

सूर के इन शब्दों को भी साथ रख लीजिये—

जैसे राखहु तैसें रहौ।

× × ×

कमल नयन घनस्याम मनोहर अनुचर भयौ रहौ।
सूरदास प्रभु-भक्त-कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौ।।[2]

गुण और अवगुणों की नाप-तोल के अनुसार हिसाब-किताब रखा जाय तो निस्तार हो चुका इसलिये भक्त इन का हिसाब देने से कतराता हुआ अन्य पतितों में ही अपनी गिनती करने की प्रार्थना करता है जिनका उद्धार निश्चित हो चुका—

कीजै चित सोई तरौ जिहिं पतितन के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गनन, गनौं न गोपीनाथ।।[3]

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरौ।[4]

तथा

प्रभु मेरे गुन अवगुन न बिचारौ।
कीजै लाज सरन आए की रविसुत त्रास निवारौ।।[5]

परम भक्त तुलसी ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है—

जो पै जिय धरिहौ अवगुन जन के।
तौ क्यों कटत सुकृत नख ते मोपै विपुल-वृन्द अघ वन के।।[6]

बिहारी को भी यही विश्वास है कि यदि उनकी 'करनी' का निरीक्षण किया गया तो बात बनेगी नहीं—

तौ बलियै भलियै बनी नागर नन्द किसोर।
जौ तुम नीकै कै लख्यौ मो करनी की ओर।।[7]

---

१ बिहारी सतसई २४१
२ सूरसागर १६१
३ बिहारी सतसई २२१
४ सूरसागर २२०
५ वही, १११
६ विनय पत्रिका ९६
७ बिहारी सतसई ६२०

सांसारिक विषयों मे आसक्त मन को प्रबुद्ध कर उसे ईश-स्मरण की ओर उन्मुख करना भक्ति का प्रथम सोपान है। सूर और तुलसी जैसे सच्चे भक्तो में मन: प्रबोध की उत्कृष्ट भावना का चरमोत्कर्ष लक्षित होता है। भवसागर से पार उतरने के लिये भक्ति के अतिरिक्त कोई साधन नही। ज्ञान और कर्म इसके बिना व्यर्थ है। 'जिस प्रकार पतङ्ग दीपक से प्रेम करता हुआ उसकी जलती हुई लौ से भी नही डरता और उसपर गिर कर भस्म हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी ज्ञान के दीपक से सांसारिक दुःख के कूप को देखकर भी उसमें गिर जाता है। जड जन्तु काल व्याल के रजस्तमोमय विषानल में क्यों जलता है ? सकल मतों के अविकल वाद-विवाद के कारण वेश धारण करता है और निशदिन भ्रमता रहता है, जिससे कुछ भी कार्य नही बनता। परन्तु 'सूर' के अनुसार तो मनुष्य कृष्ण-भक्ति द्वारा ही भवसागर को पार कर सकता है।[1] मन को चेतावनी देते हुए सूर ने बहुत से पदों में भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।[2] 'तुलसी' भी अपने मन को ऐसी ही शिक्षा देते है—

सुन मन मूढ़ ! सिखावन मेरो !
हरिपद-विमुख लह्यो न काहु सुख, सठ यह समुझ सवेरो।

× × ×

छुटै न विपति भजे बिनु रघुपति, स्रुति सन्देह निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि कर, होहु राम कर चेरो ॥[3]

'रतिरंग' में 'बूडने' को 'तरना' मानने वाले कविवर बिहारी भी भक्ति की भूमिका पर पहुँच कर संसार पयोधि के तरने को हरिनाम की नौका का ही आश्रय लेना श्रेयस्कर समझते हैं—

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाउ।
तरि संसार पयोधि कौ हरि नावैं करि नाउ ॥[4]

बात ठीक भी है। संसार रूपी भयङ्कर पयोनिधि के पार करने के लिये

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ५५
२ सूरसागर पद ६६—८८
३ विनयपत्रिका पद ८७
४ बिहारी सतसई ३६०, तुलना लीजिये—

जौ अपनौ मन हरि सों राचै।
आन, आन प्रसंग छाँड़िकै मन वच, क्रम अनुसाचैं ॥ सूरसागर, ८१

ऐसे खिवैया के सिवा कौन उपयुक्त सिद्ध हो सकता है जिसके दृष्टिप्रक्षेप से पत्थर भी पयोधि में तरते हुए सुने गये हैं—

यह बरिया नहि और की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाइ कै कीन्हें पार पयोधि ॥[१]

परन्तु सांसारिकता में मग्न प्राणी प्रभु को बिलकुल भूल जाता है, संसार रूपी ठग उसे ठग लेता है। वह अपने जीवनरत्न को खोकर पश्चात्ताप करता हुआ कहता है—

जन्मैव व्यर्थतां नीतं भवभोगोपलोभिना।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त! चिन्तामणिर्मया ॥[२]

"सांसारिक भोगों की तृष्णा में मैंने व्यर्थ अपना जीवन खो दिया। हाय! मैंने चिन्तामणि काच के मूल्य पर लुटा दी।" इस दुर्दशा से बचने के लिये— पश्चात्ताप के तपनाधिक संतापक अनल से दूर रहने के लिये—ही 'सूर' अपने मन को ठगे जाने से अवगत करते हुए चेतावनी देते हैं—

रे मन जग पर जनि ठगायौ।
धन-मद, कुल-मद, तरुनी कै मद, भव-मद हरि बिसरायौ ॥[3]

इसी भाव को बिहारी ने अपनी कविता की बाँकी भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है—

जगतु जनायौ जिहिं सकल सो हरि जानौ नाहिं।
ज्यों आँखिनु, सब देखियै आँखि न देखी जाहिं ॥[४]

पाण्डवों की वनवासावस्था में जब धर्म ने यक्ष का रूप धारण कर जलाशय के तट पर युधिष्ठिर की परीक्षा लेते हुए कहा—

को मोदते ? 'किमाश्चर्य ? कः पन्था का च वार्तिका
वद मे चतुरः प्रश्नान्, पूरयित्वा जलं पिब।

अर्थात् संसार में प्रसन्न कौन है ? आश्चर्य क्या है ? मार्ग कौनसा है ? और बात क्या है ? मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर देकर जल भर कर पी सकते हो। उस समय युधिष्ठिर ने दूसरे प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में दिया—

---

१ वही, २४०
२ अज्ञात
३ सूरसागर, पद ५८
४ बिहारी सतसई ४१

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमसादनम् ।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।।[१]

प्राणी प्रतिदिन परलोक सिधारते हैं परन्तु जो रह जाते है वे इस प्रकार हाथ-पैर फैलाते हैं मानों उन्हे अनन्त काल तक रहना हो, इससे बढ़कर आश्चर्य का विषय क्या हो सकता है। युधिष्ठिर की बात जाने दीजिये, वे तो स्वयं धर्मपुत्र थे, भारत-भूमि में जन्म लेने वाला साधारण जन भी विरक्ति के क्षणिक आवेग में इसी प्रकार की बात कहता हुआ सुना जाता है। यह इस भूमि की रज का प्रसाद है जिसमें न जाने कितने दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक तत्त्व इतने रम गये है कि उन्हें देखने के लिये दिव्य दृष्टि की तो नही पर गम्भीर और पैनी दृष्टि की आवश्यकता अवश्य है। पार्थिव तत्त्व के साथ अज्ञात रूप में इस तत्त्व का भी यहाँ के मनुष्य के निर्माण में कुछ योग होना स्वाभाविक ही है जो उपयुक्त वातावरण में कभी-कभी अपनी झलक दिखाता रहता है। ऐसी ही भावानुभूति में विभोर रसराज बिहारी मनुष्य को शाश्वत सत्य मृत्यु का स्मरण दिलाते हुए उसे विषयों को त्याग कर हरि में चित्त लगाने की सम्मति सच्चे मन से देते है :—

जम-करि-मुँह तरहरि परचौ इहिं धरहरि चितलाउ ।
विषय-तृषा परिहरि अजौ नरहरि के गुन गाउ ।।[२]

उनकी ऐसी उक्ति भी वक्रता से रहित नहीं है। करि-मुँह (हाथी के मुख) के नीचे पड़े हुए नर की हरि (सिह) ही रक्षा करने में समर्थ है। यह वाग्वैदग्ध्य इस बात का सबूत है कि बिहारी पहले कवि थे, बाद में कुछ और। जहाँ पर भक्त प्रवर "सब तजि भजिए नन्दकुमार"[3] कहकर भजने का कारण कुछ और ही बताते है। वहाँ बिहारी तीर्थो को त्यागकर "हरि राधिका" की 'तन-दुति' में 'अनुराग' करने का कारण यह बताते हैं कि उसके कारण केलि-कुञ्जों में पग-पग पर प्रयाग (तीर्थराज) हो जाता है :—

तजि तीरथ हरि राधिका-तनदुति कर अनुराग ।
जिहिं ब्रजकेलि निकुँज मग पग पग होत प्रयाग ।।[४]

(हे मन !) तीर्थो को त्याग कर राधाकृष्ण की शरीर कान्ति से अनुराग कर जिनसे ब्रज के केलिकुञ्जों में कृष्ण की श्याम, राधिका की गौर और

१ महाभारत, वन पर्व
२ बिहारी सतसई २१
३ सूरसागर, पद ६८
४ बिहारी सतसई २०१

उनके चरणो की लाल द्युति के मिलने से पग-पग पर प्रयाग (तीर्थराज) बनता जाता है। बिहारी को 'परमभक्त' और 'भक्तप्रवर' सिद्ध करने वाले आलोचक महोदय दलील पेश करते है :—

'जब पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बनता जाता है, तब सैकड़ों तीर्थराज से श्रेष्ठ है, यह ध्वनि निकलती है और, जब तीर्थराज से श्रेष्ठ है, तब अन्य. तीर्थ किस लेखे में —अन्य तीर्थों की क्या गिनती। ध्वनि वह निकलती है कि संपूर्ण तीर्थो का अटन करने से अधिक फल श्रीराधाकृष्ण से अनुराग करने में है" आगे वे फिर लिखते है :—

'कितना भक्ति भावपूर्ण दोहा है, इसे सहृदय पाठक देखें। महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसी प्रकार का भाव निम्नलिखित चौपाई में व्यक्त करते है—

"अवध तहाँ जहँ राम-निवासू।"

अब देखना यह है कि स्वाभाविक कवि बिहारीलाल जी की कविता में महाकवियों के समान चमत्कार तो है ही। अनुज्ञा और काव्यलिङ्ग अलंकारों से परिपुष्ट रूपक की छटा बाँधने वाले बिहारीलाल जी के दोहे में श्रीकृष्ण के श्याम तन की द्युति से यमुना, राधिका जी के गौर शरीर की आभा से गंगा और पद की अरुणाई से सरस्वती का होना किस प्रकार लक्षित होता है। प्रयाग के संगम का यहाँ किस खूबी से वर्णन किया है। इतना होने पर भी दोहे में भक्तिभाव की छटा निराली है।"[1]

विचारणीय यह है कि कवि का तात्पर्य 'अनुज्ञा और काव्यलिंग अलङ्कारों से परिपुष्ट रूपक की छटा' में ही तो नहीं है? ध्वनित अर्थ की भी कितनी कोटियाँ पार करके हमें कवि के राधाकृष्ण विषयक रति-भाव का आभास होता है? उनके कारण भाव के आस्वादन में कोई व्याघात तो नहीं होता? अर्थात् भाव व्यंग्य में गूढ़ता तो नहीं? और, क्या वास्तव में तुलसी की सीधी साधी उक्ति 'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू' के भाव प्राधान्य का स्पर्श बिहारी के दोहे में हो सका है? यदि उपर्युक्त सब कुछ 'ननु नच' के बिना ही ठीक भी मान लिया जाय तो भी क्या बिहारी की समग्र रचना (सतसई) में भक्तिभाव की ही प्रधानता है जिससे उन्हे भक्तप्रवर कहा जा सके, या और किसी भाव की? क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार प्रधान गुण के अनुरूप ही खिताब भी होना चाहिये। पर जो

१ बिहारी दर्शन, पृष्ठ २७२

पञ्चों की बात सिर-माथे करके भी 'परनाले' के यहीं पड़ने का कठोर आग्रह करते है वे बिहारी के स्पष्टत: श्लेषाभिप्रेत—

अजौ तरचौना ही रह्यो श्रुति सेवत इक अग।
नाक वास बेसरि लह्यो बसि मुकतन के संग ।।[१]

दोहे में सत्संग की महिमा के आधार पर सन्तों से तुलना करने लगें तो कोई कह ही क्या सकता है ? ऊपर उठाये हुए प्रश्नों से स्पष्ट उत्तर मिलता है कि बिहारी भक्त थे पर इतने ही जितना सामान्य जन होता है इसलिए बिहारी भक्त से अधिक कवि थे और कवि भी शृङ्गारी। यदि उनके गिने-चुने भक्ति विषयक दोहों के आधार पर उन्हें 'भक्तप्रवर' मान लिया जाय तो, डर है कि कहीं सूर तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों को ही नहीं, तुलसी को भी शृङ्गारी मानना न पड़ जाय।

सन्त कवियों जैसी उक्तियाँ भी बिहारी में मिल जाती हैं जिनमें कञ्चन और कामिनी की निन्दा की गई है—

या भव-पारावार कौ उलँघि पार को जाइ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी गहै बीच ही आइ ।।
कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाइ।
वा खाये बौराइ जग या पाये बौराइ ।।
जपमाला छापैं तिलक सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै रामु ।।[२]

सुख दुख की परवाह न करके भगवान् को याद करते रहना चाहिये। सुख में ईश्वर को न भूलना और दुख में हाय-हाय न करना चाहिये। इस बात को सब की तरह बिहारी भी मानते है—

दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साईंहि न भूल।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूल ।।
दियौ सु सीस चढ़ाइ लै आछी भाँति अहेरि।
जापै सुख चाहत लियौ ताके दुखहिं न फेरि। [३]

'सूर' ने भी अपने मन को भाग्यानुसार प्राप्त सुख, दुख और कीर्ति का स्वागत कर गोविन्द का हो रहने का उपदेश दिया है—

१ वही २०
२ वही ४३३, १४१
३ वही ५१, ८१

रे मन गोविन्द के ह्वै रहियै ।
सुख दुख कीरति भाग आपनै आइ परै सो गहियै ।।[१]

बिहारी के कुल का सम्बन्ध हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्य नरहरिदास से रहा था। जैसा कि उनके जीवन-चरित मे बताया गया है, उनके पिता स्वामी नरहरिदास के शिष्य थे। सम्भव है बिहारी भी इनके दीक्षित शिष्य रहे हों और इनकी साधना से प्रभावित हुए हों। हरिदास जी का यह सम्प्रदाय कोई वेदान्त-वाद नहीं था। यह एक साधनामार्ग ही था। राधा कृष्ण की लीलाओं का सखीभाव से अवलोकन करना और अपनी संगीत कला से उन्हें रिझाना ही इनकी साधना का प्रमुख अङ्ग था। युगलोपासना की ओर बिहारी ने अपने इस दोहे में संकेत किया है—

नितप्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक ।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन जुगल अनेक ।।

भगवान् की मधुररूप की उपासना का दार्शनिक प्रतिपादन निम्बार्क ने किया तथा परवर्ती मधुरोपासनारत सम्प्रदायों की साधना में उनके सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। निम्बार्क के दार्शनिक सिद्धान्त तथा उपासना का समन्वय उनकी दशश्लोकी में मिलता है। उनके सिद्धान्तों का सार इस प्रकार है—

१—जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है परन्तु हरि पर आश्रित है, वह अणुरूप और विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है। अनन्यविशिष्ट तथा ज्ञानी है।

२—यह जीवात्मा अनादि माया से बद्ध है तथा तीनों गुणों से संयुक्त रहता है। ईश कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।

३—अचेतन पदार्थ अप्राकृत, प्राकृत तथा काल भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

४—मैं कृष्ण का ध्यान करता हूँ जो व्यूह अवयवों वाले हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, सब दोषों से रहित, कल्याणकारी और सर्वगुण सम्पन्न हैं।

५—मैं वृषभानु की कन्या राधिका का ध्यान करता हूँ जो कृष्ण के बामाङ्ग में सुशोभित हैं, सहस्रों सखियों से परिसेवित हैं तथा सब कामनाओं की पूर्ति करने वाली हैं।

६—अज्ञानान्धकार से मुक्ति पाने के लिए प्राणियों को निरन्तर परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये।

---

४ सूरसागर

७—श्रुति स्मृतियों के अनुसार सब आत्माओं का मूलस्रोत ब्रह्म है, अतएव वही सत्य है।

८—कृष्ण के चरणारविन्दों के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है, ब्रह्मा शिव आदि भी उनकी वन्दना करते है, वे भक्तों की इच्छा के अनुसार उनके ध्यान योग्य स्वरूप धारण कर लेते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य तथा अप्रेमय है।

९—उसकी कृपा का बड़ा महत्त्व है, दैन्य आदि भाव उसी की कृपा से उत्पन्न होते हैं। प्रेमाभक्ति की प्राप्ति भी उसी से होती है।

१०—भक्तों के लिये उपास्य का रूप, उपासक का रूप, कृपा फल, भक्तिफल, तथा भक्तिफल के विरोधी तत्त्वों को जान लेना चाहिये।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों से निम्बार्क का मत यह सबसे महान् अन्तर रखता है, कि रामानुजाचार्य ने तो अपनी भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा जबकि निम्बार्क ने कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी। इस प्रकार उत्तरी भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय प्रतिपादन निम्बार्क ने किया। बंगाल और ब्रजभूमि में इसका विशेष प्रचार हुआ[१]।'

बिहारी ने भी कृष्ण के साथ-साथ राधा की स्तुति भी की है। अपनी सतसई का प्रारम्भ उन्होंने राधा की स्तुति से ही किया है और एक प्रकार से कृष्ण की अपेक्षा राधा को ही महत्त्व दिया है—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होय ॥६॥

सखी भाव प्रेरित परिहास की प्रवृत्ति भी बिहारी में दीख पड़ती है—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥

भक्ति की प्राप्ति उनकी दृष्टि से भी ईश-अनुग्रह का फल है, तभी तो वे उससे भक्ति की याचना करते है—

हरि कीजत तुमसौं यही बिनती बार हजार।
जिहि तिहिं भाँति डरचौं रहौं परचौ रहौ दरबार ॥

---

१ देखिये सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ १४२।

शरणागति तथा भगवदनुग्रह का आग्रह एवं दैन्य आदि की भावना पुष्टि-सम्प्रदाय के मेल में अधिक है। इस प्रकार कई सम्प्रदायो के प्रभाव का लक्षित होना भी इस बात का प्रमाण है कि बिहारी कट्टरतापूर्वक किसी भी परिनिष्ठित सम्प्रदाय का अनुगमन नहीं करते थे। सामान्य साधक की भाँति परिस्थितियों से यथा संभव समझौता कर लेने की उनकी प्रवृत्ति थी।" उनकी कविता में सब प्रकार की भावनाएँ मिलती है। जिस अवसर पर जो बात सूझी उस अवसर पर उसी को अपनी उक्ति में बाँध दिया। भक्ति की जो सामान्य भावना आगे के कवियों में दिखाई पडती है, बिहारी की कविता उसका पूर्ण आभास देती है। तुलसी आदि के प्रयत्न से साम्प्रदायिकता का बाँध टूट जाने से भक्ति की रचना को जो विस्तार प्राप्त हुआ वह बिहारी में भी मौजूद है और आगे के कवियों में भी मिलता है। बिहारी की यह कविता भी अपनी विशेषता बराबर लिये हुए है, उनकी वाणी का बाँकपन भक्ति सम्बन्धी उक्तियों में भी बराबर मिलता है[१]।

प्रेम और सौन्दर्य के कवि बिहारी ने कृष्ण के सौन्दर्य और भाव-भङ्गिमाओं का भी सुन्दर चित्रण किया है। कृष्ण का भ्रकुटि-संचालन, उनकी पीत-पट की चटक, लटकती चाल, चपल नेत्रों की चितवन किस के चित्त को नहीं चुरा लेती[२]? उनके हृदय पर पड़ी हुई गुञ्जाओं की माला पिये हुए दावानल की ज्वाला सी प्रतीत होती है[३], मोरमुकुट की चद्रिकाओं में वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कामदेव ने शशिधर की स्पर्धा से सैकड़ों चन्द्रमा सिर पर धारण कर लिये हों[४]। जब वे अधर पर हरे बाँस की मुरला धरते हैं तो अधर, नेत्र और पीत-पट की आभा पड़ने से वह इन्द्र धनुप के समान भासित होने लगती है[५]। इस रम्य परम्परा को देखकर बिहारी का मन मुग्ध हो जाता है और वे प्रार्थना करने लगते हैं :—

सीस मुकुट, कटि काछनी कर मुरली, उर माल।
यहि बानक मो मन बसो सदा बिहारीलाल॥[६]

---

१ श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ १३४

२ बिहारी सतसई ३०२

३ वही ३१२

४ वही ४१७

५ वही, ४१८

६ बिहारी सतसई ३०१

कृष्ण के इस दिव्य रूप के साथ राधा की अलौकिक सुन्दरता के आकर मिल जाने पर रमणीयता का को विशाल सागर उमड़ पड़ता है उसके पूर्णतया दर्शन के लिये न जाने कितने नेत्रों की आवश्यकता है :—

नित प्रति एकत ही रहत, वैस, बरन, मन, एक।
पहियत जुगलकिशोर लखि, लोचन जुगल-अनेक ॥[1]

सौन्दर्य-राशि की अनिर्वचनीयता, उसके गम्भीर प्रभाव और तज्जन्य भावानुभूति की अवर्णनीयता की इससे अच्छी अभिव्यक्ति हो नहीं सकती।

बिहारी की भक्ति विषयक उक्तियों की जो चर्चा ऊपर की गई है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बिहारी उच्चकोटि के सहृदय कवि थे जिनकी रचनाओं में विविध भावों की मनोमोहिनी अभिव्यक्ति हुई है। उनका वर्ण्य-विषय प्रधानतया शृङ्गार अवश्य है परन्तु सच्चे हृदय से निकली हुई भक्तिभाव पूर्ण उक्तियाँ भी उनकी रचना में अवलोकनीय है। भक्ति-भाव-सम्बद्ध इन उक्तियों में भक्ति की सामान्य भावना का विशेष स्वरूप ही समझना चाहिये।

---

१ वही २३८

१०—प्रकृति-चित्रण

भारतीय वाङ्मय का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद प्रकृति के उल्लास में सराबोर पड़ा है। प्रकृति के मनोहारि रूप का अवलोकन कर चिरसहचर मन्त्रद्रष्टा ऋषि उसके प्रति अनुभूतिशील हो उठे हैं, उनकी अनुभूति वैदिक साहित्य में यत्र तत्र 'ज्ञान' की अपेक्षा भाव की ही सुस्थिर प्रतिष्ठा करती है। प्रकृति में उन्होने संवेदन और सचेतनता देखी थी। किन्तु आश्चर्य की बात है कि प्रकृति का यह स्वरूप संस्कृत की साहित्यिक परम्पराओं में प्रवेश न पा सका, उसका वह विशुद्ध आलम्बन रूप जिसको आधार मानकर कवि अपनी भावमग्नता में प्रकृति की रमणीयता की अनुभूति से प्रसूत भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रकृति की ही भूमिका पर करता है, संस्कृत साहित्य में नहीं के बराबर हैं। वाल्मीकि रामायण तथा अश्वघोष और कालिदास की कृतियों में इसके उदाहरण अवश्य खोजे जा सकते हैं, किन्तु साधारण चित्रोपस्थापक संश्लिष्ट चित्रण को उत्तरोत्तर आलङ्कारिक योजना द्वारा व्यञ्जनात्मक बनाकर शैली का अङ्ग बनाने की प्रवृत्ति विकसित होती रही और स्वतन्त्र-वर्णनों को उद्दीपन की परिधि में समेटने का प्रयास जोरों से चलता रहा; अन्ततो गत्वा प्रथम प्रवृत्ति की परिणत रूढ़ि और वैचित्र्य में तथा दूसरे प्रयास का विकास प्राकृतिक वस्तुओं के नाम परिगणन में हुआ। प्रकृति को अचेतन मानकर उसमें कवि के भाव की समुचित प्रतिक्रिया के अभाव को दृष्टि में रखते हुए काव्य-शास्त्रियों ने उसे एकतरफा अनुराग कहकर 'अनौचित्य' की पख लगा 'रस' के क्षेत्र से धकेल कर 'रसभास' और 'भावा-भास' के समकक्ष खड़ा कर दिया[१]। प्रकृति में मानवीय भावा का आरोप उन्हें कुछ पसन्द सा न आया और उन्होंने उसके आलम्बन बन सकने का उल्लेख तक कहीं नहीं किया। परन्तु क्या चिरसहचरी प्रकृति के रूप-रंग, अंग-प्रत्यङ्ग, परिस्थिति और व्यापारों के सम्यग् विवरण तथा सूक्ष्म संश्लिष्ट चित्रण से पाठक या श्रोता के हृदय में अन्तर्हित अनुराग उद्बुद्ध होकर

---

१ काव्यानुशासनवृत्ति, वाग्भट्ट (अ० ५, पृ० ५६)

'तत्र वृक्षादिष्वनौचित्तेनारोप्यमाणौ रसभावौ रसभावाभासतां भजत:" ॥

तथा—हेमचन्द्र का काव्यानुशासन (पृ० १०१)

"निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ।"

आनन्दानुभूति में परिणत नही हो जाता ? जिन्हे समीप से प्रकृति के उन्मुक्त सौन्दर्य के पान का चिरस्थायी अवसर प्राप्त नही उनकी बात वे जानें। निःसंदेह 'मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिये मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिये भी।'[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट रूप से इन शब्दों के साथ प्रकृति को आलम्बन रूप में स्वीकार किया है कि "मैं आलम्बन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।[2]

यह ध्यान रखने की बात है कि सन्त साहित्य को छोड़कर मध्ययुग के समस्त हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-काव्य-परम्पराओं और रीतियों का प्रत्यक्ष प्रभाव है। उत्तर मध्ययुग के काव्य शास्त्रियों ने किसी नवीन मत का प्रतिपादन न कर संस्कृत आचार्यों के सिद्धान्त स्वीकार कर लिये। अन्यान्य प्रवृत्तियों के साथ प्रकृति को उद्दीपन विभावों के ही अन्तर्गत रखने की प्रवृत्ति भी हिन्दी काव्यशास्त्र और साहित्य में ज्यों की त्यों ग्रहण करली गई। संस्कृत के किसी-किसी आचार्य ने तो प्रकृति को उद्दीपन विभावों से भी बहिष्कृत कर तटस्थ ही मान लिया था :—

उद्दीपनं चतुर्धा स्यादालम्बनसमाश्रयम्।
गुणचेष्टालंकृतयस्तटस्थाश्चेति भेदतः॥

अथ तटस्थ :—

तटस्थाश्चन्द्रिका - धारागृहचन्द्रोदयावपि।
कोकिलालापमाकन्द मन्दमारुतषट्पदाः॥
लतामण्डपभूगेहदीर्घिका जलदारवाः।
प्रासादगर्भसङ्गीतक्रीडाद्रिसरिदादयः॥[3]

अर्थात् शृङ्गार रस के उद्दीपन गुण, चेष्टा, अलंकृति और तटस्थ भेद से चार प्रकार के होते है। तटस्थ उद्दीपन के अन्तर्गत चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिल-काकली, मन्द-मन्द पवन, भ्रमर-गुञ्जन, लतामण्डप, भूगर्भ के गृह, वापियाँ, मेघ-गर्जन, प्रासाद, सङ्गीत, क्रीडादि और सरिताएँ आदि आते है।

यह गनीमत ही समझनी चाहिये कि हिन्दी के काव्यशास्त्रियों की दृष्टि प्रकृतिविषयक इस मान्यता की ओर नहीं गई। उन्होंने प्रकृति को

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; चिन्तामणि भाग २, पृ० ३७
२ ,, ,, ,, वही
३ देखिये, श्रीशिङ्गभूपालकृत रसार्णवसागर, पृ० ८६-८७

'उद्दीपन विभाव' के भीतर ही स्थान दिया। इस विषय मे 'कृपाराम' का मत है—

> उद्दीपन के भेद बहु सखीवचन है आदि।
> समयसाजलों बरनिये कविकुल की मरजादि ।।[1]

देव के भाव-विलास में भी गीत नृत्य आदि के साथ प्रकृति की भी गणना उद्दीपन विभावों में की गई है—

> गीत नृत्य उपवन-गवन आभूषन बनकेलि।
> उद्दीपन शृंगार के विधु-बसन्त बन बेलि ।।[2]

सैयद गुलामनवी ने उद्दीपन के अन्तर्गत 'षट्ऋतुवर्णन' का भी उल्लेख किया है[3]। मध्ययुग के केवल एक आचार्य ने समस्त परम्परा के प्रतिकूल प्रकृति को आलम्बन के अन्तर्गत स्थान दिया है, वह है केशव, जो 'हृदयहीन' के नाम से बदनाम है—

> "अथ आलम्बनस्थान वर्णन
>
> दंपति जोबन रूप जाति लक्षणयुत सखिजन।
> कोकिल कलित वसन्त फूलि फल, दलि, अलि उपवन ।।
> जलयुत जलचर अमल, कमल-कमला, कमलाकर।
> चातक-मोर-सुशब्द, तड़ित, घन, अम्बुद अम्बर ।।
> शुभ सेज दीप सौगंध गृह पान खान परधाम्नि मनि।
> नव नृत्य भेद वीणादि सब आलम्बनि केशव बरनि ।।[4]

यद्यपि रसनिष्पत्ति में केशव ने भी प्रकृति को कोई अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया हुआ नहीं प्रतीत होता, केवल आलम्बन और उद्दीपन को उन्होंने एक नये ढंग से देखा है और नायिका के साथ-साथ पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित पदार्थों को भी आलम्बन ही मान लिया है। उद्दीपन के भीतर वे केवल अङ्गज चेष्टाओं की ही गिनती करते हैं,[5] तथापि 'प्रकृति के क्षेत्र में आँखें खोलकर न चलने वाले कवि' के लिये इतना क्या थोड़ा है? खेद है कि उनके परवर्ती आचार्य केशव की इस मान्यता से प्रेरणा लेकर उसका विकास

---

१ 'हिततरङ्गिणी' ११

२ भावविलास

३ 'अथ उद्दीपन में षट्ऋतुमध्ये वसन्त ऋतु वर्णयम' गुलामनबी, रसप्रबोध, पृ० ८३

४ केशवदास, रसिक प्रिया, भावलक्षण ४-७

५ अवलोकनि आलाप परिरम्भन, नखरददान।
चुम्बनादि उद्दीपन ये मर्दन, परस प्रवान ।। रसिकप्रिया,

न कर सके। अस्तु अब तक की विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति को मुक्त आलम्बन का रूप काव्य-शास्त्रियों ने नहीं दिया, साथ ही कवियों ने भी इस रूप में उसका चित्रण नही किया।

पृष्ठभूमि—अर्थात् वस्तु-आलम्बन और भाव-आलम्बन—के रूप में

कभी-कभी कवि घटना और परिस्थितियों के आधार रूप में प्रकृति का चित्रण करता है जिससे उनमें प्रभाव की दृढ़ता आ जाती है। घटना के समय और स्थान की अभिव्यक्ति प्रकृति के परिवर्तित रूपों द्वारा इतने मनोरम और स्वाभाविक रूप में होती है कि पाठक बिना कुछ कहे-सुने ही सबकुछ समझ लेता है और मानसिक रूप से घटनास्थल पर स्वयं उपस्थित होकर प्रत्यक्ष-दर्शन का आनन्दलाभ करता है। इस रूप में प्रकृति स्वतन्त्र आलम्बन नहीं होती, किन्तु घटनाओं के विकास और परिस्थितियों के प्रसार से उसका समवाय सम्बन्ध होने के कारण वह समवेत आलम्बन अवश्य कही जा सकती है। रामायण और महाभारत में प्रकृति के इस रूप के चित्र भरे पड़े हैं। कालिदास और अश्वघोष के काव्यों मे, 'भवभूति' आदि रससिद्ध नाटककारों के नाटकों में और महाकवि बाण की 'कादम्बरी' में भी इस प्रकार के अनेक स्थल है। 'कादम्बरी' इस दृष्टि से बेजोड़ है। आलङ्कारिक होते हुए भी, विन्ध्याटवी, शाल्मलितरु, जावालि-आश्रम, पम्पासर आदि के वर्णन इतने हृदयग्राही और इतने पूर्ण है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' के स्वयं ज्वलंत सबूत है। अपनी पूर्णता और सौन्दर्य-प्रसार में प्रकृति के ये चित्र भावानुभूति के आलम्बन की दृष्टि से किसी नवोढा से कम नहीं, किन्तु वैसे प्रतीत होते हुए भी ये स्वतन्त्र आलम्बन हैं नहीं क्योंकि अपने क्रमिक-विकास मे वे घटना-स्थिति की ओर बढ़ते हुए समाहृत हो जाते हैं।

घटना-स्थिति के समान ही कभी कभी कवि प्रकृति को भावों की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रस्तुत करता है और अपनी रचना में प्राकृतिक दृश्यों की ऐसी योजना करता है कि कवि के अपने अथवा उसके द्वारा निबद्ध किसी पात्र के भाव उनमें मुखरित हो उठते हैं। ऐसे स्थलों पर प्रकृति का उपयोग पात्र के हृदय के भावों के लिये वातावरण प्रस्तुत करने के लिये होता है और वह उनका स्वागत करने के लिये प्रस्तुत दीख पड़ती है। कभी-कभी वह स्वयं ही उन भावों को प्रकट करती है और कभी पाठक की मनोभूमि को उनके समान स्तर पर लाने का कार्य करती है। मानवीय भावों के समानान्तर ही प्रकृति के रूपों का चित्रण करना भी उसके भाव-आलम्बन-

रूप का एक पक्ष है। कालिदास के रघुवंश में वसन्त और प्रातःकाल का वर्णन राजा के ऐश्वर्य के तुल्य ही प्रस्तुत किया गया है।

भावालम्बन से उतर कर उद्दीपन की ओर फैलता हुआ प्रकृति का वह रूप है जिसका चित्रण कवि प्रकृति को मानव-हृदय—अपने समस्त भाव-भार सहित—प्रदान करके करता है। इस रूप में प्रकृति में प्राणों का स्पन्दन साफ झलकने लगता है और वह मनुष्य को अपने समान ही भावों में ग्रस्त प्रतीत होती है। प्रकृति मानो उससे सहानुभूति प्रकट करती है। यह सहानुभूति उस कोटि की सहानुभूति होती है जो बरुनियों में आये हुए जलकणों को गति और ओठों में रोके हुए हास को स्वतन्त्रता प्रदान किया करती है, अतः प्रकृति का यह रूप जो साहित्य में मानवीकरण के नाम से प्रसिद्ध है, उद्दीपन के अन्तर्गत लिया जा सकता है। प्रकृति को भी अपने जैसे भावों से व्याप्त देखकर मनुष्य एक बार फिर अपनी स्थिति को देखता है तो उसके भावों में सान्द्रता आजाती है। यह ध्यान रखने की बात है कि प्रकृति के इस रूप में भाव का ही प्राधान्य है। कालिदास के पश्चात् के कवियों ने भाव की उपेक्षा कर आकार को प्राधान्य देना प्रारम्भ किया जिसका चरम विकास 'माघ' की मधुक्रीडाओं की भौतिक मांसलता में देखा जा सकता है।

प्रकृति-उद्दीपन के रूप में

प्रकृति के वे वर्णन जो किसी पूर्वस्थित भाव की उद्दीप्ति में सहायक बन कर आते हैं, उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत गिने गये हैं। इन वर्णनों में प्रकृति अनुकूल और प्रतिकूल दोनों रूपो में चित्रित हुई है। अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' में प्रकृति वियोगि-हृदय के साथ पूरा सामञ्जस्य रखती हुई अतीव व्याकुल चित्रित की गई है। महाकवि सूरदास ने दोनों रूपों में इसका चित्रण किया है उनकी गोपियाँ कभी तो पपीहा को अपने ही समान 'विरह जुर जारौ' देखकर आशीर्वाद से अलंकृत करती है और कभी उसे प्रतिकूल समझ कर 'पापी' कहती हुई उसकी भर्त्सना करती हैं। प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित करते हुए भी उसकी सहज स्वतन्त्रता की रक्षा करना बड़े कौशल की अपेक्षा रखता है, उद्दीपन रूप में प्रकृति का ऐसा वर्णन उत्कृष्टतम कोटि का कहा जा सकता है। कालिदास के कुमारसम्भव का बसन्त-वर्णन इसी कोटि का है। उत्तरोत्तर रूढि-ग्रस्त कलात्मकता की प्रबलता के कारण पिछले खेवे के संस्कृत कवियों में विचित्र ऊहा और स्थल आरोप की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

---

१ रघुवंश

अप्रस्तुत विधान में

प्रस्तुत को अधिक भावगम्य और स्पष्ट बनाने के लिये प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से अनेक प्रकार के सदृश रूपों और व्यापारों का विधान कविसमुदाय प्रारम्भ से ही करता आया है। प्रकृति के इन प्रयोगों में स्वतः सम्भवी के अतिरिक्त कवि-कल्पना-प्रसूत रूपों का भी समावेश किया गया है, परन्तु यह कल्पना निराधार नहीं समझनी चाहिये। इसका आधार कवि के विस्तृत अनुभव में प्रवेश-प्राप्त विविध रूप-रंग, आकार-प्रकार, गुण-दोष आदि का अक्षय भाण्डार है जिससे वह अपनी रुचि के अनुसार किसी भी आकार में रंग-रूप, गुण आदि का औचित्यपूर्ण समावेश कर नया उपमान बना लेता है, जो इस लोक का न होते हुए भी इसी के तत्त्वों से बना होता है और कल्पित होकर भी सत्य का मनोरम उद्‌घाटन करता है, किन्तु क्रमशः इस कल्पना का आधार लोक न रहकर कवि का मस्तिष्क ही रह गया इसलिये इसमें क्लिष्टता आती चली गई। शाश्वत मानवीय अनुभवों पर आधारित न होने के कारण साधारण पाठक इसे अजनवी के रूप में ही ग्रहण कर सकता है क्योंकि कवि के मस्तिष्क के साथ वह अपनी बुद्धि का सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सकता; यही कारण है कि वह इसमें हृदय के रसमग्न होने की वस्तु न पाकर शुद्ध चमत्कार ही पाता है। संस्कृत के उत्तरकालीन कवियों में इस चमत्कार प्रदर्शन की बड़ी-बड़ी बाजियाँ लगी है।

कवि-समय अथवा रूढ़ियाँ

काव्य में प्रकृति विषयक कुछ ऐसी बातें भी पायी जाती हैं जो न तो देखी ही जाती हैं और न ही अन्यत्र सुनी जाती हैं। देश, काल, प्रकृति आदि के विरुद्ध होते हुए भी इन्हें काव्य का दूषण नहीं माना जाता, क्योंकि कवि लोग परम्परा से ऐसा वर्णन करते आये हैं। भारतीय जीवन के हर एक पहलू पर परम्परा की कितनी दृढ़ जकड़ है। यह इस बात का जीता जागता सबूत है। ये प्रकृति विरुद्ध कथन—जैसे चकवा, चकवी का रात्रि में वियुक्त हो जाना, चकोर का चिनगारियाँ चुनना, स्त्रियों के चरण-प्रहार से अशोक का विकसित होना आदि 'कवि-समय' कहलाते हैं जिसका अर्थ होता है कवियों का आचार अथवा सम्प्रदाय। इस शब्द का प्रथम प्रयोग राजशेखर ने किया और अपनी काव्य-मीमाँसा में उसने उन विषयों की पूरी सूची दी है जो इस 'कविसमय' के भीतर आते हैं। इन विरुद्ध वर्णनों की मान्यता के मूल में कौन से तत्त्व क्रियाशील रहे यह एक अलग से खोज का विषय है।

ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ग्रपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के परिशिष्ट में इस पर कुछ प्रकाश डाला है।

ग्रब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग के हिन्दी साहित्य को संस्कृत साहित्य की प्रकृति-विषयक उक्त परम्पराएँ भी ग्रन्यान्य परम्पराग्रों के साथ विरासत में मिली थीं। रीति-काव्य-परम्परा में ग्रलङ्कारों ग्रौर उक्तिवैचित्र्य को ही ग्रधिक प्रश्रय प्राप्त हुग्रा। इस परम्परा के स्वतन्त्र कवियों में बिहारी ग्रौर सेनापति प्रमुख हैं। यद्यपि ये रीतिकार नहीं है—इन्होंने कोई लक्षरण ग्रंथ नही लिखा—तथापि इनकी प्रवृत्ति युग की प्रवृत्ति से कुछ ग्रधिक हटकर चली हुई भी नहीं कही जा सकती। प्रकृति के उद्दीपन चित्रों के ग्रतिरिक्त कुछ स्वाभाविक चित्र भी इनकी रचनाग्रों में मिल जाते है, इसीलिये इनका प्रकृति चित्रण ग्रन्य रीतिकालीन कवियों की ग्रपेक्षा महत्त्वपूर्ण भी है। हमारे ग्रालोच्य कवि 'बिहारी' के प्रकृति-चित्रण का ग्रध्ययन इसी ग्राधारभूमि पर ठीक-ठीक किया जा सकेगा।

बिहारी का प्रकृति-चित्रण

प्रकृति के यथार्थ ग्रालम्बन रूप चित्र बिहारी के वर्णन में नहीं मिलते फिर भी कुछ चित्र ग्रालम्बन जैसे ग्रवश्य हैं। उनमें उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ स्वाभाविकता का भी योग है। कुछ दोहों में प्रकृति पर मानवीय क्रीडाग्रों के ग्रारोप के सहारे भावाभिव्यक्ति की गयी है जिनमें कहीं-कहीं भाव की व्यापकता इतनी बढ़ गई है कि वह स्वयं प्रकृति का ग्राधार सा प्रतीत होने लगा है ग्रौर प्रकृति का प्रस्तुत चित्र ग्रालम्बन जैसा दीख पड़ता है वासन्ती मधु से छके हुए भौरों के झौरों का स्थान-स्थान पर झपना ऐसा ही चित्र उपस्थित करता है :—

> छकि रसाल सौरभ सने मधुरमाधवी गन्ध।
> ठौर-ठौर झूमत झपत, भौंर भौंर मधु-ग्रंध ।।४९३।।

ग्रपनी मूल प्रेरणा में वसन्त का यह चित्र उद्दीपन ही कहा जायगा किन्तु उद्दीपन भाव के संकेत पर उपस्थित प्रकृति के तत्त्वों का वर्णन कुछ ऐसे ढंग से हुग्रा है कि प्रकृति-विषयक भाव व्यापक हो उठा है; इसीलिये इस दृश्य में मनोरम स्वाभाविकता भी है। जिन दोहों में विप्रलम्भ के ग्रन्तर्गत स्मृति ग्रादि भावों की पृष्ठभूमि पर प्रकृति की ग्रवतारणा की गई है उनमें वियोग की कसक ग्रौर उद्दीपन की भावना प्रत्यक्ष एवं गम्भीर हो उठी है। नीचे के दोहे में प्रकृति नायिका के हृदय में ग्रभिलाष का सञ्चार कर उसकी स्मृति को गम्भीर ग्रौर उत्कण्ठा को तीव्र बना रही है :—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौ वहै, वा जमुना के तीर।।[1]

नीचे दिये हुए दोहे में निदाघ इस प्रकार जगत् को तपोवन सा बना रहा है कि बनावट प्रतीत ही नही होती। सूरज के प्रखर तेज से घबरा कर चक्करी भूले हुए संयोगवश एकत्र समवेत परस्पर विरोधी जीवों का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है और पाठक भी 'ताप' की अनुभूति करने लगता है। प्राणियों के हृदय से बैर का अपसारण करने वाली तपोवन की पुण्यवायु का कार्य कवि ने ग्रीष्म के ताप से बखूबी पूरा करा लिया है :—

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ।।[2]

इसी प्रकार दक्षिण-पवन का जो चित्र अपनी सजीव कल्पना से अनुप्राणित कर मानवीय व्यापारों और भावों के साथ बिहारी ने प्रस्तुत किया है वह भावात्मक चित्र का सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है—

चुवतु सेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाइ।
आवत दच्छिन देस तें, थक्यो बटोही बाइ।।[3]

"तरु-तरु-तर विरमाइ" में ह्रस्व 'र' का अनुप्रास अपने नादात्मक सौन्दर्य से पवन के चलने की आहट देकर चित्र में गति तो उत्पन्न करता ही है साथ ही अपनी सौम्य ध्वनि से इस वाक्य की लक्षणामूलक वस्तु-ध्वनि रूप 'गति की मन्दता' की पुष्टि करता हुआ उसके उत्कर्ष का भी आधायक बनता है। केवल दक्षिण से ही नहीं, दक्षिण देश से आने वाले पथिक का श्रान्त होना नितान्त स्वाभाविक है। बिहारी के श्रान्त-पथिक का यह रूप अन्य कवियों द्वारा अंकित वायु के नायक रूप से निःसन्देह श्रेष्ठ है। भाव, कला और स्वाभाविकता का ऐसा सरस योग बहुत कम दीख पड़ता है। बिहारी के अंगरेज आलोचक भी इस चित्र पर लट्टू है। इम्पीरियल गजटियर में लिखा है—

He is particular in his description of natural phenomena, such as the scent-ladden breeze of an Indian Glooming, the wayworn pilgrim from the Sandal South, adust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow headed with rosedew for Sweat, and linge-

१ वही ६८०
२ ,, ४८६
३ ,, ३८६

ring neath the trees, resting himself and inviting others to rest.[1]

अर्थात् बिहारी प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में बड़े कुशल हैं—जैसे दक्षिण के मलय प्रदेश से आते हुए परिश्रान्त सुगन्धवाह मन्दगति पवन-पथिक का चित्रण जो पुष्प-रज से व्याप्त है, मार्ग की रज से नहीं, पसीने के स्थान में मकरन्द कणों से लथ-पथ है और वृक्षों के नीचे रुक रुक कर विराम करता हुआ औरों को भी आराम करने का निमन्त्रण देता हुआ धीरे-धीरे आगे बढ रहा है।

बिहारी का प्रसिद्ध कुञ्ज समीर के कुञ्जर-रूप का रूपक भी इसी कोटि का है।[२] अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी और उक्ति निर्वाह को लक्ष्य में रखते हुए भी वर्षा ऋतु का यह वर्णन घोर घनघोर के साथ सघन अँधेरे का स्पष्ट संकेत करता है:—

पावस निसि अँधियार में रह्यौ भेद नहि आन।
रात द्यौस जान्यो परत लखि चकई चकवान।।[३]

रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का वर्णन प्रायः दो रूपों में किया है—उद्दीपन रूप में, तथा ऋतु के अनुसार विलास और ऐश्वर्य-विषयक वस्तु-व्यापारों की योजना के रूप में। प्रथम पक्ष के अन्तर्गत षड्-ऋतु-वर्णन, बारह मासा, तत्तत् ऋतु के अन्तर्गत त्यौहार और उत्सवों के आयोजन—जिनमें नायक-नायिकाओं की रंगरेलियों का उन्मुक्त वर्णन होता है—आदि आते हैं। शृङ्गार (संयोग और विप्रलम्भ) के भावों को प्रभावित करने और उल्लास तथा व्यथा की नाप-जोख करने में प्रकृति का जो उपयोग हुआ है वह भी इसी के भीतर समझना चाहिये। वास्तव में इन दोनों विभागों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। ऐश्वर्य की वस्तुओं और व्यापारों का केवल नाम परिगणन-परिपाटी की रूढि के कारण इस प्रकार के वर्णन उद्दीपन कार्य का निर्वाह भी प्रायः नहीं कर पाते। रीतिकाल की इस सामान्य प्रवृत्ति के बिहारी अपवाद हैं किन्तु वैचित्र्यपूर्ण ऊहा की पराव्याप्ति से वे भी बाहर न रह सके।

बिहारी के षड्-ऋतु-वर्णन के कुछ स्वाभाविक चित्र पीछे दिये जा चुके हैं। यहाँ उनके ऋतु-वर्णन पर क्रमशः विचार किया जायगा। कवियों

1 Imperial Gazetteer of India, Vol. II, page 423.

२ बिहारी सतसई ३८७

३ वही ४८३

ने बसन्त ऋतु को अन्य सभी ऋतुओ से अधिक महत्व दिया है और उसे कामदेव का सखा माना है। उनकी दृष्टि में बसन्त प्राणियों में ही नही अचेतनों में भी मादकता उँडेल कर उन्हें काम का सहज वेध्य बना देता है, इसीलिये उसे ऋतुराज भी माना गया है। रसराज का स्वागत ऋतुराज की देखरेख में करने की परिपाटी कवियों में बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। निःस्पृह तपस्वियो की तपस्या से डरे हुए देवताओं के आड़े समय में ये ही दोनो मित्र काम आते थे। बिहारी ने भी बसन्त के कुछ उत्पातो का आभास दिया है:—

फिरि घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि।
फूल्यो देखि पलास बन, समुहे समुझि दवागि ।।[१]
दिसि दिसि कुसुमित देखिए उपवन-विपिन-समाज।
मनहुँ बियोगिन को कियो सर-पिंजर ऋतुराज ।।[२]

रुचि न होते हुए भी फाग खेलते हुए प्रिय-प्रेयसियो की धमाचौकड़ी पर भी एक नज़र डालनी पड़ेगी ही—

पीठि दिये ही नैकु मुरि, कर घूँघट-पट टारि।
भरि गुलाल की मूठि तिय, गई मूठि सी मारि ।।

होली सभी के लिये नया उल्लास, नया सन्देश और नया सौहार्द लेकर आती है। पुराने वैमनस्य को त्यागकर परस्पर विरोधी भी इस दिन अपने सम्बन्धों को नये सिरे से रमणीयता के साथ प्रारम्भ करते है, किन्तु इसके सामाजिक पहलू का कोई भी चित्र इन शृङ्गारिक कवियों मे खोजना व्यर्थ है। बिहारी के नायक नायिका की दुनिया इस ऋतु में सबसे अलग है, जिसमें उन दोनों के सिवा किसी को जगह नहीं, फ़िर भी इस दुनिया को कबीर की साँकरी प्रेमगली समझने की भूल नहीं होनी चाहिये जिसमें दो नहीं समा तकते। उसमें एक ही ऐसा पसर कर बैठा है कि अन्य के लिये जगह न होने से साँकरी है यह इतनी व्यापक है कि एक भी समा नही पाता, अतः संकीर्ण है, उसम उच्चताही है और इसमें फैलाव ही।

छुटत मुठिन सँग ही छुटी लोकलाज कुल चाल।
लगे दुहुनि इक संग ही, चलचित नैन गुलाल ।।[३]

१ वही ५६४
२ वही ३४६
३ वही ३५१

रंग में सराबोर हो जाने के पश्चात् भी 'नैनों' की पिचकारी में भर-भर कर किस प्रकार प्रेम-रँग छिड़का जा रहा है, यह भी देखने की चीज है—

रस भिजए दोऊ दुहुन, तउ टिक रहे टरै न।
छबि सों छिरकत प्रेम-रँग, भरि पिचकारी नैन ।।[1]

"सात्त्विक कम्प के कारण नायक की मुट्ठी का कुछ गुलाल तो गिर ही गया, कुछ स्वेद (सात्त्विक) के कारण हाथ में ही लिपटा रहगया, मुट्ठी झूँठी ही रह गई"[2]; खैर फिर किसी तरह गुलाल लगाया भी तो कम्प के कारण पुन: गड़बड़ हो गई कुछ आँख में पड़ा और कुछ यूँही उड़ गया "आँख के गुलाल से नायिका को इतना मोह हो गया है कि निकाले ही नही बन पड़ता; और निकल भी गया तो पीर बढ़ती ही गई, उन नैनों में कोई समा जो गया था—

दियो जु पिय लखि चखनि में खेलत फाग खियाल।
बाढत है अति पीर सुनि, काढे हू सु गुलाल ।।[3]

नायिका की अदाओं का लोभ उदारता पर किस प्रकार विजय पा रहा है यह भी देखने योग्य है—

ज्यों-ज्यों पट झटकति हटति, हँसति नचावति नैन।
त्यों-त्यों निपट उदारहू फगुआ देत बनै न ।।[4]

ग्रीष्म-वर्णन

बिहारी के ग्रीष्म-वर्णन का एक स्वाभाविक चित्र पीछे दिया जा चुका है। अब मानवीकरण के आधार पर उसका चित्रण देखिये। कवि ग्रीष्म-ऋतु रूपी नायिका को नायक वसन्त के विरह में उसाँस लेती हुई चित्रित करता है इन्हीं उसासों को लोग लुएँ समझते है—

नाहिन ये पावक प्रबल, लुएँ चलति चहुँ पास।
मानो विरह वसन्त के, ग्रीषम लेत उसास ।।[5]

दोहे की प्रथम पंक्ति में लुओं के झुलस देने वाले भीषण प्रभाव का आभास मिलता है किन्तु दूसरी पंक्ति के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते शृङ्गार का समाँ बँध जाता है और लुओं का भीषण दाहक ताप वियोगिनी का ताप बन जाता है जिससे हृदय पसीज जाता है। इसलिये दोहा शृङ्गार प्रधान ही

१ वही ४११
२ वही ६३२
३ वही
४ बिहारी सतसई ५००
५ वही ४८५

कहा जायगा। उधर भ्रान्त्य पह्नुति और हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार अलग सिर उठा उठाकर अपना अधिकार घोषित कर रहे है और सचमुच उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता। ग्रीष्म के अन्तर्गत जल-विहार का आयोजन भी देख लीजिये। नायक की पिचकारी का लक्ष्य कहाँ है और प्रतिक्रिया कहाँ से होती है यह ध्यान देने की बात है—

छिरकौ नाह नवोढ दृग, कर-पिचकी जलजोर।
रोचन-रँग-लाली भई, विय तिय लोचन-कोर ।।

यद्यपि, जैसा कि कहा गया है, बिहारी ने अन्य कवियो की भाँति ऐश्वर्य-वर्णन और विलास-सामग्री जुटाने के आयोजन से परहेज रखा है तथापि उसका लिया-दिया सा प्रभाव तो है ही जिसके कारण कभी-कभी उनकी नायिका भी नदी के जल को केसर के रंग का बनाती हुई 'चुभकी' लेकर जल-विहार करती है—

लै चुभकी चलि जाति जित-जित जलकेलि अधीर।
कीजत केसर नीर से, तित-तित के सर नीर ।।१५२।।

पावस वर्णन

वसन्त के समान ही पावस को भी शृङ्गारिक कवियों ने बडा महत्त्व दिया है, कालिदास का यक्ष तो अपने एक वर्ष के वियोग में वसन्त ऋतु को भी बिता ही लेता है किन्तु वर्षा के सामने उसका भी धैर्य स्खलित हो जाता है, आषाढ के प्रथम मेघ को देखकर उसका विरह अत्यन्त उद्दीप्त हो जाता है और वह उसी को अपनी प्रियतमा के पास संदेशवाहक के रूप में भेजता है। पावस का प्रथम पयोद बिहारी की नायिका को कैसा लगता है—

धुरवा होंहि न अलि इहै, धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद ।।[1]

जगत् को बाह्य और आन्तरिक शीतलता देने वाला मेघ उसे दाहक जान पड़ता है। यह ठीक है कि 'निदाघ की दीर्घ दाघ से तप्त धरातल पर आषाढ-मास के प्रथम मेघ जब घिरते है, तब असह्य उष्णता होती है, गर्मी इतनी बढ़ जाती है कि निदाघ की दाघ भी उसके समक्ष कुछ नहीं जान पड़ती[2]" किन्तु विरहिणी की इस उक्ति से इस उष्णता का आभास नहीं होता। उसकी दृष्टि का यह विभ्रम-पूर्णता उसके विरहोन्माद के कारण है और

---

१ मेघदूत
२ बिहारी-दर्शन, पृष्ठ १८५

इसमें चमत्कारवाद का कितना योग कवि ने किया है यह भी लक्षित करने की वस्तु है। वर्षा के साथ-साथ बिहारी की नायिका का उन्माद भी बढ़ता ही जाता है और नौबत यहाँ तक पहुँचती है—

विरहजरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि कै बार।
अरी आहु भजि भीतरी, बरसत आजु अँगार ।।५६३।।

नायिका विरह से जली हुई है, अतः जुगनुओं को अँगार समझती है, दूध का जला छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीता है। इस कल्पना-रञ्जित उक्ति की अपेक्षा नायिका की मनोदशा का चित्र बादलों के प्रति उसकी झुँझलाहट से कितनी स्वाभाविकता के साथ सामने आ जाता है—

कौन सुनै कासों कहों ? सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं, ये बदरा बदराह ।।

जलाने की बात न होने पर भी प्रेम की पीर के उत्कर्ष में घुटने की दशा इससे साफ प्रतिबिम्बित हो जाती है।

पावस ऋतु प्रोषित-पतिकाओं और पतियों के लिये जितनी विषम है, मानिनियों और मानवानों के लिये उतनी ही सहायिका भी क्योंकि मानहेतुक विरह की अवधि को 'पाञ्चाली के चीर' की तरह बढने नहीं देती। बल्कि शराबी के धन की तरह घटाती है। मान की गाँठ इसमें बड़े आराम से अपने आप ही खुल जाती है—

हठु न हटीली करि सकै, यह पावस ऋतु पाइ।
आन गाँठ छुटि जाइ त्यों, मान गाँठि छुटि जाइ ।।[1]

× × × ×

पावस बात न गूढ यह बूढन हू रंग होत ।।[2]

पावसान्तर्गत हिंडोला-वर्णन की लीक भी बिहारी ने पीटी है:—

हेरि हिंडोरे गगन तैं, परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूटि ।।६६।।

नायिका को हिंडोले-रूपी आकाश से परी के समान नीचे आते (गिरते) हुए देखकर नायक ने दौड़कर उसे बीच में ही थाम लिया और खूब रस लूटा।

बिहारी के वाह वाह वादी आलोचक इसमें भी बड़ी भारी मर्मस्पर्शिता पाते हैं और नायिका के गिरने का कारण नायक के दर्शन से प्रसूत सात्विक

१ बिहारी सतसई, ५५६
२ वही, ४०३

कम्प में खोजकर 'परी परी मी टूटि' और 'हिडोरे-गगन' के रूपक की चमत्कृति से आँखे बन्द कर लेते है,[1] किन्तु हमारी आँखें तो आश्चर्य से फटी रह जाती है कि ऐसी उद्वेगजनक परिस्थिति में भी नायक रस की खरी लूट करने से बाज नहीं आता। यह सत्य है कि प्रेयसी के प्राणसंकट के टल जाने पर नायक को असीम आनन्द होना स्वाभाविक है किन्तु इस संकट काल में हृदय की धड़कन जितनी तीव्र हो सकती है उसके प्रकृत दशा में आने के लिये कुछ क्षण अपेक्षित हैं। इन क्षणों में मानसिक उद्वेग के क्रमशः क्षीण हो जाने पर ही आनन्द की वास्तविक अनुभूति हो सकती है। इस बीच में आलिङ्गन-जन्य रस के आस्वादन की कल्पना मनोवैज्ञानिक नही कही जा सकती। 'खरीरस लूटि' स्पष्ट ही इस बात की द्योतक है कि कवि की दाद का आधार नायक का आलिङ्गन के सुअवसर से पूरा मूरा लाभ उठाना ही है, अतः, नायिका की प्राणरक्षा होने से आविर्भूत 'संतोष की साँस' इसे नहीं कहा जा सकता।

शरद्-वर्णन

शरद् ऋतु में कमल विकसित होने लगते है खञ्जन पक्षी—जो कवि समय के अनुसार वर्षा में कही चले जाते हैं—भी आ जाते है[2] और सजल नीरदों के हृदय टूट जाने से चन्द्रमा भी स्वच्छ नजर आने लगता है। अत्यन्त प्राचीन काल से कवि लोग कमल, खञ्जन और चन्द्र को कर-चरण, नयन और मुख के प्रतीक मानते आये हैं, अतएव चिर-प्रयोग-जनित विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न इन प्रतीकों के आधार पर शरद् सुन्दरी का यह रूपक कितना स्वाभाविक बन पड़ा है।

अरुन सरोरुह कर चरन दृग खञ्जन मुख चन्द।
समै आव सुन्दरि सरद काहि न करहि अनन्द ॥[3]

किन्तु यह होते हुए भी शरद की अपेक्षा सुन्दरी के ही चित्र की रेखाएँ अधिक उभरी हुई हैं और पाठक या श्रोता का ध्यान उसी की ओर केन्द्रित हो जाता है। इसी प्रकार शरद् को वीर राजा के रूपक में भी बिहारी ने चित्रित किया है—

घनघेरो छुटिगो हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियौ सुचैनों आय जग सरद-सूर नरनाह ॥[4]

---

१ बिहारी-दर्शन, पृ० १८८
२ 'जानि शरद ऋतु खंजन आये' तुलसी
३ बिहारी सतसई, ४३०
४ वही ४८२

शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्ना में रासक्रीडा का भी एक दृश्य देखिये—

उयो सरद राका ससी, रमत रसिक रस-रास।
लहाछेह अति गतिन की, सबन लखे सब पास॥[1]

हेमन्त-वर्णन

हेमन्त ऋतु का वर्णन भी उद्दीपन के रूप में ही मिलता है जिसमें "दम्पती संयोगावस्था में बिहार करते हुए सुख का अनुभव करते है और वियुक्त होने पर तो उनकी मौत ही आ जाती है। यह ऋतु संसार को जिराफ जन्तु ही बना डालती है।[2]" इस ऋतु में दिन बहुत छोटा और रात्रि बहुत बड़ी हो जाती है, किन्तु कवि रात्रि की दीर्घता की अनुभूति नही कराता चकवा-चकवी के शोक और लोगों के आनन्द की अनन्तता को ही प्रमुखता प्रदान कर वह उसे गौण बना देता है—

ज्यौ-ज्यौं बढति विभावरी, त्यौं-त्यौ बढत अनंत।
ओक-ओक सब लोक सुख, कोक-सोक हेमंत॥[3]

परन्तु दिन की छुटाई (लघुता) का बिहारी ने बड़ा ही स्वाभाविक चित्र दिया है, साथ ही सूर्य की किरणों की सौम्यता भी अभि-व्यक्त हो जाती है—

आवत जात न जानियत, तेजहिं तजि सियरान।
घरहि जवाँई लौं घट्यौ, खरौ पूस दिनमान॥[4]

'आवत जात न जानियत' मुहावरा जहाँ समय की अल्पता का समुचित आभास पूरी शक्ति के साथ देता है वहाँ व्यावहारिक तथ्य पर आधृत उपमा भी मन को सुहाने वाली धूप रूप व्यङ्ग्यार्थ को पुष्ट करती है और इस प्रकार उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण हो गया है। यहाँ तक तो ठीक है, पर हेमन्त से शिशिर तक पहुँचते-पहुँचते बिहारी का सूर्य इतना शीतल हो जाता है कि चकोरी उसे चन्द्र समझ कर एकटक देखती रह जाती है—

लगति सुभग सीतल किरनि निसिदिन सुख अवगाहि।
माह ससीभ्रम सूर ज्यौं, रहति चकोरी चाहि॥[5]

---

१ वही २९१
२ वही ४९४
३ वही ४८९
४ वही १७१
५ बिहारी सतसई

बिहारी ने बारहमासे के रूप मे तो प्रकृति का वर्णन नही किया फिर भी उस शैली पर उनके कुछ दोहे है अवश्य। बारहमासों में कवियो ने प्रकृति को प्रायः उद्दीपन-विभाव में ही लिया है। इनमें वियोगिनी की व्यथा के साथ परिवर्तित होते हुए समय का चित्रण भी इस ढंग से हुआ है कि व्यथा प्रति क्षण, प्रति दिन और प्रतिमास बढती हुई दीख पड़ती है और अवधि की प्रतीक्षा बडी बेकरारी से कराई गई है। प्रकृति के काल और रूपों को गति के साथ-साथ यह बेकरारी असह्य होती हुई इन्तजारी के एक-एक क्षण को ब्रह्मा का वर्ष बनाती रही है। प्रकृति के सुखद रूप भी इस समय दुःखद ही प्रतीत होते है—

> भो यह ऐसो ही समै, जहाँ सुखद दुख देत।
> चैत चाँद की चाँदनी, अग जग किए अचेत ॥[1]

अगहन का महीना सारे संसार को काम-वश कर देता है, कामदेव को धनुष सँभालना ही नहीं पडता—

> कियौ सबै जग काम-वस जीते जिते अजेय।
> कुसुमसरहि सर धनुष कर अगहन गहन न देय ॥[2]

पूस के महीने में सिर पड़े वियोग को दूर करने के लिये प्रियतम के जाते समय 'मलार' गाकर मेंह बरसाने की और इस प्रकार उसके गमन को स्थगित करा देने की योजना किस प्रकार क्रियान्वित हो रही है यह भी देख लीजिये—

> पूस मास सुनि सखिन मुख, साईं चलत सवार।
> लै कर बीन प्रवीन तिय, गायो राग मलार ॥[3]

अप्रस्तुत-विधान में बिहारी के प्रकृति-चित्रण का वर्णन अलङ्कारों की विवेचना करते समय किया जायेगा। कवि-समय-संबद्ध वस्तुओं का आश्रय उन्होंने बहुत अधिक नहीं लिया है। फिर भी कुछ दोहों में रात्रि में चकवा-चकवी का नियुक्त होना[4], चकोर का चन्द्रमा को देखते रहना और उसके अभाव में चिनगारियाँ चुनने आदि का उल्लेख हुआ है।

१ बिहारी सतसई ५१६
२ वही ४६२
३ वही १४६
४ वही ४८३

इस विवेचन से स्पष्ट है कि बिहारी का प्रकृति-वर्णन प्रायः उद्दीपन के रूप में है, उस युग में प्रचलित वैचित्र्य-प्रवृत्ति का भी उस पर छाप है, उन्मुक्त आलम्बन के रूप में प्रकृति को उन्होंने नही देखा फिर भी उनके प्रकृतिविषयक कतिपय सक्षिप्त चित्र बडे मार्मिक है ।

बिहारी और सेनापति

हम पीछे कह आये है कि 'रीतिपरम्परा के स्वतन्त्र कवियों में बिहारी और सेनापति प्रमुख है, प्रकृति के उद्दीपन चित्रों के अतिरिक्त कुछ स्वाभाविक चित्र भी इनकी रचनाओं में मिल जाते हैं, इसीलिये इनका प्रकृतिचित्रण रीतियुग के अन्य कवियों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण हैं। अतः उस पर तुलनात्मक दृष्टि से कुछ विचार कर लेना उपयुक्त जान पड़ता है ।

यह कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपने आदर्शों में बड़ा ही रूढिवादी रहा है। अन्यान्य विषयों की भाँति प्रकृति-चित्रण भी इस युग में रूढिग्रस्त रहा, इसलिये इस काल की कविता में प्रकृति के उन्मुक्त आलम्बन रूप की आशा करना व्यर्थ है। उसके उद्दीपन रूप ने ही परिस्थिति-वश इन कवियों को अधिक आकृष्ट किया। बिहारी और सेनापति के चित्रण में प्रकृति में यथार्थ चित्र दो रूपों में प्राप्त होते हैं—प्रभावात्मक और रूपात्मक। बिहारी की रुचि प्रभावात्मकता की ओर अधिक है और सेनापति की रूपात्मकता की ओर, अर्थात् बिहारी प्रकृति के किसी रूप या व्यापार के व्यापक अथवा एकाङ्गी प्रभाव को ध्वनित करते हैं तो सेनापति उसके अङ्गों का व्योरेवार चित्र देकर उसमें रंग भरने में दक्ष हैं। ग्रीष्मऋतु के भयङ्कर ताप का प्रभाव बिहारी ने इस प्रकार चित्रण किया है—

> कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ ।
> जगत तपोवन सों कियौ दीरघ दाघ निदाघ ।।

सूरज का तपना, पृथ्वी का तचना, पत्तों का न खरकना आदि का उल्लेख न कर बिहारी ने ग्रीष्म के भारी ताप का व्यापक प्रभाव विभिन्न प्राणियों के असाधारण सामान्य व्यापार द्वारा व्यञ्जित किया है पर सेनापति प्रकृति के रूप का चित्रण कर ताप का वर्णन करते हैं और उसकी तीव्रता का आभास लक्षणात्मक प्रयोगों की उपमा से देते हैं—

> वृष को तरनि तेज सहसौ किरन करि
> ज्वालन के जाल विकराल बरसत है ।

---

१ कवि रत्नाकर, तृ० त० ११

तचति धरनि, जग जरत झरनि सीरी
छाँह कौ पकरि पंथी पंछी बिरमत है।
सेनापति नैक दुपहरी के ढरत होत।
घमका विपम ज्यौ न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कौनौ
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है।।[१]

सेनापति के पवन के समान बिहारी की छाँह भी ताप से घबडाकर बन में और सदन में घुस बैठी है। वह भी छाँह की जरूरत महसूस करती है—

बैठि रही अति सघन-बन पैठि सदन-मन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौ चाहति छाँह।।[२]

दोनों ही कवियों ने प्रकृति को भावों की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रस्तुत किया है, विशेषत: विरह की स्थिति मे। इस प्रकार के वर्णन में प्रकृति का केवल उल्लेख करके कवि भाव की अभिव्यक्ति करता है, उसका ध्यान मुख्य रूप से उसी ओर होता है और वास्तव में ऐसे स्थलों पर प्रकृति का वर्णन नहीं के बराबर रहता है। बिहारी की वियोगिनी को पावस का प्रथम पयोद जगत् को जलाता हुआ दीख पड़ता है[3] तो सेनापति की प्रोषितपतिका का विरह पूस की पाला बरसाने वाली लम्बी-लम्बी रातों में बढ़ जाता है काम बल पकड़ने लगता है और अपना ही यौवन भी काबू से बाहर हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि बिहारी ने व्यथा के अतिशय की व्यञ्जना की है और सेनापति ने सबकुछ कह डाला है—

बरसै तुसार, बहै सीतल समीर नीर,
कंपमान उर क्यौंहू धीर न धरत है।
राति न सिराति, सरसाति बिथा विरह की
मदन अराति, जोर जोबन करत है।[४]

बिहारी और सेनापति ही नही, रीतियुग के सभी कवियों ने विरह-व्यथा का प्रसार प्रकृति की पृष्ठभूमि पर दिखाया है। सेनापति की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने भाव के आधार पर भी प्रकृति का एक आध चित्र दिया है। प्रकृति जिस भाव की पृष्ठभूमि पर आती है उसी

---

१ कवित्तरत्नाकर तृ० त०
२ बिहारी सतसई
३ वही, ५६४
४ कवित्तरत्नाकर, तृ० त० ४८

भाव की स्वयं भी व्यञ्जना करने लगती है, इस प्रकार प्रकृति का वह चित्र भाव के गहरे रंग में रँग जाता है और उसके साथ मानवीय भाव का पूरा-पूरा सामञ्जस्य हो जाता है। कवि अपने भाव और स्थिति को प्रकृति के माध्यम से ही समझता तथा व्यक्त करता है और इस स्तर पर वह अपने आप को भूल जाता है, फलतः प्रकृति का आलम्बन जैसा चित्र उपस्थित हो जाता है—

कातिक की राति थोरी-थोरी सियराति, सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के मन है।
फूले है कुमुद, फूली मालती, सघन वन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन है।
उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसौ जस अध अरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयौ सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन है॥[1]

उल्लास के आधार पर जमाये हुए प्रकृति के इस चित्र की विभिन्न वस्तुएँ स्वसम्बद्ध विशेषणों से उल्लास की ही व्यञ्जना करती हैं और मानो समस्त संसार को उससे सरावोर कर देती हैं। मानव और प्रकृति के हृदय का यहाँ तादात्म्य हो गया। बिहारी की रचना में प्रकृति का ऐसा चित्र तो नहीं मिलता, हां अनुभवों का चित्रण प्रकृति के माध्यम से उन्होंने अवश्य किया है—

छिनकु चलति ठठकति छिनकु, भुज प्रीतम गल डारि।
चढी अटा देखति घटा बिज्जुछटासी नारि॥[2]

नायिका के उल्लास के अनुभावों का चित्रण ही यहाँ पर हुआ है और लुप्तोपमा द्वारा प्रकृति का रूप भी समानान्तर व्यञ्जित हो गया है।

प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित करने का एक प्रकार उसको मानवीय रूप देकर उसमें मानव-व्यापारों का आरोप करना भी है जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। बिहारी और सेनापति दोनों ने इसका आश्रय लिया है। रीति परम्परा के अन्य कवियों के समान इनके भी आरोप स्थूलता और वैचित्र्य पर आधृत हैं। बिहारी ने ग्रीष्मऋतु को वियोगिनी नायिका का रूप दिया है—

---

१ कवित्तरत्नाकर तृ० त० ४०

२ बिहारी सतसई, ३८१

नाहिन ये पावक प्रबल, लुएँ चलति चहुँ पास ।
मानो विरह वसन्त के, ग्रीषम लेति उसास ।।[1]

सेनापति ने वियोगिनी की परिस्थिति को कुछ अधिक व्यापक चित्रित करते हुए शरद को वियोगिनी बनाया है—

परे तें तुसार भयो झार पतझार रहौ,
पीरी सब डार सो वियोग सरसति है ।
बोलत न पिक सोई मौन ह्वै रही है आस-
पास निरजास नैन नीर बरसति है ।।[2]

स्पष्ट है कि सेनापति के छन्द से साम्यभाव की अधिक प्रतीति होती है अतः वह उद्दीपन रूप में भी सौन्दर्य से रहित नही है । जहाँ कही बिहारी ने भी साम्य की अभिव्यक्ति पर पूरा ध्यान दिया है वहाँ उनका आरोप निःसन्देह बड़ा ही सुन्दर और मार्मिक है। थके हुए वायु बटोही का यह रूपक ऐसा ही है—

चुवत स्वेद मकरन्द-कन तरु-तरु तर बिरमाइ ।
आवत दच्छिन देस ते, थक्यो बटोही बाइ ।।[3]

वायु के कुञ्जर[4] और नवोढा[5] विषयक रूपक भी ऐसे ही है । बिहारी की प्रवृत्ति आरोपवाद की ओर अधिक है। उनके संक्षिप्त प्रकृति-वर्णन में अधिकांश दोहे आरोपयुत है और उनके स्वाभाविक प्रकृति-चित्र भी इसी के अन्तर्गत है ।

परम्परा के निर्वाह का आग्रह सेनापति में बहुत अधिक है यद्यपि बिहारी में भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। वसन्तान्तर्गत पलाशपुष्पों के सम्बन्ध में दोनो की ऊहा नैषधकार श्री हर्ष की कल्पना[6] के समकक्ष हैं। बिहारी का नूतन पथिक पलाश के कुसुमित वन को दावाग्नि समझता है तो सेनापति के मन में 'वियोगियों को जलाने के लिये काम द्वारा कोयले सुलगाये जाने' की बात आती है, पावस घटाओं से प्रसूत अन्धकार में रात और दिन की प्रतीति का उपाय चकवा-चकवी की स्थिति के अतिरिक्त बिहारी को कुछ नहीं दीख पड़ता तो सेनापति का जाड़े का दिन 'परस्पर मिलने के लिये

१ वही,
२ कवित्त रत्नाकर, तृ० त०, ५६
३ बिहारी सतसई ३६०
४ वही ३८८
५ वही ३६२
६ नैषधचरित प्रथम सर्ग

एक दूसरे की ओर बढ़ते हुए कोक दम्पति के आधे मार्ग को तै करते करते' ही समाप्त हो जाता है ।[१] विभिन्न ऋतुओं में समयोचित उपभोग-योग्य पदार्थों के आयोजन का सामन्ती ठाठ सेनापति ने खूब बाँधा है। ज्येष्ठ मास के नजदीक आते ही खसखाने सुधारे जाने और तहखाने झाड़े-बुहारे जाने लगते हैं, राजभोग के सारे साजों का सम्हारना सेनापति की रुचि के लिये आवश्यक सा हो उठा है—

जेठ नजिकाने सुधरत खसखाने, तल,
ताख तहखाने के सुधारि झारियत है।
होति है मरम्मति विविध जलजंत्रन की,
ऊँचे ऊँचे अटा, ते सुधा सुधारियत है ।।
सेनापति अतर, गुलाब, अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत हैं।
ग्रीषम के बासर बराइबे को सीरे सब,
राजभोग काज साज यों सम्हारियत हैं।[२]

ग्रीष्म ऋतु में राजा लोगों की दिनचर्या[३] और अगहन में प्रभु लोगों के विश्राम के प्रकार[४] सेनापति ने भलीभाँति गिनाये हैं। बिहारी की सबसे बड़ी खूबी यही है कि वे उस युग के इस गोरखधन्धे में न फँसे।

उक्ति-वैचित्र्य की ओर दोनों का झुकाव है, पर दोनों अपने भिन्न मूल आदर्शों की भूमि पर खड़े हैं। बिहारी रसवादी हैं और कला का चरमोत्कर्ष भाव की मनोरम अभिव्यक्ति में मानते हैं, सेनापति अलङ्कारवादी हैं और उक्ति की पराकाष्ठा वैचित्र्य में मानते हैं। बिहारी की चकोरी माह के महीने में सूरज को चन्द्रमा के भ्रम में देखती रह जाती हैं और सेनापति के लिये दिन की भी रात बन जाती है, दिन केवल सपने में दीखता है।[५]

बिहारी रूपक-प्रिय हैं, वे साम्य की स्थिर स्थापना कर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भेद को दूर कर दृढ़ता से कहते हैं। 'यह वह है', सेनापति उत्प्रेक्षा

१ कवित्त रत्नाकर, तृ० त०, १०
२ वही, १३-१४
३ वही, ४३
४ वही, तृ० त०
५ कवित्त रत्नाकर, तृ० त०, ५२

प्रिय हैं, वे सम्भावना करते हैं, कहते है 'यह वैसा जान पडता है।[1] सेनापति की अपेक्षा बिहारी में कल्पना का संयम है, जबानी जमा खर्च की उनकी कम आदत है। सेनापति के समान ग्रीष्म को वर्षा[2] या हिम ऋतु[3] के समान बनाने की चतुराई उन्होंने नहीं की और न ही शिशिर का शीत दूर करने के लिये वे नायिका को सब बसनों का समाज बना सके, ग्रीष्म में छहों ऋतुओं को राजमहलों में एकत्र करने की हिम्मत भी उनकी न हुई।[4] फिर भी कवित्व प्रतिभा के साथ-साथ सेनापति में प्रकृति का भी पर्याप्त निरीक्षण है। उनके वर्णनों में प्रकृति के स्वाभाविक चित्र भी हैं जिनमें शृङ्गार की भावना लिये-दिये रूप में ही है।

---

१ कवित्त रत्नाकर तृ० त० १६, ४१, ५२

२ वही, तृ० त० ५१

३ ,, प्र० त०, ८७

४ ,, तृ० त०

११—शैली और भाषा

यह कहा जा चुका है कि मुक्तककार को प्रबन्धकार की अपेक्षा कहने-सुनने का कुछ कम मौका मिलता है। रस की पूरी सामग्री, भावों का पूरा चक्र, वस्तु का अशेष बँधान, सब कुछ उसे एक ही छन्द में भरना होता है। यदि छन्द, संस्कृत के 'स्रग्धरा' या 'शार्दूलविक्रीडित' आदि अथवा हिन्दी के 'कवित्त' 'सवैया आदि जैसा लम्बा चौड़ा हो तो भी गनीमत है, पर जब छन्द भी आर्या, गाथा, अनुष्टुप्, दूहा या दोहा जैसा लघु हो जिसकी मुष्टि मूषिकाञ्जलिवत् सुपूरा हो, तब तो मुक्तककार की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। अतएव उसे बहुत सोच-समझ कर चलना पड़ता है, थोड़ा बहुत कथन से और बहुत-कुछ इशारे (व्यञ्जना) से प्रकट कर वह बचे-खुचे को श्रोता या पाठक की प्रतिभा के ऊपर छोड़ अपने कर्म का निर्वाह करता है। हिन्दी-साहित्य में जितना प्रचलन दोहे का हुआ है उतना किसी अन्य छन्द का नहीं। इसका कारण यह है कि इसका जोड़ लेना बड़ा सरल है, तभी तो नाथपंथियों और निर्गुनिये कवियों ने, जिनकी पढ़ाई-लिखाई के क्षेत्र में अधिक पहुँच न थी, अपनी नीति और उपदेशगर्भित उक्तियों को इसी के आवरण में रखा। संस्कृत के अनुष्टुप् छन्द का भी यही हाल है। कण्ठ रखने की सुविधा के लिए, धर्मशास्त्र, नीति, वैद्यक, ज्योतिष्, इतिहास, पुराण आदि सभी विषयों के विवेचन और वर्णन के निमित्त अनुष्टुप् छन्द का ही अधिकतर प्रयोग किया गया। दोहा और अनुष्टुप् छन्दों का जोड़ लेना सरल अवश्य है, पर उसमें 'कविता' करना उतना ही कठिन है। जिस प्रकार संस्कृत के छन्दः शास्त्रियों ने अनुष्टुप् के अनेक भेद किये हैं उसी प्रकार हिन्दी में दोहे के भी अनेक भेद हैं, फिर मात्राओं के सामञ्जस्य, द्विकल, त्रिकल, भाव आदि के अनुसरण से दोहे की रचना और भी कठिन हो जाती है।

अपनी रचना के लिये बिहारी ने इस ४८ मात्राओं के छोटे से छन्द को अपनाने का साहस किया वह भाषा पर अपने असाधारण अधिकार के ऊपर ही। इसी के कारण वे जहाँ एक ओर पिङ्गल-नियमों का अक्षरशः निर्वाह करने में समर्थ हुए वहाँ दूसरी ओर 'गागर में सागर' भी भर सके। जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समासशक्ति

जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी मे पूर्णरूप से वर्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे से छन्द में इतना रस भर सके है। इनके दोहे क्या है रस के छोटे-छोटे छीटे है।'[१] दोहे की सामासिकता को देखते हुए ही रहीम ने कहा है—

दरिघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं ॥[२]

दोहे में अक्षरों को ही नही समेटना पड़ता अर्थ को भी समेट कर प्रसार के स्थान में घनत्व की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है तभी तो 'दीरघ अरथ' उसके थोरे से आखरों' में समा सकता है और जिस प्रकार नट कुण्डली में से कूदकर पार हो जनमन का अनुरंजन करता है उसी प्रकार गिने चुने अक्षरों के संकीर्ण घेरे में से पार होकर सहृदयों के हृदय तक पहुँच सकता है। बिहारी के दोहों के इन्हीं गुणों को देखकर किसी ने उन्हे नलकी में से छोड़े हुए तीरों के समान गहरे पैठने वाले कहा है:—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगै घाव करै गम्भीर ॥

बिहारी के परवर्ती कवियों और पद्यात्मक टीकाकारों ने उनके भाव को लेकर दोहा ही नही बड़े-बड़े छन्दों में भी—अपने मुक्तकों में भरने की चेष्टा की है किन्तु बड़े समारम्भ के साथ प्रारम्भ करने पर भी वे अन्त में गणेश का निर्माण करते हुए बन्दर बनाने में ही सफल हुए। उदाहरण लीजिए:—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुरचित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई नई यह रीति।[3] (बिहारी)

बिहारी के इस दोहे का भाव अभिव्यक्त करने के लिये रसनिधि को दो दोहे रचने पड़े—

उरझत दृग बँधि जात मन कहौ कौन यह रीति।
प्रेम-नगर में आइकै देखी बड़ी अनीति।
अद्भुत गति यह प्रेम की लखौ सनेही आय।
जुरै कहूँ टूटै कहूँ, कहूँ गाँठि परि जाय ॥

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, (आ० रामचन्द्र शुक्ल) पृ० २४७
२ रहीम दोहावली ६६
३ बिहारी सतसई, ३६२

कहने की आवश्यकता नही कि दूने अक्षर खर्च करके भी रसनिधि 'भाव' की मौलिक प्रभविष्णुता की रक्षा नही कर पाये है। 'कुटुम के टूटने' 'प्रीति के जुडने' और 'दुर्जन के हृदय में गाँठ पडने' की बात 'जुरै कहूं टूटै कहूं कहूँ गाँठि परि जाय' से स्पष्ट नही होती। ऐसे व्यक्ति के लिये जो बिहारी के उक्त दोहे से अनभिज्ञ है, ये दोहे पहेली ही बन जायेंगें, वह शायद ही इन्हें समझ सके। स्पष्ट है कि भाषा की समाहार शक्ति जैसी बिहारी के बाँटे पड़ी वैसी अन्य कम ही कवियों ने पाई है। शब्द-मुक्ताओं को उन्होंने दोहा-सूत्र मे यथास्थान इस ढंग से गूँथा है कि प्रत्येक का व्यक्तिगत मूल्य सामूहिक मूल्य में कई गुनी वृद्धि कर देता है। यदि बीच में से एक भी शब्द निकाल दिया जाय तो सारी माला बिखर जायेगी। जैसे जैसे उसे गौर से देखा जाता है वैसे वैसे ही उसकी बहुमूल्यता का रहस्य खुलता जाता है:—

ज्यों ज्यों निरखत सूक्ष्मगति, मोल रहीम बिसाल ॥[1]

एक और उदाहरण लीजिये—

पाँय महावर देन कौ नायनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मीडंति जाइ ॥[2]

बिहारी के इस दोहे का भाव रसिकेश जी ने इस प्रकार पल्लवित किया है—

नायनि पायन जावक दैन को, प्रानपिया ढिग आई उतावरी।
लाड़िली के ढिंग बैठि हरे, सुखसों पद-कंज गहे सुचिभाव री ॥
लै नवला-पग कौं कर पै अरुसे 'रसिकेस' न भेद लखाव री।
लाली विलोकि थकी थिर ह्वै, तिय एड़ियँ मींजति डारि महावरी ॥

अन्तर केवल इतना है कि 'रसिकेश' जी की नायन 'उतावली' है। उसके भ्रम का कुछ न कुछ उत्तरदायित्व उतावलेपन पर है ही, किन्तु बिहारी की नायन अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग है और सतर्क है कि कहीं कुछ गलती न हो जाय। बार-बार सोच समझ कर काम करने पर भी वह वही गलती कर जाती है जिससे दूर रहना चाहती है। इसी में नायिका की एडियों की लालिमा का उत्कर्ष निहित है बिहारी के भावों को उनके परवर्ती कवियों ने कहाँ तक अपनाया इस विषय की चर्चा आगे की जायेगी।

इम्पीरियल गजटियर में बिहारी के दोहों के विषय में लिखा है:—

Surdas had many succesors, the most famous of whom was Beharılal of Jaipur, whose Satsaiya, or colle-

१ रहीम दोहावली, २४१
२ बिहारी सतसई ३५

ction of seven hundred detached verses is one of the daintiest pieces of art in any Indian Language. Bound by the rules of metre each verse had a limit of fortysix Syllables; and generally contained less. Nevertheless each was a complete picture in itself, a miniature description of a mood or a phase of nature, in which every touch of the brush is exactly the needed one, and not one is superfluous. The successive compression necessitated renders the poems extremely difficult and he has been aptly named 'The mine of the commentators.'

बिहारी के दोहों में ठूँस-ठूँस कर भरे हुए भाव जैसे परवर्ती कवियों के छन्दों में पानी पर गिरी हुई तेल की बूंद के समान फैले उसी प्रकार पूर्ववर्ती कवियों के लम्बे भाव भी सर्प के समान कुण्डली लगाकर दोहे की छोटी सी पिटारी में घुस बैठे—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिल: काल: किमारभ्यते।
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ॥
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना।
नीचै: शंस हृदिस्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर: श्रोष्यति ॥ (अमरुक शतक)

अमरुक की मुग्धा नायिका सखी की यह सीख पाकर कि "तू कब तक मुग्धा ही बनी रहेगी, जरा मान करना भी तो सीख" डरती हुई सी उसे उत्तर देती है। धीरे से कह, कहीं मेरे हृदय में स्थित प्रियतम सुन न लें। बिहारी की नायिका मुख से कुछ न कहकर केवल भौह के संकेत से मना करती है। बात कितने ही धीरे से कही जाय हृदय में बैठा हुआ, उसे सुन ही लेगा पर आँखों के इशारे को नही देख सकता। इसका यह अर्थ नही कि बिहारी की नायिका अपने प्रिय से दुराव रखती है, वह इसी लिये मना करती है कि उसके प्रियतम को कोई कष्ट न हो—

सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजति बाल
हरुये कहि मो हिय वसत सदा बिहारीलाल [१]

बिहारी की शैली के ढाँचे को छोड़ कर उसका आन्तरिक विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि वर्ण्य-विषय के अनुकूल ही उन्होंने अपनी शैली में

१लाल चन्द्रिका ७१३

भी स्पन्दन भरा है। यों तो किसी बात को कहने के न जाने कितने ढँग उन्हे आते थे, फिर भी मोटे रूप से उनकी शैली को हम निम्नलिखित रूपों में देखते है—

१—व्यंजना-प्रधान अलंकृत शैली

रूप-वर्णन, क्रियाविदग्धा अथवा वाग्विदग्धाओं के वर्णन और भावों की गम्भीरता में बिहारी ने व्यञ्जना-प्रधान अलंकृत शैली का आश्रय लिया है। बिहारी की यह शैली उनकी प्रतिनिधि शैली कही जा सकती है। इसमे काव्य का कलापक्ष भावपक्ष के साथ पूरी-पूरी तरह समन्वित हो गया है। रूपक, उपमा आदि साम्यमूलक और विरोध तथा असंगति जैसे वैषम्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग इस शैली मे स्वतः हो गया है, अतः अलंकृत होने पर भी इसमें स्वाभाविकता है। प्रयत्न-प्रसूत शैली से यह सर्वथा भिन्न है—

अघन कुंज घन-घन तिमिर अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरिहै स्याम वह दीपसिखा सी जाति ॥[1] (रूपवर्णन)

निरखि नवोढ़ा नारितन, छुटन लरिकई लेस।
भौ प्यारौ प्रीतम तियन, मनहु चलत परदेस ॥[2] (वयः सन्धि)

लखि गुरुजनबिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी, हियैं लगाई बाम ॥[3] (क्रिया-विदग्धा)

छुटत मुठिनु सँग ही छुटी, लोक-लाज, कुल-चाल।
लगे दुहुन इक बेर ही चलचित नैंन गुलाल ॥ (अनुराग)

२—व्यंजना-प्रधान अनलंकृत शैली

बिहारी के दोहों में पर्याप्त संख्या ऐसे दोहों की भी मिलती है जिनमें वर्ण्य-विषय का ऐसे सीधे-साधे किन्तु सरस और मर्मस्पर्शी ढंग से वर्णन किया गया है जिससे भाव की पूर्ण-अनुभूति हो जाती है और वस्तु का सजीव-चित्र सामने आ जाता है। अलङ्कार वादियो को इन उक्तियों में भी 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार की छटा दीख पड़ सकती है किन्तु ऐसी उक्तियों का सौन्दर्य उनके व्यङ्ग्य में ही निहित है। अपनी काव्यपरिभाषा में मम्मट ने जो 'अनलंकृती' शब्द अर्थ को भी काव्य माना है उसी के क्षेत्र में ये सरस सरल दोहे आते हैं—

१ बिहारी सतसई २९९
२ वही २९६
३ वही ३४
४ वही २५१

गोरी गदकारी परै हँसत, कपोलन गाड़।
कैसी लखति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़ ।।[१]

इस सीधी-साधी उक्ति से सुनकिरवा की आड़ से सुशोभित ग्रामीणा के हँसने में कपोल का गढा तो स्पष्ट दीख पड़ता ही है, रूप के अनिर्वचनीय प्रभाव से अभिभूत होने के कारण हृदय की विस्मयजन्य जड़ता भी साफ व्यञ्जित होती है। ग्राम की सरल प्रकृति युवति के वर्णन के लिये ऐसी ही शैली उपयुक्त भी है। बिहारी जिस प्रकार प्रौढ अलंकृत शैली में भावाभिव्यञ्जन करने मे दक्ष थे बोलचाल की सामान्य भाषा में भी उससे कम न थे इस प्रकार की शैली अपनी चमक-दमक के आकर्षण से पाठक के हृदय को उलझाना पसन्द नही करती, अपितु गम्य वस्तु, रस, भाव तक जाने मे सहायता प्रदान करती है—

कौन सुनै, कासौ कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत है, ए बदरा बदराह ।।[२]

इस दोहे में दैन्य 'चिन्ता' स्मृति और मति भाव तक पहुँचने मे कोई रुकावट नहीं आती। 'बदरा बदराह' के यमक का आवरण—भाषा का स्वरूप—मजबूत होते हुए भी इतना पारदर्शी है कि शीशे की आलमारियों में रखी हुई प्रदर्शनीय वस्तुओं की भाँति भाव उसमें से झाँक-झाँक कर नहीं बल्कि मौज में बैठे हुए ही मन को खींच लेते है। 'सुरति बिसारी नाह' ऊपर से तो नायक की नायिका-विषयक विस्मृति को कह रहा है परन्तु उसका हृदय टटोलने पर नायिका की नायक-विषयक स्मृति ही प्रधान दीख पड़ती है जो उपालम्भ की भावना से अनुप्राणित है। 'कौन सुनै ? कासौ कहौं'' मे दैन्य और चिन्ता तो हैं ही परन्तु 'सुनि अठिलैहै लोग सब बाँट न लैहै कोय' के अनुसार अपनी व्यथा को अपने आप में ही सहने के प्रति जागरूकता भी उतनी ही प्रबल दीख पड़ती है।

३—कल्पना-प्रधान ऊहात्मक शैली

इस शैली में कवि की कल्पना ने इतनी ऊँची उड़ान भरी है कि सहृदय का हृदय उपयुक्त सम्बल का अभाव होने के कारण उसके साथ सामञ्जस्य नहीं रख सकता। दूर की कौड़ी लाने के लोभ में भावरत्नों की पूरी उपेक्षा की गई है और हृदय में गम्भीर घाव करने वाले तीर से आँखें चुँधियाने का ही काम लिया गया है—

---

१ बिहारी सतसई ७०६
२ वही ६३

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पूनो ही रहै आनन ओप उजास।।
पलनु प्रकटि, बरुनीनु बढ़ि नहिं कपोल ठहराति।
अँसुवा परि छतियाँ छिनकु छनछनाइ छिपि जाति।।
आड़े कै आले वसन जाड़े हू की राति।
साहस कैकै नेह बस सखी सबै ढिग जाति।।
सुनत पथिक-मुँह माह-निसि लुवैं चलति उहि ग्राम।
बिनु बूझै बिनुही कहैं जियति बिचारी बाम।।[1]

आदि उक्तियाँ ऐसी ही है। सौन्दर्य, विरह आदि भावों के प्रभावाभिव्यञ्जन के स्थान मे जहाँ उनकी नाप-जोख करने के इन्तजाम किये गये है—बड़े-बड़े बँधान बाँधे गये है—वही ऐसी खलबली मची है जिसमें भाव चुपके से खिसक कर जाते रहे है। अच्छा ही हुआ बिहारी ने इस शैली का अधिक आश्रय नही लिया। उस युग के प्रतिनिधि कवि का इस प्रबल प्रवृत्ति की भी बानगी प्रस्तुत करना आवश्यक ही था।

४—सूक्तिकार की वक्र-कथन शैली

बिहारी के दोहों में जिस प्रकार प्रसादगुण 'सर्वत्र विहितस्थितिः' (सब जगह स्थित रहता है) के अनुसार सब स्थलों पर मिलता है उसी प्रकार वक्रकथन अथवा वाग्वैदग्ध्य भी सर्वत्र लक्षितव्य है। वाग्विदग्धता की दृष्टि से उनकी रचना किसी भी कवि की रचना के समकक्ष रखी जा सकती है। इस दृष्टि से उनकी सूक्तियाँ भी रहीम और वृन्द की सूक्तियों की टक्कर की हैं। इनकी वाणी स्वाभाविक है पर अपने वैचित्र्य के कारण बड़ी ही आकर्षक भी है। दो-एक स्थानों को अपवाद स्वरूप छोड़कर बिहारी की शैली कहीं भी प्रयत्न-प्रसूत नहीं है। उसमें क्लिष्ट कल्पना का आश्रय प्रायः नहीं लिया गया है। उक्ति में बाँकपन लाने के लिए उन्होंने विरोध का अधिक आश्रय लिया है। श्लेष, मुहावरों के प्रयोग और शब्दक्रीडा को भी साधन बनाया गया है—

या अनुरानी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं-त्यौं उज्जल होइ।।[2] (विरोध)
लाज गहौ बेकाज कत, घेरि रहे घर जाहिं।
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहिं।।[3] (श्लेष, विरोध)

---

१ बिहारी सतसई ७२
२ वही १२१
३ वही ११७

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझै बोलति नीठि ।
कहूँ डीठि लागी, लगी, कै काहू की डीठि ॥[1] (मुहावरे)

जब-जब वै सुधि कीजियै, तब-तब सब सुधि जाँहि ।
आँखिन आँख लगी रहै, आँखें लागत नाँहि ॥[2]

वास्तव में बिहारी की शैली की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसके चमत्कार पूर्ण होने में ही निहित है । कविकण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र ने दस प्रकार के काव्यगत चमत्कार का उल्लेख किया है जो बिहारी में अविकल रूप से प्राप्त होते है । स्थानाभाव के कारण यहाँ संक्षेप में ही उनका निदर्शन किया जाता है ।

१—अविचारित रमणीय

इस प्रकार का चमत्कार पाठक को सहसा ही चमत्कृत कर देता है उसे किसी प्रकार का बौद्धिक आयास नहीं करना पड़ता—

याके हिय औरै कछू लगी विरह की लाइ ।
पजरै नीर गुलाब कैं पिय की बात बुझाइ ॥

गुलाब के नीर से भडकने वाली और प्रियतम की बात (संदेश; वायु) से शान्त होने वाली अग्नि का उल्लेख-मात्र ही चमत्कार के अनुभव के लिये पर्याप्त है ।

२—विचार्यमाण रमणीय

जहाँ चमत्कार की प्रतीति अनायास ही नहीं होती अपितु ज्यों ज्यों बौद्धिक व्यापार द्वारा उक्ति में गम्भीर से गम्भीरतम पैठ होती जाती है त्यों त्यों रमणीयता का उद्घाटन होता जाता है वहाँ विचार्यमाण रमणीय चमत्कार की सत्ता स्वीकार की गई है जैसे—

बालमु बारें सौति के सुनि परनारि-बिहार ।
भो रस अनरस रिस रली रीझ खीझ इक बार ॥

३—सम्पूर्ण सूक्त काव्य

उस स्थान पर होता है जहाँ चमत्कार पद्य में आद्यन्तव्यापी होता है जैसे—

भौहनु त्रासत मुँह नटत आँखिन सौं लपटाति ।
ऐंचि छुटावत करु इंची आगैं आवत जाति ॥ ६८२ ॥

---

१ वही ६२५
वही ६२

४—सूक्तेकदेश

मे चमत्कार सर्वत्र न होकर पद्य के किसी अंशमात्र में रहता है यथा—

रह्यौ चकित चहुँधा चितै, चित मेरौ मति भूलि।
सूर उपै आए रही, दृगनु साँझ सी फूलि ॥६००॥

इस दोहे में पूर्वार्ध में चमत्कार नही है और उत्तरार्ध चमत्कारी है।

५—शब्द-चमत्कार

भजन कह्यौ तातैं भज्यौ भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गंवार ॥३७०॥

६—अर्थ चमत्कार

अलि इन लोइन सरनु कौ, खरौ विषम संचारु।
लगैं लगाएँ एक से, दुहुँन करत सुमारु ॥४४८॥

साधारण बाण जिसके लगता है उसी को कष्ट देता है स्वयं बाण छोड़ने वाला पीड़ित नहीं होता किन्तु नेत्रबाणों द्वारा आघात करने वाला तथा आहत दोनों ही समान रूप से पीडित होते हैं। इनकी यह विषमता सचमुच चमत्कारिणी है। यहाँ चमत्कार शब्दों में नहीं अर्थ में है।

शब्दार्थोभयगत

जदपि नाहिं नाहीं नहीं, बदन लगी जक जाति।
तदपि भौंह हाँसी भरिन हाँसी पै ठहराति ॥३२३॥

यहाँ 'नहीं नहीं' की रट के साथ भौंहों की हँसी नहीं का अर्थ 'हाँ' कर देती है साथ ही न का अनुप्रास तथा 'हाँसी' हाँसी का यमक शब्द चमत्कार उत्पन्न करता है।

अलंकारगत

यथा उपर्युक्त विरोध, श्लेष आदि से युक्त उदाहरणों में अथवा—

बाढत तो उर उरज-भरु, भरि तरुनई-विकास।
बोझन सौतिन कैं हियैं, आवत रुँधि उसाँस ॥४४८॥

यहाँ कार्य कारण के भिन्न स्थानों पह स्थित रहने में चमत्कार है जो असंगति अलंकार का आधायक है।

रसगत चमत्मकार

चलत घैरु घर घर तऊ, घरी न घर ठहराइ।
समुझि उहीं घर कौं चलै, भूलि उहीं घर जाइ ॥४५८॥

यहाँ शृङ्गार के सञ्चारी 'मोह' की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति है तथा 'घ' के अनुप्रास मे शब्द चमत्कार भी वर्त्तमान है ।

प्रख्यात वृत्तिगत

समरस-समर-सकोच बस विवस न ठिक ठहराइ ।
फिरि फिरि उझकति फिर दुरति, दुरि दुरि उझकति जाइ ॥५२४॥

यहाँ समरस-समर-संकोच बस में समासगत और दोहे के उत्तरार्ध में रसगत चमत्कार है ।

इस प्रकार चमत्कार-विधान के विविध रूपों का समावेश कर बिहारी ने अपनी शैली को न केवल आकर्षक, प्रौढ तथा भावानुकूल ही बनाया अपितु शैलीकारों में एक विशिष्ट स्थान भी प्राप्त किया । उनकी जैसी सजीवता बिरले ही कवियों को प्राप्त हो सकी है । व्यक्तित्व की पूरी-पूरी छाप—रसिकता और जिन्दादिली का अविकल प्रतिबिम्ब—उसमें उभर उठा है ।

काव्यभाषा और माधुर्य

काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए आचार्य मम्मट ने 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' का विवेचन 'सूचीकटाह' न्याय से सबके बाद में किया है ।[1] हमारे चरितनायक बिहारी ने 'अली कली सों ही बँध्यौ' के द्वारा जयशाह को कान्ता के प्रणयपाश से भी मुक्त करके काव्य का महत्त्व उससे भी ऊपर सिद्ध कर दिया । कान्तासम्मितोपदेश की सफलता का मूल उसके माधुर्य में है जो 'उपदिशति यौवनमेव कान्तानां ललितानि'[2] के अनुसार स्वतः सिद्ध है । यद्यपि 'रसस्यैवैते गुणा न वर्णानाम्'[3] के अनुसार भाषा को मधुर मानना समीचीन प्रतीत नही होता तथापि औपचारिक रूप से उसके लिये मधुर शब्द का प्रयोग होता ही आया है । मम्मट के उक्त काव्य प्रयोजन में काव्यभाषा का माधुर्य भी अन्तर्हित है । काव्य में इस गुण का महत्त्व इससे भी प्रकट है कि आचार्यों ने गुणों की गणना में इसे प्रथम स्थान दिया है ।[4] साहित्य-शास्त्री ही नही सामान्य सहृदय भी मधुर भाषा की कद्र करते हैं । वस्तुत भाषा के माधुर्य के सच्चे परीक्षक तो सहृदय सामाजिक ही होते हैं साहित्यिक तो उन्हीं की धारणा के आधार पर सर्टीफिकेट देते हैं । 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' से सम्बन्धित दन्तकथा

---

१ काव्य प्रकाश १-२
२ वही
३ वही समुल्लास ८
४ माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते (काव्य प्रकाश)

भी भाषा के माधुर्य पर ही बल देती है। हमारे विचार से तो वृक्ष की शुष्कता जैसी पहले वाक्य से ध्वनित होती है वैसी दूसरे से नही। सूखेपन का बोध कराने मे नीरस शब्द की अपेक्षा निःसशय शुष्क शब्द अधिक उपयुक्त है। क्योंकि उससे रस के सर्वथा अभाव और कड़ेपन का बोध होता है परन्तु नीरस (निर्गतो रसो यस्मात्) शब्द रस का निकल जाना तो बताता है पर उसके सर्वथा अभाव का सूचक नहीं। फिर सूखा वृक्ष क्या खाक विलसित होगा ! उसमें स्पन्दन तक की सम्भावना नहीं। उसके लिये तो गतिनिवृत्त्यर्थक 'स्था' धातु के 'तिष्ठति' रूप का ही प्रयोग समुचित है। हाँ, 'नीरस' के साथ 'विलसति' शब्द का प्रयोग खटकने वाला नहो क्योंकि नीरस का विलसति होना असम्भव नहीं कठिन चाहे हो। तात्पर्य यह है कि सब कुछ मिलाकर 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' वाक्य खड़े हुये सूखे वृक्ष का ऐसा हूबहू चित्र नहीं खीच सकता जैसा 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और काव्य में अर्थग्रहण से काम नही चलता बिम्बग्रहण चाहिये।[1] अतएव नीरस होने पर भी 'शुष्को वृक्ष' वाला वाक्य वर्ण्यविषय के सर्वथा अनुकूल है किन्तु 'नीरस' को आत्मसात् करने पर भी सरस प्रतीत होने वाला दूसरा वाक्य माधुर्य के कारण मन को बलात् आकृष्ट कर लेता है। 'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध-शतायते,' 'जयदेव' के 'पीयूषवर्षित्व' और विद्यापति के मैथिलकोकिलत्व' में उनकी भाषा की मधुरिमा का बड़ा भारी योग है।

भारतीय आचार्यो ने भाषा के माधुर्य को बड़ा महत्त्व दिया है। मराठी के प्रसिद्ध लेखक 'चिपलूणकर' का कथन है:—

इसके सिवा जो और रह गई अर्थात् पद-लालित्य, मृदुता, मधुरता इत्यादि, सो सब प्रकार से गौण ही है। ये सब काव्य की शोभा निःसन्देह बढ़ाती हैं, पर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि काव्य की शोभा इन्हीं पर है।······उक्त गुणों को अप्रधान कहने में हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि काव्य के लिये उनकी आवश्यकता नहीं हैं।···· सत्काव्य से यदि उनका संयोग हो जाय, तो उसकी रमणीयता को वे बढ़ा देते हैं।······सर्व-साधारण के मनोरञ्जनार्थ रत्न को जैसे कुन्दन में खचित करना पड़ता है, वैसे ही काव्य को उक्त गुणों से अवश्य अलंकृत करना चाहिये।"[2]

पाश्चात्य विद्वानों का भी यही मत है। टेनीसन के अनुसार—
All the charms of all the muses often flowing in a lovely word."

१ देखिये, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध

२ निबन्धमालादर्श पृ० ३१-३२ और ३५

हेजलिट् का कथन है:—

The ear indeed predominates over the eye, because it is more immediately affected and because the language of music blends more immediately with, and forms a more natural accompaniment to, the variable and indefinite associations of ideas conveyed by words.[1]

महाकवि पोप के अनुसार शब्दो की ध्वनि भाव की प्रतिध्वनि होनी चाहिये।[2] काव्य मे माधुर्य दो कारणों से आ सकता है—भाषा के सहज मधुर होने के कारण और कवि के मधुर पदो के चयन के प्रति आग्रह होने के कारण। अपने सहज माधुर्य के कारण ही ब्रजभाषा १२वी शताब्दी के आसपास ही साधु-सन्तों और संगीतज्ञों द्वारा अपना ली गई थी। खुसरो ने भी इस भाषा मे कुछ गीत लिखे। कबीर आदि सन्त कवियों की खिचड़ी भाषा मे भी ब्रज का बहुत अधिक योग रहा और धीरे-धीरे ब्रजभाषा का महत्व बढता गया। 'जो भाषा साहित्य की भाषा बनकर बोलचाल की भाषा से कुछ अलग अलग बड़ी ठसक से चल रही थी वह ब्रजमण्डल की चलती हुई भाषा के प्रवाह में डुबाई गई जिससे उसमें नया जीवन आ गया, वह निखर कर जीती जागती भाषा के मेल मे हो गई।[3] इस सन्धिस्थल पर जिस भाषा का काव्यभाषा के रूप में ग्रहण हुआ वह 'अर्ध तित्तिरस्यार्ध कुक्कुट्या:' वाली कहावत को चरितार्थ कर रही थी क्योंकि परम्परागत प्राकृत पदों का भी प्रयोग उसमें बराबर होता चला आ रहा था। ब्रजभाषा के कुछ आगे-पीछे ही अवधी ने भी साहित्य के क्षेत्र में अपना मार्ग बनाना आरम्भ किया। कबीर आदि सन्त कवियों की भाषा में ब्रज का पुट होने पर भी पूर्वी छाप अधिक है। उन्होने 'मेरी बोली पूरवी' कहकर स्पष्ट ही इसे स्वीकार किया है। अवध प्रदेश में मुसलमानों के बसने के पश्चात् तो अवधी की गति में और भी तीव्रता आई। मुसलमान शासकों की यह नीति रही कि शासितवर्ग से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उसकी भाषा को अपना कर प्रोत्साहन दिया जाय। विक्रम की १५वीं शती के मध्य में 'सहसराम' के जागीरदार हुसेनशाह के

1 Lectures on the English Poets, Hazlitt.

2 It is not enough no harshness gives offence. The sound must seem an echo to the sense. (Essay on criticism by Pope.)

३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बुद्ध चरित की भूमिका, पृष्ठ १५

आश्रित कुतबन कवि ने 'मृगावती' की रचना की। इसी हुसेनशाह का पुत्र फरीद खाँ जब शेरशाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर आसीन था उस समय मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना प्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'पद्मावत' लिखा।

ब्रजभाषा का महत्त्व

इस प्रकार ब्रज और अवधी दोनों ही भाषाएँ कुछ कदम आगे पीछे विकास की ओर अग्रसर हो रही थीं। इधर सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के हाथ में पड़कर ब्रजभाषा का परिष्कार हो गया जिन्होंने उसे साहित्यिक रूप प्राप्त करने में बड़ा भारी योग दिया। सूरदास ने अपने इष्टदेव की लीलाओं का गान उसी की विहार-भूमि ब्रज की भाषा में किया। उनकी भाषा पर प्रकाश डालते हुए डा० हरवंशलाल शर्मा लिखते हैं—"सूरदास ने अपने काव्य के लिये अपने इष्टदेव की विहार भूमि ब्रज की ही भाषा को अपनाया, उनकी रचना में हमें ब्रजभाषा का जो परिनिष्ठित और साहित्यिक रूप मिलता है, उसको देखकर ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्रजभाषा शताब्दियों तक काव्य की भाषा रही होगी। सूर ने तो उसे सुसंस्कृत बनाकर साहित्यिक रूप दिया होगा"[1] श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत है कि 'सूरदास जी की भाषा भी शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है। उसे चलती भाषा या सामान्य काव्य-भाषा मानना चाहिये।" इस विषय में हमारा नम्र निवेदन यह है कि काव्य की भाषा का बोलचाल की भाषा से अलग होना तो रोका जा नहीं सकता। वह तो स्वाभाविक ही है। जनभाषा के कतिपय अतिप्रचलित या घिसे हुए अप्रचलित भद्दे प्रयोगों के बहिष्कार और पास-पड़ौस के घुले-मिले व्यवहृत प्रयोगों के स्वीकार से उसकी विशुद्धता में कोई अन्तर नहीं आता। यह तो उसका परिमार्जन ही कहा जायेगा। हाँ, अन्य भाषाओं के व्याकरणादि का प्रभाव अवश्य ही संकरता का कारण होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द मिश्र जी की धारणा के ठीक विपरीत पड़ते हैं—

"ऐसे महाकवि के हाथ में पड़कर अवधी भाषा पूर्व से पश्चिम तक ऐसी गूँजी कि काव्य की सामान्य भाषा ने अष्टछाप के कवियों द्वारा ब्रज का जो विशुद्ध रूप पाया था उसमें बाधा पड़ने का सामान हुआ·········धीरे-धीरे ब्रजभाषा की विशुद्धता की ओर बहुत से कवियों का ध्यान नहीं रहा।

१ सूर और उनका साहित्य, प्रथम सं० पृष्ठ ४४८

२ बिहारी की वाग्विभूति, तृतीय सं० पृष्ठ १५२

और वे ब्रजभाषा की कविता में भी अवधी के शब्दों और रूपों का मनमाना व्यवहार करने लगे[1]।

यह आश्चर्य की बात है कि गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवि द्वारा परिष्कृत होने पर भी अवधी भाषा साहित्य के क्षेत्र मे ब्रजभाषा का मुकाबला न कर सकी। कदाचित् रामचरितमानस के पश्चात् इस भापा में कोई विशेष उल्लेखनीय काव्य भी प्रणीत नहीं हुआ। तुलसी के पश्चात् की रामकथा विषयक रचनाएँ भी प्राय: ब्रजभाषा में ही हुईं। इसका कारण कदाचित् यह था कि भक्तिकालीन कवियों ने किसी सम्राट्, राजा, नवाब, सामन्त या संपन्न व्यक्ति के आश्रय में उनकी रुचि के अनुसार तो कविता लिखी नहीं अपितु अपने आराध्य के चरणों में स्वकीय विकसित भाव-सुमन उसी की केलिभूमि में प्रवहमान भाषा-सुरधुनी के पावन जल से सिक्त कर अर्पित किये। उन्हें न ऊधो से कुछ लेना था न माधो को कुछ देना, न सीकरी से कुछ काम था और न दिल्ली से सरोकार। अपने इष्टदेव के मन्दिर में बैठकर उन्होंने स्वान्त:सुखाय सरस्वती की आराधना की और अपनी भारती पर सिर धुन कर पछताने की नौबत न आने दी, किन्तु उनके उत्तराधिकारी समय की महिमा के कारण ऐहिकता को ही प्रमुख मान बैठे। उन्होंने अपनी प्रतिभा विहँगी को दरबारी स्वर्ण-पञ्जर की वन्दिनी बना दिया जिससे उसकी उन्मुक्त गगन में विहार करने की शक्ति जाती रही। दरबारों में जो कुछ देखा सुना वही उन्होंने दुहराया और 'स्व' की अपेक्षा आश्रयदाताओं की भद्दी रुचि का ही ध्यान अधिक रखा। जहाँगीर और शाहजहाँ के युग में दिल्ली दरबार इन्द्र का अखाड़ा बन गया था और उनके मुसाहिब भी उसका अनुकरण करने लगे थे। इस प्रदेश में काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का ही प्रचलन था अतएव उसी में काव्य-सृष्टि स्वाभाविक थी, दूसरे कृष्णभक्त कवियों की इस भाषा में मौजूद सफल शृङ्गारिक रचनाओं से भी इन कवियों को विशेष प्रेरणा मिली। ब्रजभापा के प्रमुख काव्य-भाषा बनने का तीसरा कारण उसकी अपनी विशेषता थी।

'साँकरी गली में माय काँकरी गडतु हैं' वाली कथा कपोल-कल्पित कही का जा सकती है किन्तु ब्रजभाषा की मधुरिमा के उस प्रत्यक्ष जादू को नहीं भुलाया जा सकता जिसके वशीभूत होकर कवियों ने कई शताब्दियों तक काव्य-क्षेत्र में उसके शासन को शिरसा वहन किया और अन्य भाषाओं की उपेक्षा की। ब्रजभाषा के अतिरिक्त कोई भी भाषा कविता के लिये उपयुक्त

---

१ बुद्धचरित की भूमिका, पृष्ठ १७

नही समझी गई। मिर्जा खाँ ने सन् १६७६ में फारसी में लिखित अपनी पुस्तक 'तुहफतूए हिन्द' मे, जिसका सम्पादन श्री जियाउद्दीन ने सन् १६३५ में 'A Grammar of the Brij Bhakha' के नाम से किया और जो विश्वभारती से प्रकाशित भी हो चुकी है, 'भाखा' को ही संगीत के उपयुक्त बताया है और उसे कवियों और सभ्य मनुष्यों की भाषा कहा है। 'भाखा' और 'हिन्दी' को उसने एक ही माना है (आगे चलकर इंशा अल्लाखाँ ने इन दोनों का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया है[१]) भाखा का परिचय देते हुए मिर्जा-खाँ कहते हैं। भाखा विशेष रूप से ब्रज प्रान्त और उसके आसपास की बोली है। एक दूसरे स्थल पर चन्दावर और ग्वालियर प्रदेशों को भी भाखा के क्षेत्र के अन्तर्गत माना है।[२] उसके अनुसार इस भाखा का प्रसार दोआब मे भी दूर तक था। डा० ग्रियर्सन के अनुसार पश्चिमी हिन्दी में जो कुछ कविता प्राप्त है वह प्रायः सभी ब्रजभाषा में है।[3]

केवल उत्तरी भारत में ही नही, अन्य प्रदेशों में भी इस भाषा के कवियों का बड़ा मान हुआ। भूषण कवि ने इसी के माध्यम से माहाराष्ट्रों का मनोरंजन किया तो पद्माकर ने सितारा (महाराष्ट्र) के अधिपति रघुनाथराव, बाँदा के अधीश हिम्मत बहादुर, जयपुर के राजा जगतसिंह, उदयपुराधीश भीमसिंह और ग्वालियराधिपति दौलतराव सिंधिया को संतुष्ट कर सम्पत्ति और ख्याति की प्राप्ति की। अन्य-भाषाभाषी शासकों से ब्रजभाषा के कवियों ने खूब धन पाया। इसमें उनकी प्रतिभा के साथ-साथ ब्रजभाषा के माधुर्य का भी कुछ कम योग न था। भोजराज के प्रत्यक्षर लक्ष मुद्रा दान की अनेक जन-श्रुतियो पर शायद हम विश्वास न कर सकें परन्तु रीतिकालीन अनेक कवियों द्वारा प्रचुर धन की प्राप्ति के अनेक प्रमाण प्राप्त हैं। अपने आश्रयदाता के कारण ही पण्डित कवि केशवदास 'राजसा' करते थे। 'पद्माकर' ने स्वयं जयपुराधीश जगतसिंह से अपने अनेक राजाओं से प्रचुर धन प्राप्त करने का जिक्र किया था:—

---

१ (डा० हरवंश लाल शर्मा) सूर और उनका साहित्य पृ० ४५०

2 "Candavar, chandavar, Janwas is a district 25 miles east of Agra on the route from Muthura, 15 Etawa, on the river Jamuna, and is mostly occupied by Chauhan tribes" (Jarrat's Ain-i-Akbari II, Page 183.)

3 "The Hindi Poetry in the Western Hindi Language is almost in Brij bhakha." ("The Indian Antiquary" for January 1903, Page 16.)

भट्ट तिलँगाने का बुन्देलखण्ड वासी नृप !
सुजस प्रकासी पद्माकर सुनामा हों।
जोरत कवित्त छन्द छप्पय अनेक भाँति,
संसकृत प्राकृत पढ़ी जु गुनग्रामा हों।
हय, रथ पालकी, गयन्द, गृह, ग्राम चारु
आखर लगाम लेत लाखन की सामा हों।
मेरे जान मेरे तुम कान्ह हो जगतसिंह
तेरे जान तेरो वह विप्र में सुदामा हों।

इस उक्ति को अतिशयोक्ति मानने पर भी इन कवियों की खुशहाली में सन्देह की गुञ्जाइश नही। भारतेन्दु के युग में भी ब्रजभाषा ही कविता के योग्य समझी जाती रही और आज भी इस भाषा के कवियों और उनके कदरदानों का सर्वथा अभाव नही है जिनकी गोष्ठी में यह सुना जा सकता है कि—

"ब्रजभाषा की कविता में जो स्वाभाविक मिठास और लोच है वह खड़ी बोली के सिपाहियाना ठाठ मे कहाँ ?

आखिर ब्रजभाषा के इस माधुर्य का आधार क्या है जिसके कारण कवियों ने उसे अपने गले का हार बनाया ? बात वह है कि ब्रज का क्षेत्र ही ऐसा पवित्र है कि उसमें पदार्पण करते ही हृदय में सरसता का सञ्चार हो उठता है। प्राकृत के माध्यम से अथवा संस्कृत से सीधे आये हुए तद्भव शब्द भी इस क्षेत्र में प्रवेश करते समय अपनी कर्कशता और औद्धत्य को त्याग कर सौम्य बन जाते हैं। ब्रजयमुना के सम्पर्क से मानो उनका समस्त कालुष्य दूर हो जाता है और वे शाणोत्कृष्ट रत्न के समान 'कान्ति' के भाजन बन जाते हैं। ओष्ठ, दृष्टि, ज्योति आदि संस्कृत के पद ब्रज में आकर ओठ, डीठि और जोति बन जाते है। द्युति, दर्पण, कर्कश, स्पर्श आदि शब्द संयुक्ताक्षरों के कारण पर्याप्त कर्णकटु प्रतीत होते है किन्तु दुति, दरपन, करकस, और परस आदि के रूप में वे श्रुतिप्रिय ही नही प्रियदर्शन भी हो उठते हैं—

दीठि न परत समान-दुति कनक कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परस पिछाने जात॥

साझे के काम गड़बड़ हो ही जाते हैं अतएव ब्रजभाषा में स्वरभक्ति के द्वारा संयुक्ताक्षरों को स्वतन्त्र बनाने की प्रवृत्ति सरलता, प्रवाह और माधुर्य की आधायिका ही साबित हुई। 'ईक्षण' तीक्ष्ण आदि पदों में क् ष् के संयुक्त रूप के साथ-साथ टवर्गीय ण का प्रयोग 'मर्कटस्य सुरापानं ततो वृश्चिकदंशनम्'

वाली कहावत को चरितार्थ करता है परन्तु ब्रज में आकर इनकी कटुता और तीक्ष्णता जाती रहती है—

ये तेरे सब तें विसम ईछन तीछन बान।

संयुक्ताक्षरों में से अधिक विरसता उत्पन्न करने वाले अक्षर को नमस्कार कर सौम्य अक्षर रख देने अथवा सयुक्त अक्षर या कटुवर्ण के स्थान में अन्य ही सरल अक्षर ला बिठाने की प्रवृत्ति से अनेक पदों की कर्कशता लुप्त हो गई उक्त पदों में 'क्ष' के स्थान में 'छ' और 'ण' के स्थान में 'न' आने से कितना माधुर्य आ गया ?

बहुत से तत्सम शब्दों का प्रारम्भ ही संयुक्ताक्षर से होता है। वे स्वयं तो श्रोता के कानों को कष्ट देते ही हैं साथ ही अपने पहले पड़ौसी पर बल देकर उसे भी अपने मिशन में शामिल कर अपथ पर चलने के लिये बाध्य करते है। ब्रज की मधुर धारा में ऐसों के लिये स्थान कहाँ ? वहाँ तो 'प्रावृट्' 'पावस' और 'प्रिय' 'पिय' ही बनकर पदार्पण कर सकता है। 'चन्द्र' शृङ्गार जैसे मधुर रस का उद्दीपक होने पर भी स्वयं उच्चारण में असुविधाजनक है, इसलिये ब्रजभाषा उसे 'चन्द' के रूप में ही स्वीकार करती है।

ब्रजभाषा में काफी कोमलता और लचक है जिनसे लाभ उठाकर कवियों ने अपने छन्दों का सन्तुलन ठीक रखने के लिये उसके शब्दों को खूब मरोड़ा है। 'स्त्री' शब्द के लिये अस्त्री, इस्त्री, तिरिया, त्रिया, तिया तिय आदि कितने ही शब्द प्रयुक्त होने लगे। इतना ही नहीं केवल एकाक्षर 'ति' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। बिहारी ने नदी और वय को 'नै' 'वै' ही कर दिया—

किते न औगुन करत जग नै वै चढ़ती बार।

यद्यपि इस तोड़-मरोड़ की प्रवृत्ति के चरम सीमा पर पहुँचने के कारण अनेक कवियों की आलोचना भी पीछे होती है तथापि उस समय तो वह अपनी सुविधा का सवाल हल कर ही लेता है।

ब्रजभाषा में विभक्ति-चिह्नों के प्रयोग में भी बड़ा सौकर्य है जिसके कारण निर्विभक्तिक प्रयोग भी 'न्यूनपदत्व' की आशङ्का के बिना ही प्रयुक्त किये जा सकते है और अर्थावबोध में भी किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता उदाहरण लीजिये—

परतिय दोस पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कसि कै राखी मिश्रहू मुँह आई मुसुकानि।।

दूसरे की स्त्री [गमन] (के) दोष पुराण (में) सुनकर और (मिश्रजी की ओर) देखकर सुख देने वाली (मिश्रजी की नायिका) मुस्काई मिश्र (ने) भी मुँह (पर) आई हुई मुस्कान बड़ी कठिनाई से रोकी।

ब्रजभाषा की इस स्वाभाविक संक्षेप-प्रवृत्ति के कारण ही दोहे जैसे लघुकाय छन्द में अनेकानेक भावों की अभिव्यञ्जना सम्भव हो सकी और वह 'गागर' में सागर भरने में सहायक बन सतसैया के दोहरों को नावक के तीरों के समान गम्भीर पैठने वाले बनाने का उत्तरदायित्व संभाल सकी।

बिहारी की भाषा

हम पीछे यह संकेत कर चुके हैं कि मानव-समाज के साथ ही साथ जीवित भाषाओं में भी पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता है, इसलिये किसी भाषा को कठोर आग्रह के साथ विशुद्धता की सीमाओं में बाँधने का अर्थ है उसकी जीवनी-शक्ति का ह्रासकर उसे मृत्यु की ओर ढकेलना। यही कारण है कि भावनाओं के चतुर चितेरों ने कभी नियम-निर्धारकों की परवाह न की और अपने भावों को निर्धारित-मार्ग के कुछ दाँये बाँये होकर निकलने की भी छूट दे दी। आखिर नियन्ता भी 'निरंकुशाः कवयः' कहकर बड़ी उन्मनस्कता के साथ बलात् स्वायत्तीकृत उनके इस अधिकार को मान्यता देने के लिये विवश हुए। परन्तु विवेकी कवि-पुङ्गवों ने इस अधिकार का कदाचित् ही दुरुपयोग किया हो क्योंकि बाह्य बन्धनों से मुक्त होने पर भी यह निरंकुशता अन्तस् से अनुशासित थी। कवि स्वयं भी भाषा के रूप और आत्मा में स्वच्छन्दतापूर्वक गड़बड़ नहीं कर सकते थे। कभी किसी ने ऐसा किया भी तो वह आड़े हाथों लिया गया। पास पड़ौस की बोलचाल के साथ परम्परा संबद्ध पुरानी साहित्यिक भाषाओं से भी निश्चित सीमा के भीतर कुछ शब्दों का आयात कर भावरक्षा की बात कुछ बुरी न समझी गई और जैसा कि कहा जा चुका है, भाषा के हक में भी यह प्रवृत्ति ठीक ही थी।

बिहारी भी इस प्रवृत्ति के अपवाद कैसे हो सकते थे? उन्होंने अपनी भाषा की सज्जा के लिये जहाँ संस्कृत अनेक शब्दों को जड़ा है वहाँ परम्परागत काव्यभाषा के घिसे-पिटे एवं बोलचाल से उठे पुराने शब्दों को भी रहने दिया और अवधी, बुन्देलखण्डी, खड़ी बोली आदि भाषाओं के अतिरिक्त मुसलमानी शब्दों का भी निःसंकोच स्वागत किया। मुसलमानों के शताब्दियों के सम्पर्क के कारण अरबी फारसी आदि भाषाओं के बहुत से शब्द देशी भाषाओं में आकर इतने घुलमिल गये थे कि उनमे विदेशीपन की गन्ध भी न।

रह गई थी। पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र में आज भी बोलचाल की भाषाओं में इन शब्दों का इतना बाहुल्य है कि उनका एक पृथक् कोष बन सकता है। संस्कृत के कर्णकटु शब्दो को समुचित ध्वनि परिवर्तन के साथ अपना रंग चढ़ाकर सुकुमारता प्रदान करने की ब्रजभाषा की प्रवृत्ति का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। इस प्रकार के शब्दों को अर्घ तत्सम कहा जा सकता है। अन्य बोलियों और भाषाओं के शब्दों का प्रयोग उसे सशक्त वनाने के लिये हुआ है।

भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। उन्होंने अपने मुक्तकों के लिये जिस लघु-कलेवर छन्द को अपनाया, उसमें भाषा की चुस्ती, कसावट और सशक्तता सबसे अधिक अपेक्षित है। इन्हीं गुणों के कारण बिहारी मुक्तक रचना में बेजोड़ समझे जाते हैं। उनके गिने चुने शब्दों में भाव अहमहमिका के साथ व्यक्त होते है। बिहारी का शब्द-चयन निःसन्देह अद्वितीय है। भाषा में लाघव लाने के लिये उन्होंने समस्त पदों का प्रयोग तो किया ही है कहीं-कहीं निर्विभक्तिक प्रयोगों को भी अपनाया है जिसका संकेत पीछे हो चुका है। ब्रजभाषा स्वभाव से ही समास-बहुला नहीं है। समासों का अधिक प्रयोग उसमें नहीं फवता। इसलिये इस शैली का आश्रय लेकर अव्याहत भावाभिव्यक्ति मजाक नहीं है। बिहारी ने बड़े कौशल के साथ समासों का प्रयोग किया है। साधारणतया उन्होंने दो-तीन और विशेष स्थलों पर चार-पाँच शब्दों तक के समास रखे हैं।

उदाहरण लीजिये—

> द्वैज-सुधा-दीधिति कला, वोह लखि दोठि लगाइ।
> मनौ अकास-अगस्तिया, एकै कला लगाइ॥[1]
> चित पितुमारक-जोगु गनि भयौ भये सुत सोग।
> फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझै जारज-जोग॥[2]

जहाँ कहीं बिहारी को दो-तीन शब्दों से अधिक शब्दों के समास रखने पड़े हैं वहाँ उन्होंने विशेषरूप से इस बात का ध्यान रखा है कि भाषा में उनके कारण शिथिलता और दुरूहता न आने पावे। इसलिये लम्बे समासों के पद व्यक्तिरूप से प्रायः छोटे हैं और सानुप्रास हैं जिससे उच्चारण में सुगमता और श्रवण में मधुरता का अनुभव उन्हें खटकने नहीं देता। एक विशेष बात यह भी लक्षितव्य है कि लम्बे समासों में प्रायः संस्कृत पदावली का ही प्रयोग हुआ है और कहीं-कहीं अर्धतत्सम शब्दों का—

---

१ बिहारी सतसई, ६२

२ वही, ५७२

विकसित-नवमल्ली-कुसम निकसत परिमल पाइ।
परसि पजारति विरह-हिम, बरसि रहे की बाइ।[१]
मरकत-भाजन-सलिलगत इन्दुकला कैं वेख।
झीन झगा में झलमलै, स्याम गात नखरेख।[२]
रनित-भृंग-घटावली, झरित दान-मधु-नीर।
मंद मद आवत चल्यौ कुञ्जर कुंजसमीर।[३]

भाषा की सजावट के लिये बिहारी ने संस्कृत के पदों का काफी प्रयोग किया है, यह कहा जा चुका है। शास्त्रीय उपमाओं में तो तत्सम शब्दों का प्रयोग अनिवार्य ही था। वर्ण्य विषय (शृङ्गार) से सम्बद्ध 'रति, मिलन, वियोग, संकेत, अभिसार, मान, सुख आदि पारिभाषिक शब्द भी तत्सम रूप में प्रयुक्त हुए है। यह स्वाभाविक भी था क्योकि हिन्दी मे ये शब्द सीधे संस्कृत से आये है। साधारण जनता के प्रयोग से दूर रहने के कारण इन शब्दों में कोई विकास सम्भव न हो सका जिससे इनके तद्भव रूपो के प्रयोग का प्रश्न ही नही उठता। इसके अतिरिक्त अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि अलङ्कारों के लोभ से भी कवि ने संस्कृत के पदों को अपनाया है:—

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।[४]
लखि जलजात लजात।[५]
पावक सौ नयनन लगै, जावक लाग्यौ भाल।
मुकुर होउगे नैक मै मुकुर बिलोकौ लाल॥[६]
चिरजीवौ जोरी जुरै क्यो न सनेह गँभीर।
को घटि ए बृषभानुजा ए हलधर के बीर।[७]

यहाँ पर बिहारी द्वारा प्रयुक्त कुछ तत्सम, अर्ध-तत्सम, तद्भव और विदेशी शब्दों की सूची दी जाती है। कहीं कहीं तो संस्कृत के शब्द में किसी प्रकार का ध्वनि-परिवर्त्तन न कर केवल संस्कृत की विभक्ति जोड़कर ही अर्धतत्सम शब्द की सृष्टि कर ली गई है और कहीं कही संस्कृत शब्दों से बलात्

१ वही १७५
२ ,, १८६
३ ,, ३८७
४ ,,
५ ५५
६ वही, ७९
७ वही, ६७६

तद्भव शब्द गढ लिये गये है उनका प्रयोग होता नही। (जैसे विचक्षण से विचच्छिन और वापी से वाइ) देश और शासन-विपयक रूपकों में पारिभाषिक शब्द मुसलमानी है जिसका कारण विशुद्ध राजनीतिक समझना चाहिये। फारसी के राजभाषा होने के कारण ये शब्द जनता में इतने प्रचलित हो गये थे कि तदर्थक प्राचीन संस्कृत जन्य शब्दों का पूर्णतया लोप हो गया। सूर ने भी इस प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग किया है।[1]

पाठकों की सुविधा के लिये शब्दों के सामने दोहा संख्या भी कोष्टक मे दे दी गई है।

तत्सम शब्द

असि (२२६) अद्वैतता (१३) अधर (२२) अतित्रास (८७) अमित (१७८) अनुराग (१६६) अलीक (५१७) अपार, अगाध (३६६) अलक (४४०) आतप (१९) आलवाल (४४२ और ४५०) आसव (६४६) आनन (७३) इन्दीवर (६६६) इन्दुकला (६६६) उपाय (६६८) ओक (४८६)

कच (७८) कज्जल (५) कठिन (१०८) कनक (८२) कपोल (८२) कलित ललित अलिपुंज (१२७) कपट-कपाट (३६०) कलानिधि (५३५) कंज (७८) काकगोलक (४५५) काननचारी (४५) कामना (५४) कालविपाक (३१७) कालिन्दी (६९६) कुंज-भवन (८४) कुटिल (३०३) कुटिलमति (१९७) कुलवधू (६५१) कुरंग (६७०) कुसुम (५१३) केलि (२०१) कोक (४८६) कोकनद (१६६) गगन (६६) गिरि (२६) गुरुजन (३४) गेह (६६) गोरज (१७६) घनसार (५२६)

चपल (१५७) चम्पक (६६४) चटकाली (११४) चिबुक (२६) छबि (६) जलकेलि (१५१) जलेजात (५५) जलधर (५३८) जातिरूप (१०२) जावक (७६) तपेनतेज (३४२) तन्त्रीनाद (८४) तिथि (७३) तृषा (२१) तिमिर (२८६) दम्पति (१५५) दीप (६६) दाहक (४०१) दुकूल (२२२) दीनता (१५६) देह (६६) द्विजरोजकुल (१०१) नभ (३२५) नैयन (२७) नागर (४६) नीसी (४०५) निकुञ्ज (२०६) निगम (२०१) निदीघ (२४४) नीर (३७)

पट (१२) परोगपट (३६६) पयोधि (२५१) परिवेष (३१४) पंजर गत (८५) प्रतिविम्ब (१६) प्रभा (२३) प्रभात (२३) प्रतिबिम्बित (१६१)

---

[1] देखिये सूर सागर, पद ६४, १४२, १४३

प्रसून (२७०) पावक (७६) पीत (२७१) पीन (६६३) बाधा (१) विन्दु (४२) मकरन्द (३६१) मकराकृति (१०३) मधुकर (२७०) मधुरमधु (१३८) मयूख (५४४) महिमा (५६) महामुनि (१३) मलिन (४१) मन्दकता (१६४) मुकुर (७६) मोद (३६७) मोहन-मोह (४७) भव (१) भाल (२२)

रसमय (४२) रतिरंग (८४) रति (३२६) लसति (१६) लोल (११३)

लोचन (४२) वास (२०) विषय (२१) वेधक (२७) सघन (५२) सदन (५२) सपल्लव (१६) सफल (५३) सतार=तारों सहित (३२५) समीर (६८०) सलिल (१०६) सरोवर (६६५) सरस (६४) सित (२७१) सिन्धु (१६) सुकुमार (९५) सुकृत (३००) सुदिन (५) सुधा दीधितिकला (६२) सुरतरु (१६) संगति (३०३) श्रुति (२०)

अर्धतत्सम

अगनि (३६) अनूप (३६) अंजनु (४६) अँगना (३७१) अरक (३५०) असन (१७१) अवगाहि (३४१) उतंग (८७) उरज (१११) किकनी (१२६) कलेग (१०१) कुलाहलु (१२६) कृसानु (११८) कूर (१५७) खलित (६५२) गरब (२३) गँभीर (६७५) चितु (१०) चितअन्तर (१६७) चन्दमुखी (४३) तरुन (१६६) तरनिजा (२६२) त्रिविधि (५५) दरपन (१६७) दानि (४८) दीरघ (५१) दुति (१) दुरजोधन (१५) दृगनु (२६) नवोढ (१५३) नितप्रति (३७) निरमोही (३६) निस (२२)

परागु (३८) पानि (२६५) पौढ=प्रौढ़ (३८६) प्रवीन (२) प्रान (१५) बदन (५३) बसन (१६३) बाककुवाक (२१८) बासर (२२७) बाम (३४) वारुनी (३६७) बारन (११) बिपतिविदारन (६१) बित (१७४) विबिध (५०३) बिलास (५०३) बिरदु (११) बिकासु (३३८) बेनी ((३६४) मतंग (६७) मानु (२६) मायक (५५) मुकुतालि (३६१) भ्रुव (३०३) सरोस (३१८) सहास (३१८) सफरी (२२७) सलज (५०४) सकलु (४१) सनमुख (३४) सरोजन (५३) सर (४७) सचिक्कन (६६) सहाइ (७१) सँकोचबस (७३) संदेस (६०) सिसिर (२२) सीतकर (२२५) सिखा (६६) सिसुता (७०) सीतलता (५६) सुरसरि (१०६) स्वारथ (३००) हरित=हृत (१)

तद्भव शब्द–

अनत (११५) असीस (११०) अलख (६४७) आजु (५८) आँक (५२३) आँखि (४१) ईठि (२८) उजास (७३) ऊतरु (१२०) कत (११२) कपूर (५६) काती (१६४) कोयन (५८) कोर (१५३) कौतिगु (१३३) गीध (३१) गाँठि (३६२) घर (७३) घरीक (११७) घाम (१२७) चख (१२)

चुहुटिनि (६०) छपा (११२) छबीली (१२) छाँह (१२) छिन (८) जमाई (१७८) जेठ (१५२) जोति (४०) जोबन (२) जोह्न (७) डीठि (२६)

तन (१) दिया (६६) दीठि (२८) द्यौस (४५१) धरिहरि (१३५) धुनि (११५) पत्याइ (६६) नैन (२) नाव (१०) निराखर (८०) निसाँक (१४३)

पत्रा (७३) पनच (१०४) पच्छी (३००) परसि (१७५) पसेऊ (५५०) पाती (१६४) पावस (६७२) पाइ (३३) पूस (१७१) पिय (२६) बतियाँ (२७) बरत (१६३) बाइ (७१) बूड (६४) बूढ (६४) बूट (६६) बिथा (५६) बिचच्छिन (३६१) बिससियहि (३११) बिहूनी (५२३) भौन (३२) भौर (१०) मीत (६५६) मुँदरी (६१०) मैन (३) मोष (१३५) रूखे (२६) लख (८०) लिलार (१०५) साँच (७४) सारी (१०६) साँक (१८६) संक्रौन (२७४) संक (२१८) सिंगार (४६) सिय (७४) सिरज्योई (६१२) साँवल (१५७) सेत (१०६) साँई (१३८) सौति (८३) सौन्धे (७) सौपना (८३) सौह (१८४) हिय (६०)

मुसलमानी शब्द—

अदब (३५६) अहसान (४७६) आमिल (२२०) इजाफा (२) कबूल (५१) कजाकी (६६४) खुस्याल=खुशहाल (३२४) खूनी (३२४) गुनही (२५०) गुमान (६७५) चसमा (१४०) दमामा (१३१) दरबार (२४१) तमासौ (५३) नाजुक (४०४) नाहक (४०६) नेजा (६) पायन्दाज (४११) पानूस (६०२) फतै (७०६) फौज (२१५) बरजोर=प्रबल (१७४) बहार (२५५) बकबाद (६२६) बेहाल ३७४) मुलुक (२२०) रकम (२२०) रद= रद्द (४७५) रूख (३६३) सबील (६५३) साबित (६०६) सामाँ (७०६) सोर, सिकार (४५) हदाल (३८) हमाम (२८१) हजार (२४१) हद (२१४) हुकम (७१२)

अतिप्रचलित—

इनके अतिरिक्त कुछ अतिप्रचलित ग्राम्य शब्द भी बिहारी की रचना में मिलते हैं जैसे सैल (१७६) ऐंड भरी ऐंडाति (१८३) मोट (६०६) सलोट (६०६) खरौट (२४६) मावस (५५६) आदि।

पुरानी परम्परा के बाइ (७१) ईछन (३४७) ईठि (३१२) पुहुप (३६१) भुवाल (७१०) गय आदि शब्द भी बिहारी की रचना में आ गये हैं। करवर=चीता (५०) अकस=स्पर्धा (४१७) कालबूत=ढाँचा आदि

अप्रचलित शब्द भी खोजने पर बहुत कुछ मिल सकते हैं। कितने ही शब्द उन्होंने इच्छानुसार गढ सभी लिये है जैसे अमिल=अ+मिल= जो मिलने जुलने वाला न हो अर्थात् बाहरी। कारक, मारक, साधक आदि संस्कृत के ण्वुलन्त शब्दों के वज़न पर 'उड़ाना' क्रिया से उड़ायक (५७), खड़ी बोला में 'निर्मल' के अर्थ में उज्ज्वल शब्द से प्रसूत उजला और 'प्रकाश' के अर्थ में उजला शब्द प्रयुक्त होते हैं जो ब्रज मे ऊजरा, और उजेरा आदि हो जाते है। बिहारी ने प्रकाश के अर्थ में उजास (७३) शब्द का प्रयोग किया है तो 'मीठा' विशेषण से 'मिठास' भाववाचक संज्ञा के सादृश्य पर कल्पित प्रतीत होता है।

दो भिन्न भाषाओं के प्रकृति प्रत्यय और शब्दों के योग या व्याकरण से प्रभावित द्विज अथवा संकर शब्दों का भी विहारी की भाषा में समावेश हुआ है—जैसे सिरताज (४) = सिर+ताज (मुसलमानी शब्द), छाँहगीर (२३१)=छाँह (प्रकृति)+गीर (प्रत्यय, मुसलमानी राहगीर आदि की भाँति) अर्थात् छत्र। कच-सेत शब्द में विशेषण-विशेष्य समास है जिसमें संस्कृत या हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार विशेषण पहले आना चाहिये। विशेषण का बाद में आना फ़ारसी के अनुसार है। इससे भी जर्बदस्त उदाहरण लीजिये। २५० वें दोहे में विहारी ने गुनही शब्द का प्रयोग किया है। इसमें प्रकृति (गुनाह) फारसी भाषा की है और प्रत्यय (इनि) संस्कृत का। जिस प्रकार संस्कृत में धन जिसके पास हो, उसका वाचक 'धनी' शब्द (धन+इनि) बनता है, उसी प्रकार बिहारी ने गुनाह (अपराध) जिसका है, उसका वाचक 'गुनही' शब्द 'गुनाह' शब्द से संस्कृत का इनि प्रत्यय जोड़कर बना लिया। फारसी के प्रत्यय के अनुसार 'गुनहगार', होना चाहिये।

कहीं-कही कृदन्त अर्धतत्सम क्रिया के बाद जब भाषा (ब्रजभाषा) की क्रिया रखी है तो अनुप्रास की तुक ठीक बैठाने के लोभ से उससे भी बलात् संस्कृत का कृत्प्रत्यय (क्त) लगाकर उसके अनुसार रूप बना लिया है उदाहरण लीजिये :—

रनित-भृंग-घंटावली झरित-दान-मधु-नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यौ, कुंजर कुंजसमीर॥

यहाँ पर प्रथम पंक्ति के दोनों पदों में बहुव्रीहि समास है। जिसका विग्रह है रनित (संस्कृत रणित) भृंग ही घण्टावली है जिसकी, और झरित =झड़ रहा हैं दान (समान) मधुनीर जिसका। अव्यक्त शब्दार्थक संस्कृत

१ बिहारी सतसई, ३८७

'रण' धातु से क्त प्रत्ययान्त 'रणित' शब्द बना जिसका अर्धतत्सम रनित बिहारी ने प्रयुक्त किया। पुनः ब्रज की 'झरना' क्रिया से क्त प्रत्ययान्त झरित शब्द बना लिया। यदि कहा जाय कि झरित शब्द संस्कृत से ही लिया गया है और उस क्रिया से बना है जिससे 'झर' निर्झर आदि शब्द बनते है, तो दूसरा उदाहरण लीजिये :—

"खलित वचन अधखुलित दृग ललित स्वेदकन जोति।

यहाँ पर संस्कृत के 'स्खलित' रूप के अर्धतत्सम 'खलित' की तुक मिलाने के लिये अध (अर्ध) पूर्वक 'खुलना' क्रिया से संस्कृत कृत् प्रत्यय 'क्त' किया गया है।

भाषा की उपपद-पूर्वक क्रियाओं से भी कर्ता के अर्थ में निष्पन्न कृत्प्रत्ययान्त रूपों का प्रयोग भी बिहारी के दोहों में मिलता है—

तिय तरसौहे मन किए करि सरसौहे नेह।
घर-हरसौहे है रहे, झर वरसौहे मेह॥[२]

'तियपूर्वक 'तरसना', धरा (पृथ्वी) पूर्वक 'परसना' और झर पूर्वक 'वरसना' धातुओं से तिय-तरसौहे धर परसौहे और झर परसौहे रूप बने। धरां स्पृशन्तीति (धरास्पृशः धरा उपपद स्पृश् धातु से क्विप् प्रत्यय का कर्त्ता में बहुवचन रूप) तथा झरं वर्षन्तीति 'झरवृषः' रूपों के तद्भव रूप भी इन्हें माना जा सकता है परन्तु इस प्रकार के प्रयोग बोल चाल की भाषा में शायद ही आते हों।

इसी प्रकार समासान्त और तद्धितान्त रूप भी यत्रतत्र मिलते हैं—

टुनहाई सब टोल में रही जु सौति कहाइ।
सु तैं ऐंचि प्यौ आपु त्यौं, करी अदोखिल आइ।[3]

अर्थात् प्रिय को अपनी ओर आकृष्ट कर समुदाय में 'टुनहाई' के रूप में प्रसिद्ध सौत को तूने अदोखिल (दोष रहित) कर दिया।

इस दोहे में 'टुनहाई' का अर्थ है टोना करने वाली और अदोखिल का अ (नहीं; दोखिल=दोषी। दोनों ही पद विशेषण हैं। पहले की व्युत्पत्ति टुनहा शब्द से सम्बन्ध अर्थ में तद्धित प्रत्यय होने पर होती है, दूसरे पद में नञ् समास है। दोषान् लाति आदत्त इति दोषलः (दोषों को ग्रहण करने वाला) इसी का तद्भव दोखिल शब्द समझना चाहिये।

अतिशयता और पौनःपुन्य का भाव प्रदर्शित करने के लिये संस्कृत में यङन्त धातुओं का प्रयोग होता है। इसमें धातु को द्वित्व हो जाता है जैसे

१ बिहारी सतसई, ६५२
२ वही, ४८१
३ वही, ३४७

जायते=होता है और जाजायते=बार बार या अधिक होता है। इन भावों की अभिव्यक्ति अन्य प्रकार के प्रयोगों से इतने श्रेष्ठ रूप में हो भी नही पाती। महाकवि माघ ने रावण के स्वर्ग में बार-बार अत्यन्त उपद्रव करने की वर्णना में यङ्लुक् प्रयोगों का ही आश्रय लिया है।[1] बिहारी ने भी इस प्रकार के प्रयोगों का उचित प्रयोग कर शब्दों के चयन मे अपना कौशल दिखाया है। ऐसे रूपों का प्रयोग दो प्रकार से हुआ है—पूर्वकालिक क्रिया के रूप में और भाव का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने के लिये—

> पति रति की बतियाँ कहीं सखी लखी मुसकाइ।
> कै कै सवै टलाटली, अलीं चलीं सुख पाइ॥[2]
> कौन सुनै कासौ कहौं सुरति बिसारी नाह।
> बदाबदी जिय लेत हैं, ए बादर बदराह॥[3]

टलाटली=बहाने पर बहाना, बदाबदी=बार-बार या बहुत अधिक बद-बदकर अर्थात् शर्त लगा-लगाकर। पहला प्रयोग भाव-वैशिष्ट्य-प्रदर्शक है और दूसरा पूर्वकालिक क्रिया। इसी प्रकार लगालगी (६६) और दिखादिखी (६१४) आदि प्रयोगों को भी समझना चाहिये।

अब पास-पडौस की भाषाओं के प्रभाव की भी कुछ चर्चा कर ली जाय। "जन्म ग्वालियर जानिए खण्ड बुन्देले बाल" के अनुसार उनकी बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड में बीती, अतः बुन्देलखण्डी भाषा का उन पर प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। जखबी, करबी, पायबी' आदि प्रयोग तो ब्रज के दक्षिण में भी बोले जाते हैं और बुन्देलखण्डी भाषा में भी आते हैं। अतः इनको ब्रज के अन्तर्गत मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। प्रायः सभी प्रान्तों के ब्रजभाषा कवियों ने इन शब्दों का प्रयोग किया भी है। बिहारी के अतिरिक्त सूर, मतिराम, दास आदि का नाम इस सम्बन्ध में लिया जा सकता है। घैरु, (४५८) कोद, (५४६) गीधे, बीधे, आदि शब्दों का भी बिहारी ने प्रयोग किया है जो खास बुन्देलखण्डी हैं। 'चाला' (१३४) शब्द तो गौने के अर्थ में खडी बोली में भी आता है। ठेठ बुन्देलखण्डी अव्यय स्यौ' का प्रयोग ब्रजभाषा में कदाचित् केशव ने ही सबसे पहले किया।[4] वे स्वयं भी बुन्देलखण्डी थे—केशव और बिहारी द्वारा समान रूप से गृहीत इन

१ शिशुपाल वध, प्रथम सर्ग,
२ बिहारी सतसई २४
३ वही ६३
४ अली स्यौ सरसीरुह राजत है (रामचन्द्रिका)

बुन्देलखण्डी प्रयोगों के आधार पर कई आलोचक केशव से उनका सम्बन्ध भी जोड़ते है कोई उन्हे पिता-पुत्र और कोई गुरु-शिष्य बताते है। परन्तु 'स्यौं' का प्रयोग 'दास' जी ने भी किया है जो अवध के थे।

स्यौ ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुन शब्द अलंकृत सों रति पाकी।[1] तो क्या उन्हें भी बुन्देलखण्डी सिद्ध किया जा सकता है? अतः किसी के काव्य में किसी खास जगह के शब्दों को देखकर उसे एकदम उसी स्थान का रहने वाला मानने का फतवा देना कुछ जँचता नहीं—कुछ ही क्या बिलकुल भी नहीं जँचता।

ब्रजभाषा में कर्त्ताकारक में उत्तमपुरुष एकवचन के लिये 'मैं' और 'हौं' दोनों आते हैं। हौं का प्रयोग कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य किसी कारक में नहीं मिलता पर केशव और बिहारी दोनों ने ही कर्मकारक में भी इसका प्रयोग किया है:—

पुत्र हौं विधवा करी तुम कर्म कीन दुरन्त।'[2]
तथा, "हौं इन बेची बीच ही, लोइन बड़ी बलाइ।"[3]

पूरबी या अवधी भाषा का भी कुछ प्रभाव बिहारी पर देखा जाता है। जिस प्रकार संस्कृत में 'स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होता है उसी प्रकार अवधी में 'वा' होता है पर इससे अर्थ में कुछ अपकर्ष भी होता है। यह 'वा' प्रत्यय व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से भी जोड़ दिया जाता है जैसे—हमीद से हमीदवा, इतना ही नहीं, प्रचलित विदेशी शब्दों से भी ऐसे रूप बना लिये जाते हैं। हमने कितने ही पढ़े-लिखे भलेमानुसों को प्रिंसिपल के लिये प्रिंसिपलवा और 'मास्टर' के लिये 'मास्टरवा' कहते सुना है। बिहारी-सतसई में इस प्रकार का केवल एक ही उदाहरण आया है:—

गोरी गदकारी परै हँसत, कपोलन गाड़।
कैसी लसति गवाँरि यह, सुनकिरवा की आड़॥[4]

अँधियार, फगुआ (यह खड़ी बोली और ब्रज में फगुवा बोला जाता है) आदि संज्ञाएँ तथा सर्वनाम के जासु, तासु, केइ आदि रूप भी मिलते हैं। एक आध स्थान पर सम्बन्धद्योतक विभक्ति-चिह्न कोई भी दीख पड़ता है:—

१ काव्य-निर्णय, १, १८
२ रामचन्द्रिका
३ बिहारी सतसई, १९५
४ वही ७०७

पावस निसि अँधियार मै रह्यौ भेदु नहि आन।
रात-दिवस जान्यौ परतु लखि चकवी चकबान ।।[1]
त्यौ-त्यौ निपट उदारहू फगुआ देत बनै न।[2]
बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमान।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटे ग्रह जपदान।[3]
होमत सुख करि कामना तुमहि मिलन की लाल।[4]

क्रियाओं के रूप अपेक्षाकृत अधिक मिलते है। कीन, लीन, दीन आदि रूप तो मिलते ही है। अवधी का 'आहि' तक उनकी रचना मे आ गया है।

मिलि बिहरत बिछुरत मरत दम्पति अति रति लीन।
नूतन विधि हेमन्त सब जगत जुराफा कीन ।।[5]
पिय तिय सौ हँसि कै कह्यौ लखै दिठौना दीन।
चन्दमुखी मुखचदु तै, भलौ चदसम कीन ।।[6]
रही अचल सी ह्वै मनो लिखी चित्र की आहि।
तजै लाज डरु लोक कौ कहौ विलोकति काहि ।।[7]

इसी प्रकार किय[8] जैसा भद्दा रूप तो मिलता ही है अवधी के व्याकरण का भी प्रभाव लक्षित करने योग्य है। पश्चिमी भाषाओं (खड़ी बोली, ब्रज आदि) में सकर्मक क्रियाओं के रूप कर्म के अनुसार होते हैं, उनमे कर्म के ही लिङ्ग और वचन का प्रयोग होता है परन्तु पूर्वीभाषाओं मे सकर्मक क्रिया का रूप भी अकर्मक के ही समान कर्त्ता के ही अनुसार आता है। कर्त्ता के साथ ने' विभक्तिचिह्न का प्रयोग भी पूरब वाले नहीं करते और 'हमने यह किया' के स्थान में 'हम यह किये' कहा करते है। तात्पर्य यह है कि पश्चिमी भाषाएँ कर्मप्रधान हैं और पूर्वीय भाषाएँ कर्तृप्रधान। बिहारी ने ब्रज और खड़ी बोली के क्रियापदो का पूर्वी ढंग से भी कही-कहीं प्रयोग किया है—

चितई ललचौहे चखनु, डटि घूँघट-पट माँह।
छल सौ चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाँह ।।[9]
कारे-बरन डरावने, कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखी सखी लखै, लगै थरथरी देह ।।[10]

१ वही, ४८३
२ वही, ३५२
३ वही, ३८०
४ वही, ५४
५ बिहारी सतसई ४६४
६ वही ४३
७ वही ५३०
८ वही ४२
९ वही १२
१० वही ५१२

ब्रजभापा में 'चितवना' का भूतकाल-बोधक प्रयोग 'चितयौ' होना चाहिये और दूसरे उदाहरण मे ब्रज की प्रकृति के अनुसार 'कारे वदन' (कर्म) के अनुरूप 'लखी' के स्थान में 'लखे' होना चाहिये था। यह तो हुई ऐसी क्रियाओं की बात जो ब्रज और अवधी दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं, खड़ी बोली क्रियापद के प्रयोग में कर्त्ता का विभक्ति चिह्न 'ने' गायब होकर स्पष्ट पूर्वीपन का घण्टाघोष कर रहा है—

नैकौ उहि न जुदी करी, हरहि जु दी तुम माल।
उर तै वास छुट्यौ नही, बास छुटै हूँ लाल ॥[1]

इस उदाहरण से बिहारी द्वारा खड़ी बोली के क्रियापदों का प्रयोग भी प्रमाणित हो जाता है। अन्यत्र भी कई स्थलों पर इस प्रकार के प्रयोग देखे जा सकते हैं[2]

'अपि मासो मसं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्'[3] का जो अधिकार कवियों को परम्परा से प्राप्त है उसका भी बिहारी ने उपयोग किया है, परन्तु विरलता के साथ। दोहे जैसे छोटे छन्द मे गुरुभावों को व्यक्त करने के लिये गृहीत शब्दावली को फिट बैठाने के लिये कहीं-कहीं काट-छाँट करनी पड़ी है। भाषा के स्वभाव विरुद्ध शब्दों के रूपों का स्थिरीकरण गड़बड़-घोटाला कर देता है। 'स्मर' के लिये 'समर'[4], 'कै कै' के स्थान ककै'[5], मानो या मनो के लिये 'मन'[6] 'बार' के लिये 'वा'[7] 'पिचकारी' के लिये 'पिचका'[8] आदि गिने-चुने ही शब्दों के रूप विकृत हुए है। प्रेरणार्थक क्रिया के अर्थ में साधारण कर्तृवाच्य के प्रयोग का भी एक उदाहरण बिहारी में मिलता है—

नॉक चढै सीबी करै, जितै छबीली छैल।
फिरि फिर भूलि वहै, गहै प्यौ कँकरीली गैल ॥[9]

इस दोहे में नायिका प्रयोजककर्त्री और नायक प्रयोज्य कर्म। नायिका के कर्त्री होने से उसी के अनुसार क्रिया का रूप 'चढावै' होना चाहिये। 'चढै' प्रयोग प्रयोज्य कर्म के अनुकूल माना जायगा, या जैसा कि ऊपर कहा गया है,

---

१ वही ६१६

२ बिहारी सतसई ४४८, ५८६

३ चाहे माव का मव कर दिया जाय पर छन्दोभङ्ग नहीं करना चाहिये।

४ वि० स० ५२७

५ वही २८३

६ वही ४१७

७ वही ५१२

८ वही १४३

९ वही ३२५

प्रेरणार्थक के अर्थ मे साधारण क्रिया का प्रयोग कहकर सन्तोष कर लेना पड़ेगा। दूसरा उदाहरण लीजिये—

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तै, थक्यौ बटोही बाइ॥[1]

यहाँ 'चुवातु' के स्थान में 'चुवतु' का प्रयोग है। जैसा कि पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है, इस दोहे में की 'चुवतु' क्रिया भी सकर्मक माननी पडेगी, यद्यपि यह अकर्मक है।[2] बिहारी ने इस प्रकार का प्रयोग किया है केवल इसलिये इस क्रिया को यदि हम सकर्मक मान भी लें, तो भी सामान्य रूप से तो यह सकर्मक बनने से रही। कुछ भी हो यह चिन्त्य अवश्य है। बिहारी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था, अतएव उनकी रचना मे तोड-मरोड़ के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। समान्य मिश्रबन्धुओं ने बिहारी के 'सँक्रोन' और 'सोनजाय' शब्दों को भ्रमवश 'संक्रान्ति' और 'सोनजुही' से गढ़े हुए मानकर आपत्ति करते हुए बिहारी को शब्दों के अङ्ग-भङ्ग करने का बड़ा भारी दोष लगाया है।[3] परन्तु वास्तव में 'सक्रोन' का सम्बन्ध 'संक्रमण' से और 'सोनजाय' का 'स्वर्णजाति' से है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों का उद्धरण कर देना अधिक समीचीन होगा। उनका कथन है कि—

"बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भग किया है और कही-कहीं गढंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही स्मर के लिये 'सँमर' 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेगे। जो यह भी नही जानते कि संक्रमण (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है। सोनजाइ शब्द स्वर्णजाति से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द है और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है 'मिलान' पड़ाव या 'मुकाम' के अर्थ में पुरानी कविता में भरा

१ वही ३६०
२ देखिये बिहारी की वा० वि० पृ० १५७
३ हिन्दी नवरत्न

पड़ा है चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यहा रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?"[१]

गुण को व्यक्त करने के लिए गुणी का अथवा भाव के स्थान में तदवच्छिन्न विशेषण का प्रयाग भी बिहारी ने किया है जिनकी गिनती लाक्षणिक शब्दों में ही की जायेगी—

रहि न सकी सब जगत में, सिसिर-सीत कै त्रास ।
गरम भाजि गढवै भई, तिय-कुच अचल मवास ।।[२]

इस दाहे में 'गर्मी' के स्थान में 'गरम' का प्रयोग हुआ है । एक और मजेदार लाक्षणिक शब्द बिहारी की रचना में मिलता है जिसका प्रयोग आज के रोमाण्टिक (कवि-समाज तो नहीं) युवक-समुदाय में प्रचुरता से पाया जाता है—वह है 'कटना' जिसका अर्थ है—रीझना पर अब इसके स्थान में 'मरते' की रिवाज बहुत हो गया है ।

पूछै क्यों रूखी परति, सगि बगि गई सनेह ।
मन-मोहन-छबि पर कटी, कहै कँप्यानी देह ।।[३]

इसी 'कटने' से बने हुए 'कटनि' का प्रयोग प्रेम के अर्थ में देखिये—

फिरत जु अटकत कटनि बिनु, रसिक सु रसन खियाल ।
अनत अनत नित नित हितनु, चित सकुचत कत लाल ।।[४]

और उदाहरण लीजिये—

अरै परै न करै हियौ, खरै जरे पर जार ।
लावति घोरि गुलाब सौं मलै मिलै घनसार ।।[५]
मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब बाल ।
लहि प्रसाद माला जु भौ, तनु कदम्ब की माल ।।[६]

यह लाक्षणिक प्रयोगों की ही महिमा है जिससे चन्दन मलै=मलय (अर्थात् मलयज) और तनु 'कदम्ब की माल' (रोमाञ्चित) होगया ।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २५०
२ बिहारी सतसई ३४३
३ वही, ६८७
४ वही, ५२१
५ ,, ५२६
६ ,, ४६८

बिहारी की रचना में कही-कही लिग-व्यतिक्रम भी मिलता है। संस्कृत के अनेक शब्द लिगपरिवर्तन करके हिन्दी में आये है [सुना है आजकल आदमी भी इस ओर रुचि रखने लगे हैं और एक दो महानुभाव सफलतापूर्वक नर से नारी बन गये है उसी प्रकार जिस प्रकार] आत्मा, विधि, महिमा, गरिमा, अग्नि, वायु' आदि पुल्लिग से स्त्रीलिंग बन गये। संस्कृत के समर्थकों की शिकायत है कि यह गड़बड-घोटाला बन्द होना चाहिये और संस्कृत से हिन्दी में आने वाले शब्दों के लिंग की रक्षा होनी ही चाहिये, परन्तु भाषा की प्रकृति और लोगों की प्रवृत्ति को क्या किया जाय, वह तो बलात् बदली नहीं जा सकती। प्रत्येक भाषा दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी अनुकूलता की शर्त पर ही स्वीकार करती है, इसीलिये उर्दू के आजाद और लायक़, हिन्दी में आजाद और लायक तथा हिन्दी के ब्राह्मण और क्षत्रिय उर्दू में 'बिरहमन' और छत्री बनकर ही प्रवेश पा सकते हैं और निभ सकते हैं। किसी किसी शब्द को तो इससे भी अधिक त्याग करना पडता है, अर्थात् नई भाषा के ध्वनि-विषयक ही नहीं व्याकरण के नियमों को भी मानना पड़ता है और उसके क्षेत्र में प्रचलित परम्परा के अनुसार 'जैसा देश वैसा भेस' को अनिवार्यतः अङ्गीकार करना होता है। यही कारण है कि फारसी का 'कलम' हिन्दी 'की कलम' (स्त्रीलिङ्ग) बनकर ही यहाँ आ सका क्योंकि यहाँ पहले से इस अर्थ में स्त्रीलिंग शब्द 'लेखनी' का प्रयोग होता था। यह कहना कि कलम शब्द संस्कृत से ही आया होगा, अमरकोष में लेखनी के पर्यायवाची शब्द के रूप में पुल्लिग कलम शब्द संगृहीत है,[१] ठीक नही, क्योंकि यदि यह बात होती तो इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग इतना पछेता न होता। तात्पर्य यह है कि प्रव्राजक शब्द के मूलभाषागत लिंग की रक्षा का उत्तरदायित्व कोई भी भाषा नहीं ले सकती। श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार बिहारी ने वायु शब्द का, जो संस्कृत में पुल्लिग ही है, परन्तु हिन्दी में स्त्रीलिंग ही माना जाता है, दोनों लिंगों में प्रयोग किया है:—

लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नबोढ लौं, सुखद बायु गतिमंद ॥[२]

यहाँ वायु स्त्रीलिंग हैं परन्तु नीचे लिखे दोहे में पुलिंग है:—

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तै, थक्यौ बटोही बाइ ॥[३]

---

१ अमरकोष,
२ बिहारी सतसई, ३६२
३ वही, ३६०

बाइ (वायु) यहाँ स्पष्ट पुलिङ्ग है—बिहारी के लिङ्ग विपर्यय की चर्चा करते हुए वे कहते हैः—

"पर बिहारी ऐसे प्रौढ साहित्यज्ञ कवि ने ऐसा क्यों किया, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। संस्कृत-शब्दों के सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि वह समय एक प्रकार से संक्रमण-काल था। कुछ लोग संस्कृत शब्दों या उसके विकृत रूपों को उमी लिङ्ग में लाते थे, जो लिंग संस्कृत से मान्य था, पर जनता में वह दूसरे लिंग में प्रयुक्त होने लगा था। बिहारी ने, जहाँ तक जान पड़ता है अज्ञात रूप से, दोनों के अनुसार यथावसर दोनों लिंगों में ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया है।"[1] "ब्रजभाषा में 'वायु' शब्द स्त्रीलिंग रूप में आता है। पर बिहारी ने उसे दोनों लिंगों में प्रयुक्त किया है।"[2] हमें तो उक्त उदाहरणों में लिंग विपर्यय प्रतीत ही नहीं होता। पहले दोहे में हिन्दी के अनुसार 'वायु' स्त्री-लिग है। दूसरे में 'चुवतु' 'आवतु' क्रियाओं का कर्त्ता 'बाइ' नहीं अपितु 'बटोही' ममझना चाहिये। वायु का बटोही से रूपक बाँधा हैं। बटोही शब्द पुलिग है अतएव थक्यौ पुल्लिग विशेषण दिया गया है। 'थका हुआ वायुरूपी बटोही आ रहा है।' यहीं कवि का अभीष्ट भाव प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि स्त्रीलिंग 'वायु' का पुल्लिग 'बटोही' से रूपक उचित नहीं जँचता तो 'करारविन्द', 'पादारविन्द', 'स्त्रीरत्न', आदि संस्कृत के अनेक उदाहरण देखने चाहिये। हाँ, 'उसास' शब्द का स्त्रीलिंग प्रयोग अवश्य विचारणीय है। खड़ी बोली में 'साँस' या 'उसास' का प्रयोग निश्चित रूप से पुल्लिग में होता है, ब्रजभाषा में भी, जहाँ तक हमें मालूम है, यह पुल्लिग ही बोला जाता है, ब्रजक्षेत्र के किसी पूरबी' कोने में स्त्रीलिंग प्रयुक्त होता हो, तो होता हो। हमारी दृष्टि से इस शब्द का स्त्रीलिंग प्रयोग सुस्पष्ट 'पूरवीपन' है। बिहारी ने दोनों लिंगों में इसका प्रयोग किया है।

बिथुरयौ जावकु सौतिपग, निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज हँसौंहीं लखि लियौ, आधी हँसी उसाँसु ॥[3]
पल न चलै जकि सी रही, थकि सी रही उसाँस।
अबहीं तन रितयौ कहौ मन पठयौ किहि पास ॥

"लियौ उसाँसु" और 'थकि सी रही उसाँस' से स्पष्ट है कि प्रथम दोहे में उसाँस शब्द पुलिग है और दूसरे में स्त्रीलिग। 'मिठास' शब्द को 'स्त्रीलिंग'

---

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १५६

२ वही, १५७

३ बिहारी सतसई ५०४

बताकर कितौ मिठाम दयौ दई इतै सलौने रूप'' को लिंग-विपर्यय के उदाहरण रूप में रख देना भी नही जँचता। ब्रज और खडी बोली दोनों में इसका पुल्लिग ही प्रयोग होता है, होना भी चाहिये। इसका स्त्रीलिंग 'पूरबी' या 'बनारसी' संस्करण ही मालूम होता है। यह सत्य है कि शब्दों का कोई अंग या शरीर चाहे पूर्वी हो गया हो, पर उनकी आत्मा में बिहारी ने पूरबीपन नहीं आने दिया। "यदि कोई शब्द पूर्व और पश्चिम दोनों में अर्थभेद से प्रयुक्त होता है तो उन्होंने उसे पश्चिमी अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। जैसे 'सुघर' शब्द को ही लीजिए। 'इसका अर्थ पश्चिम में 'चतुर' होता है और पूरब में 'सुन्दर'। बिहारी ने इसका अर्थ 'चतुर' अर्थ में ही किया है।"[२]

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

मुहावरे और लोकोक्तियाँ भाषा की प्रौढता और प्राञ्जलता को एकदम उसी अनुपात से बढा देते हैं जिससे 'बंक बकारी देत ज्यौं दाम रुपैया होत।' इसका कारण यह है कि जन-समाज युग-युगान्तर के संचित अनुभवों को कुछ लाक्षणिक शब्दों के साँचे में ढालकर मुहावरों का रूप देता है जो लाक्षणिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक आधार पर भी टिके होते हैं। यही कारण है कि काल और देश की सीमाएँ भी इन्हें बाँधकर पंगु नहीं बना सकतीं। उनमें चिर नवीनता और शाश्वतता है, समान रूप से मानवमात्र के हृदय का स्पर्श करने की क्षमता है। मुहावरों का महत्त्व अवश्य है, पर उन्हें ही साध्य न समझ लेना चाहिये। हमारे यहाँ मुहावरों का अधिक प्रयोग नहीं रहा है। मुसलमानी संपर्क से बहुत से मुहावरों का प्रादुर्भाव हुआ। बिहारी ने अपनी भाषा के अनुकूल ही मुहावरों का प्रयोग किया है। एक-आध अपवाद को छोड़कर केवल वैचित्र्य के उद्देश्य से उन्हें जबर्दस्ती पकड़-पकड कर एक पंक्ति में ला बैठाने का आयास उन्होंने नहीं किया। प्रत्युत भावाभिव्यक्ति में सहायक के रूप में ही उन्हें मान्यता दी है:—

> जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहि।
> आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखै लागति नाहिं॥[३]

जब जब उनकी याद आती है तब तब अन्य सब चेतनाएँ जाती रहती हैं। आँखें (उनकी) आँखों में लगी रहती हैं और आँखें नहीं लगती। "आखें

---

१ वही

२ बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १५८

३ बिहारी सतसई, ६२

लगी रहती हैं और आँखें नहीं लगती" में स्पष्ट विरोध है। परन्तु 'आँखिनु आँखि लगी रहै' का अर्थ है—आँखों का सौन्दर्य निहारते रहना। तात्पर्य यह है कि सुधि आने पर नायिका मनोगत प्रियतम के सौन्दर्य को निहारती रहती है इसीलिये उसकी आँखें नहीं लगती—नींद नहीं आती।

दूसरी पंक्ति में विरोध का चमत्कार अवश्य है, पर इतना नही कि पाठक या श्रोता की आँखें चुँधिया जायँ। हाँ, वे खुल अवश्य जाती हैं और वह 'याद का आना तथा चेतना का जाना' जैसी भावात्मक क्रियाओं के देखने में समर्थ हो जाता है। मुहावरे के चमत्कार से जनित स्पन्दन अनुभूति को तीव्रता प्रदान कर हृदय को भाव तक पहुँचने में सहायता ही प्रदान करता है। दूसरा उदाहरण लीजिये:—

खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै, अली अली जिय जानि ॥[1]

किसी बात को सुनकर फौरन उस पर विश्वास कर लेने और अस्थिर हो उठने के भाव को प्रकट करने के लिये 'कान की पातरी' और 'बहाऊ बानि' से अधिक उपयुक्त शब्द मिलने अति कठिन हैं। नायिका की (बहाऊ बानि) से अधीरता के अतिशय के साथ ('कान की पातरी' से) उसके आधार का खोखलापन भी इनसे स्पष्ट व्यञ्जित होता है जिससे सखी की सान्त्वना-क्रिया को बल मिलता है और नायक की निरपराधता की पुष्टि होती है। मुहावरों का संयत और संतुलित प्रयोग ही बिहारी ने प्राय: किया है। एक आध स्थल पर फारसी के प्रभाव से जहाँ कहीं वे बहक गये हैं वहाँ जरूर उनकी शाब्दिक कलाबाजी का करतब भाव को खटाई में डाल देता है—

मूँड़ चढ़ाएऊ रहै परयौ पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि, राखिबौ तऊ हियैं पर हारु।[2]

इस दोहे में 'मूँड़ चढाएऊ' 'पीठि परयौ' 'गरैं परि' 'हियैं पर' आदि का अनावश्यक भार ही तो कवि ने कभी 'मूड़' पर और कभी पींठ पर ढोया है या और कुछ? बिहारी द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरों और लोकोक्तियों की तालिका यहाँ दी जा रही है—

मुहावरे—

पानी में का लोनु (१८) मुँह चाँडि (२६) कान की पातरी (१४) उलटे पड़ना (४७) दई दई करना (५३) · आँख लगना (६२) छवै छिगुनी

१ बिहारी सतसई, १४
२ वही, ६२

पहुँचौ गिलत (१५६) डीठ लुकाना (२६०) पीठ देना (३४६) मूठ सी मारना (३४६) मुँह लगना (३६२) दृग लगना, पलक लगना (३६७) वाइ (हवा) लगना (७१) मूड मारना (३६६) लट्टू होना (४७१) ढोरी लाना (५१६) 'यइ घरु लगिहै काहि' (५८३) खेल न होना (६७१) चित्त चढना, त्यौर चढ़ाना (६७१) नाक चढ़ी रहना (६८४) मन में धरना (२३६) मन देना (२६०) दीठि लुकाना (२६०) मरोड़, गहना (४६०) डीठि लगना (६३५) ढूका देना (५१६) आदि वक्तव्य की अभिव्यक्ति और प्रतिपाद्य का समर्थन कर श्रोता या पाठक के हृदय पर सीधी चोट करने में लोकोक्तियाँ रामबाण होती है। विहारी ने लोकोक्तियों का उचित प्रयोग कर अपनी भाषा की व्यञ्जकता की बृद्धि की है, नीचे दिये हुए दोहो में ऐसी उक्तियों का प्रभाव लक्षित करने योग्य है :—

तो रस राँच्यौ आन-बस, कहौ कुटिल मति कूर।
जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चखि अंगूर ॥[1]
भावरि अनभावरि भरे करौ कोरि बकवादु।
अपनी अपनी भाँति कौ, छुटै न सहज सवादु ॥[2]
वहकि न इहिं बहिनापुली, जब तब बीर बिनास।
बचै न बड़ी सबील हूं, चील-घोसुवा माँस ॥[3]

बिहारी की भाषा पर विचार करते हुए स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास लिखते हैं—

"मुहाविरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह थे। हिन्दी में ऐसी बोलचाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी की कविता में नहीं पाए जाते। उर्दू के कवि-कुल-भूषण 'नसीम' और 'अनीस' भी कदाचित् बोल-चाल में इनके सामने न ठहर सकेगे।"[4] उनकी भाषा के विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसका सबसे पुष्ट प्रमाण यह है कि बिहारी द्वारा शब्दों की यत्किञ्चित् तोड़-मरोड़ पर नाँक-भौंह चढ़ाने वाले भी यह स्वीकार कर लेते हैं कि "इस कविरत्न की बोलचाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारत आराई भी खूब की है।"[5] जादू वह है जो सिर चढ़ के बोले।

१ वही १६७
२ वही ६३३
३ वही ६५३
४ कविवर बिहारीलाल, पृ० १७
५ हिन्दी-नवरत्न, मिश्र बन्धु, (द्वि० सं०, पृ० २६०)

बिहारी की भाषा के विषय में हिन्दी के प्रौढ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार पीछे दिये जा चुके है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास भी निम्नलिखित शब्दों द्वारा शुक्लजी के मत का पूर्णतया समर्थन करते है—

"उन्होंने शब्दों के साथ बलात्कार बहुत कम किया है। व्याकरण के नियमों का व्यतिक्रम उनकी रचनाओं में बहुत कम पाया जाता है। कही-कही पर जो उनके शब्द अजनबी से लगते है वे इस कारण कि उनका प्रयोग बहुत कम होता है जंसे बादल के अर्थ में वार्द और साफ के लिये अच्छ। ये शब्द अव्यवहृत अवश्य है पर है शुद्ध संस्कृत के। जहाँ कही इन्हें शब्दों को विकृत भी करना पड़ा है वहाँ पर इन्होंने ऐसा तोड़-मरोड़ नही किया है कि शब्द का रूप ही कुछ का कुछ हो जाय और भावाभिव्यक्ति में अड़चड़न पड़ने लगे। इसके एक दो ही अपवाद मिलते है, अधिक नही, जैसे स्मर के 'समर' और साँस के लिये संसो। फारसी अरबी के भी कई शब्दों का इन्होंने प्रयोग किया है जैसे किबिलनुमा, ताफता, सबील, गनी इत्यादि। इनकी वाक्य रचना बहुत गठी हुई है। उसमें एक भी शब्द भरती का नही पाया जा सकता। प्रत्येक शब्द किसी विशेष अभिप्राय से व्यवहृत हुआ है।"[1]

गुण-विचार

बिहारी की भाषा का विवेचन करते हुए साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत गुणों की दृष्टि से भी कुछ चर्चा कर ली जाय। अग्निपुराण में ही गुणों का बड़ा महत्त्व बताया गया है और उन्हें अलङ्कारों से ऊँचा स्थान दिया है।[2] वामन आदि प्राचीन आलङ्कारिकों ने माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, समाधि, उदारता, कान्ति, सौकुमार्य, समता और अर्थ-व्यक्ति, ये दस गुण माने हैं।

महाराज भोज ने अपने 'सरस्वती कण्ठाचरण' में इनके अतिरिक्त १४ अन्य गुणों का भी उल्लेख किया है, जो ये हैं—उदात्तता, औचित्य, प्रेय, सूक्ष्मता, सुशब्दता, गाम्भीर्य, व्यास, समास, सम्मित, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढोक्ति।[3] किन्तु संस्कृत के सर्वप्रौढ साहित्यशास्त्री आचार्य

१ सतसई-सप्तक की भूमिका (श्र० श्याम सुन्दरदास) पृ० ३१

२ अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥ (अग्निपुराण......)
अर्थात् काव्य अलंकृत होने पर भी यदि निर्गुण है, तो शोभायमान नहीं हो सकता। स्त्री के सौन्दर्यहीन शरीर पर 'हार' भार ही हो जाता है।

३ सरस्वती कण्ठाभरण

मम्मट ने भेद-उपभेद के पचड़े में न पड़ तीन ही गुण माने है—माधुर्य, ओज और प्रसाद। अन्य सभी गुणों का इन तीनों में ही उन्होंने अन्तर्भाव सिद्ध कर दिया है।[1]

यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो और कवियों पर मम्मट की अपेक्षा प्राचीन आलङ्कारिकों का ही प्रभाव अधिक पड़ा, पर इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि कविता के बाह्य आडम्बर अलङ्कार आदि की प्रधानता स्वीकार करके भी इन कवियों ने ज्ञात या अज्ञात रूप से अपनी कविता की आत्मा रस को हा रखा। इन सरस पद्यों की संख्या इतनी अधिक है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे शास्त्रनिष्ठ और दाद देने मे सतर्क आलोचक ने भी यह स्वीकार किया है कि "ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण सस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"[2] सस्कृत के प्राचीन आचार्यों से ही प्रभावित होकर 'दास' ने वामन आदि द्वारा प्रतिपादित दस गुणो का उल्लेख किया है और प्रसिद्ध आचार्य श्रीपति ने १० शब्द गुण और ८ अर्थगुण माने हैं:—

शब्द-गुण—उदारता, प्रसाद, उदात्त, समता, शान्ति, समाधि, उक्ति-प्रमोद, माधुर्य सुकुमारता और सक्षेप।

अर्थ-गुण—भव्यकला, पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, शब्दता, अर्थव्यक्ति, श्लेष, प्रसन्नता और ओज।

वास्तव में गुणों के अनेक भेदों के इस वितण्डावाद मे गुण कुछ भी नही है। इसीलिये व्यावहारिक रूप मे मम्मट के सिद्धान्त को ही अधिक प्रश्रय मिला है। भिखारीदास जी ने भी अन्त में इसको इन शब्दों मे मान्यता प्रदान कर दी है:—

माधुर्योज प्रसाद के सब गुण है आधीन।
तातें इनहीं को गनें मम्मट सुकवि प्रवीन॥[3]

मम्मट के अनुसार गुणों के लक्षण इस प्रकार है।

माधुर्य

आह्लादकत्त्वं माधुर्य शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥ काव्य प्रकाश-८-९०-९१

हृदय को द्रवित कर देने वाली आह्लादकला ही माधुर्य है वह (संयोग) शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ और शान्त रस में उत्तरोत्तर अधिक होना चाहिये।

१ काव्यप्रकाश, अष्टम सम्मुल्लास
२ काव्य-निर्णय
३ वही

ओज

> दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजी वीररसस्थितिः ।
> बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।। काव्य० ८-९२-९३

चित्तविस्तार एव दीप्तिजनक गुण ओज कहलाता है जो वीर, बीभत्स और रौद्र रस में क्रमशः अधिक होता चला जाता है ।

प्रसाद

> शुष्केन्धाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
> व्याप्नोत्ययत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।।[1]

जो सूखे ईंधन में अग्नि के समान चित्त में व्याप्त हो जाता है, स्वच्छ जल के समान फैल जाता है तथा अन्य सब गुणों को अभिभूत कर लेता है। वह प्रसाद गुण कहलाता है । यह सभी रसों में स्थित होता है ।

शृङ्गार रस में माधुर्यगुण-युक्त रचना तो होनी ही चाहिये, प्रसादगुण का योग भी अपेक्षित है । तभी माधुर्य सफल भी होता है । अर्थ-व्यक्ति में जितना विलम्ब होगा रसास्वादन में उतना ही व्याघात होगा । 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' के अनुसार प्रसाद शब्द प्रसन्नता का वाचक है । इसीलिये किसी देवता की प्रसन्नता के उपलक्ष में वितरण किये जाने वाला मधुर पदार्थ भी 'प्रसाद' शब्द से अभिहित होता है और विचारणीय बात यह है कि वह 'प्रसाद' प्रायः माधुर्यपूर्ण ही होता है । अतएव मधुर भावों की कविता में माधुर्य के साथ प्रसाद गुण का भी समावेश मणिकाञ्चन योग होता है । माधुर्य गुण में समासों के आधिक्य के निषेध और कोमल वर्णों के समावेश का आग्रह ही प्रसाद को स्वतः निमन्त्रित कर देता है । भाव-दुरूहता, शब्दकाठिन्य और वाक्य विन्यास की जटिलता से बचना कवि का काम है ।

बिहारी की उक्तियों में इन गुणों का स्वाभाविक विलास दीख पड़ता है । एक तो ब्रजभाषा स्वभाव से ही कोमल है, फिर उसमें शृङ्गार जैसे मधुर-रस की अभिव्यक्ति जो जगत को रसमय करने की सामर्थ्य रखता है, (शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्) तिस पर माधुर्य और प्रसाद का समावेश ! एक उदाहरण लीजिये :—

> अरुन बरन तरुनी चरन अंगुरी अतिसुकुमार ।
> चुवति सुरंग रंग-सी मनो चँपि बिछियन के भार ।।

---

[1] काव्य प्रकाश, अष्टम समुल्लास सूत्र ९४-९५

इस दोहे में न तो दीर्घ समास ही है और न संयुक्त वर्ण ही, टवर्गीय अक्षर भी नही है। ४१ व्यञ्जनों में से केवल पाँच में दीर्घ स्वरो का संयोग है—शेष ह्रस्व है। अनुनासिक और सानुस्वार वर्णों की प्रचुरता ने दोहे की सुकुमारता को 'तरुनी की अँगुरी' की सुकुमारता के लैविल (स्तर) पर ही नहीं पहुँचाया अपितु अपने कलनाद से संगीत के स्वरों को समेट कर 'विछियन' की शृङ्गारिक ध्वनि से भी होड़ लगाई है। भाव और भाषा के इस अनोखे सामञ्जस्य के उदाहरण अधिक नही हुआ करते, फिर भी बिहारी के अधिकतर दोहे इसी टाइप के मिलते है। भाव वस्तु या भाषागत किसी भी प्रकार की कठिनता इस दोहे मे नही है। 'माधुर्य' और 'प्रसाद' के इस सम्मिलित प्रयास से साधारण सी जानकारी वाला व्यक्ति भी रसका प्रसाद पा लेता है। बिहारी के कुछ दोहे ऐसे अवश्य हैं जिनमें इस प्रकार की रसात्मकता नहीं मिलती। जहाँ कहीं उन्होंने दूर की कौड़ी लाने की सोची है या गूढ अनुवृत्त की योजना की है वहाँ प्रसादात्मकता का भी साथ ही गोता लगा जाना स्वाभाविक ही है। शृङ्गार के वर्णन में ओज:प्रधान वर्णों की कटुध्वनि भी कहीं-कहीं सुनाई पड़ जाती है :—

लटकि लटकि लटकत चलत, डटत, मुकुट की छाँह।
चटक भरचौ नट मिलि गयौ, अटक भटक-बट माँह॥[1]

पर इसे सतसई के "नक्कारखाने में तूती की आवाज" (रूढ अर्थ में) ही समझिये। उक्त दोहे में 'टकार' के दारुण घोष में 'मिलन' का मज़ा ही किरकिरा कर दिया है। बिहारी जैसे शृङ्गारतत्त्वज्ञ कवि की ऐसी उक्ति को देखकर यदि किसी को यह 'भ्रान्ति' हो जाय कि बिहारी ने ऐसे दोहों की रचना 'दोषों' के उदाहरणों के लिये की है तो 'वाहवाहवादी' आलोचकों को नाराज न हो जाना चाहिये; और ऐसे ही अनेक उदाहरणों के आधार पर यदि कोई यह कहने लगे कि रचना करते समय अलङ्कार-शास्त्र बिहारी की दृष्टि से ओझल नहीं था तो गम्भीर आलोचकों को एक बार रुक कर विचार कर लेना चाहिये। जहाँ कहीं वीररस को शृङ्गार का सहायक बनाकर ओज:पूर्ण वर्णों से घटित पदों का उचित सीमा में प्रयोग किया गया है वहाँ वह शृङ्गार के उत्कर्ष का आधायक ही सिद्ध हुआ है—

पहुँचति डटि रन-सुभट लौं रोकि सकै सब नाँहि।
लाखनहूँ की भीर में आँखि उंहीं चलि जाँहि॥[2]

---

१ बिहारी सतसई, १६२
२ वही

सब कुछ मिलाकर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के आधार पर बिहारी की भाषा माधुर्यपूर्ण ही मानी जायगी, है ही। 'लाल' पर लट्टू होने वाली बिहारी की नायिका के समान ही बिहारी की भाषा के माधुर्य पर लट्टू होकर स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है:—

"बिहारी-सतसई की भाषा सर्वश्रेष्ठ, परम रसीली है। उसे छोड़कर जो दूसरी भाषा पढ़ते हैं, उनसे सहृदयता मचल-मचल कर कहती है—"जीभ निबौरी क्यो लगै, बौरी चाँखि अँगूर"[1]

अलंकार-विधान और अप्रस्तुत-योजना

बिहारी की भाषा पर इतना विचार कर लेने पर भी यदि उनके अलङ्कार-विधान और प्रतीक-योजना की चर्चा न की जाय तो वर्णन अधूरा सा ही रहेगा। अलङ्कारों का काव्य में प्रयोग बहुत पुरातन काल से होता आ रहा है। ऋग्वेद के कितने ही मन्त्र 'ज्ञान' की अपेक्षा भाव का ही उद्रेक अधिक करते हैं और कविता की कोटि में आ जाते हैं। उसमें भी उपमा रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग मिलता है। 'उपमा' शब्द भी वैदिक साहित्य में आया है।[2] और रूपकों का आश्रय किसी तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये उपनिषदों में भी लिया गया है।[3]

शास्त्रीय ढंग से अलंकारों का प्रतिपादन कब से हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। यदि अग्निपुराण को, जिसमें सभी काव्यांगों का वर्णन है। नाट्यशास्त्र के बाद का ही माना जाय तो यह मानना पड़ेगा कि अलंकारों का शास्त्रीय ढंग से सर्वप्रथम प्रतिपादन भरतमुनि ने ही किया जो निश्चय ही ई० पूर्व पहली शताब्दी से भी पहले रहे होंगे क्योंकि महाकवि कालिदास ने—जिनका आविर्भाव ई० पू० प्रथम शती में निश्चित हो चुका है—उनका उल्लेख किया है:—

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीस्पष्टरसाश्रयो नियुक्तः'[4]

भरतमुनि ने नाटक के सहायक चार अलङ्कारों—उपमा, रूपक, दीपक और यमक—का उल्लेख किया है:—

---

१ बिहारी सतसई

२ ईयुषी रागमुपमा शाश्वतीनाम्। (ऋ० १-११३-१५)
(तदप्युपमास्ति) (शतपथ ब्राह्मण १२-५-१-५)

३ देखिये बृहदारण्यक (४-३-२१) कठ (१-३-३)
तथा—उपमा का सुन्दर प्रयोग। अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः (मुण्डकोपनिषद २-६)

४ विक्रमोर्विशीय, (२-१७)

उपमारूपकं चैव दीपकं यमक तथा ।
अलङ्कारास्तु विसेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया: ॥[1]

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में आठ रस माने है और इस विषय में पूर्वाचार्यो का उल्लेख कर अपने मत का समर्थन किया है:—'ऐते ह्यष्टौ रसा: प्रोक्ताद्रुहिणेन दुरात्मना ।'[2] यदि 'नाट्यशास्त्र' की गणना काव्यशास्त्र में न की जाय तो यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र में अलंकारों की चर्चा रस से भी प्राचीन है क्योकि भरत के बाद के आचार्यो—दण्डी, भामह, वामन आदि – ने अलंकारों को प्रधानता दी है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि उन्होने अलंकारों का व्यापक अर्थ लिया था । काव्य के सौन्दर्य साधक सभी उपादानों को वे अलंकार' के अन्तर्गत मानते थे ।[3] भामह ने 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' (अर्थात् सुन्दरी का सुन्दर मुख भी अलंकारों के बिना शोभायमान नही होता) कहकर अलंकारों को महत्त्व दिया । दण्डी ने भी अलंकारों का महत्त्व स्वीकार किया है । रस को भी इन आचार्यो ने माना अवश्य है, पर गौण रूप से, रसवत् अलंकार के अन्तर्गत ही उसे माना है ।[4] ८वीं शताब्दी के आचार्य 'उद्भट' ने भी रस को 'रसवत्' अलंकार में ही रखा और अलंकारों की सख्या ४१ मानी । ९वीं शती में रुद्रट ने भी अलंकारों को महत्त्व दिया । इसी समय के लगभग 'अभिनवगुप्त' ने 'ध्वनिकार' के ध्वनिसिद्धान्त का विवेचन करते हुये 'रस' का भी विवेचन किया और अभिव्यक्ति का मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया । रस को ध्वनि के अन्दर मानकर भी ध्वनिकार ने 'रसध्वनि' को ही प्रधानता दी और अलंकार को गौण माना । ११ वीं शताब्दी में मम्मट ने 'भामह' के शब्दार्थो सहितौ काव्यम् (शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं) में अग्निपुराण के 'काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषविर्जितम्'[5] (अलंकारो के स्फुरण और गुणों से युक्त रचना को काव्य कहते है) को जोड़कर अपनी नई परिभाषा बनाई और अलंकारों का बोझ हलका करने के लिये कह दिया कि कभी कभी अलंकार न होने पर भी काव्यत्व अक्षुण्ण रहता है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।[6]

---

१ नाट्यशास्त्र (१-७४३)

२ नाट्यशास्त्र ६-१६

३ सौन्दर्यमलंकार: (वामनः)

४ भामह का काव्यालंकार (३, ६)

५ अग्नि पुराण ३३७, ७

६ काव्यप्रकाश, प्रथम समुल्लास, कारिका ३

१३वी शताब्दी के अलङ्कारवादी 'जयदेव' ने अपने चन्द्रालोक में अलङ्कारों को महत्त्व देते हुए मम्मट पर छीटे फेंके है। उनके अनुसार अलङ्कार रहित रचना काव्य हो ही नही सकती। काव्य को अलङ्कारहीन कहना ऐसा ही है जैसे अग्नि को शीतल बताना—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।।

(जो अलङ्काररहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि को शीतल क्यों नही मानता) १४वी शताब्दी में साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर अलङ्कारों को धकिया दिया और रस की प्रधानता का घण्टाघोष से प्रतिपादन किया।

रीतिकाल के आचार्य और कवि (प्रायः सभी कवि आचार्य भी थे प्रत्येक ने अलंकार का कोई न कोई छोटा-मोटा ग्रन्थ लिखा है) अलंकारवादियों से ही अधिक प्रभावित थे, और उनमें भी घोर अलंकारवादी 'चन्द्रालोककार' उनके उपजीव्य रहे। इस प्रवृत्ति के अन्य कारण चाहे जो रहे हों पर एक कारण यह अवश्य था कि इनमें से एक-आध को छोड़कर ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण जैसे प्रौढ़ ग्रंथों को समझने के लिये संस्कृत की पर्याप्त योग्यता ही न रखते थे, फिर जिन लोगों को कविता सुना-सुनाकर ये अपनी जीविका चलाते थे उन्हें अलंकारों का साधारण सा परिचय काव्य-बोध के लिए कराने के निमित्त घने बखेड़े में न पड़कर चन्द्रालोक की परिपाटी ही उचित जान पड़ी, जिसमें एक श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनों को रखकर काम चला लिया गया है। मतलब यह है कि यह अलकार विवेचन उनका आनुषंगिक कार्य था। अलंकारवाद के इस अतिशय प्रभाव के कारण रीतिकाल की कविता बड़ी सजधज के साथ सामने आई। काफी अवसरों पर यह सजधज इतनी अधिक हो जाती थी कि इसके भार से कविता कामिनी के पैर तो सीधे पड़ते ही न थे स्वाभाविक रूप भी अलंकारों की चमक-दमक में ही खो जाता। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अलंकारों का कुछ महत्त्व नहीं है। उनका महत्त्व है किन्तु साधन के रूप में साध्य के रूप में नहीं।

अग्निपुराण में अलंकारों का गौरव बड़े तपाक के साथ स्वीकार किया गया है और अर्थालकारों के बिना तो सरस्वती को विधवा ही बताया गया है[1], परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि "वाग्विदग्धता के प्रधान होने

१ अर्थालङ्कार रहिता विधवेव सरस्वती (अग्निपुराण)

पर भी काव्य का प्राण रस ही है[1]" जीवन-रहित प्रस्तर प्रतिमा पर अलकारो की जगमगाहट केवल एक बार ही द्रष्टा को आकृष्ट कर सकेगी। प्रतिमा के बाह्य और आन्तरिक तत्त्वों का असामञ्जस्य हृदय को रमा नही सकता, पर जब उस मूर्त्ति में ईश्वर-भाव की प्रतिष्ठा करली जायेगी तो सिर स्वयं ही उसके सामने नत हो जायेगा। कविता मे भी जब तक भाव नहीं तब तक अलंकारों से पूर्ण होकर भी वह दिल पर असर नही कर सकती, उसे सुनकर श्रोता का सिर नही हिल सकता भले हो आँखे विस्मय से विस्फुरित हो जायें। भावभरी कविता के लिये सीधी-साधी उक्तियाँ ही अलंकार बन जाती है। सुन्दर आकृति के लिये सभी वस्तुएँ अलंकार बन जाती है[2] या उसके लिये अलंकारो की जरूरत ही नही।

बिहारी रीतिकाल के कवि है। उस समय 'जग' में जो हवा चल रही थी वह थोड़ी-बहुत उन्हे भी लगी, यह स्वाभाविक ही था किन्तु बिहारी की महत्ता इसमें है कि इस हवा का असर उन्होंने अपने हृदय पर न होने दिया, त्वचा से ही उसका स्पर्श हुआ। उनकी रचना मे लगभग सभी अलंकारों के उदाहरण मिल जायेंगे। (काव्यशास्त्र के अन्य अंगों के प्रभाव का उल्लेख पीछे हो चुका है) पर उनका मुख्य उद्देश्य रसास्वादन ही है। कुछ गिनी-चुनी उक्तियों को छोड़कर, उनके अलंकार सर्वत्र भाव को तीव्रता प्रदान करते है।

शब्दालंकार

जब काव्य में अर्थ-गौरव का परित्याग कर केवल शब्दालङ्कार की रुनझुन को ही लक्ष्य बना लिया जाता है तो वह हृदय में एक ऐसी चटपटी उत्पन्न कर देता है जो अनुभूति की गहराई तक पहुँचने में बाधक होती है। ऐसे काव्य की तुलना उस खाली मोटरगाड़ी से की जा सकती है जिसके ट्यूब में हवा पूरी-पूरी भरी होती है और जो अपने भीतरी सूनेपन के साथ अपनी मन्द भी उद्धत प्रतीत होती हुई गति से हृदय पर कुछ अच्छा प्रभाव नहीं छोड़ जाती; जिस प्रकार उसकी गति सम नहीं रह सकती उसी प्रकार अर्थभार से रहित शब्दालङ्कारों की ध्वनि से भी काव्य संगीत की तान 'सम' पर नहीं आ सकती जहाँ श्रोता का सिर आप से आप हिल उठता है। उसके शब्द मानो गर्दन उठाकर और सीना तान कर पाठक या श्रोता के सामने ऐसे खड़े हो जाते हैं कि वह या तो उनके व्यक्तित्व से सहमा सा होकर या

१ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। (वही)

२ किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् (कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तल प्रथमअङ्क)

उनकी अकड़ से मुँह फेर लेने के कारण, न तो काव्य की अनुभूति तक पहुँच पाता है और न ही गीत की तान के 'सम' तक। परन्तु जहाँ शब्दालङ्कार के साथ अर्थ का गौरव भी बना रहता है वहाँ इस सन्तुलन के कारण संगीत की सम गति तो रहती ही है, उसके साथ लगा हुआ मन भी सहज ही काव्यानुभूति तक भी पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है कि अलङ्कार साध्य बन कर भी काव्य में आ सकते हैं और साधन बन कर भी। जहाँ ये साध्य बन कर मुख्यता प्राप्त कर लेते हैं वहाँ अर्थ अथवा भाव गौण हो जाता है जिससे हृदय में चमत्कृति तो होती है पर किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती जो काव्य का काव्यत्व सँभाले रहती है। परन्तु जब अलङ्कार साधन बनकर अर्थ अथवा भाव को मार्मिक बनाने में प्रयत्नशील लक्षित होते हैं वहाँ वे अनुभूति में सान्द्रता के आधायक बन जाते है और अपनी स्वतन्त्रता खोकर भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। स्वार्थी और परमार्थी में जितना अन्तर होता है अलंकारों के साध्य और साधन रूप में भी उतना ही अन्तर समझना चाहिये। समाज परमार्थी की ही प्रशंसा करता है।

"रीतिकाल के कवियों में शब्दालंकार के प्रयोग बहुत हैं पर अधिकतर वे काव्य के घटिया प्रभाव को उत्पन्न कर के रह जाते हैं, अर्थ की वाह्य सत्ता से उनका जितना सम्बन्ध होता है उतना रमणीयता उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नहीं होता। बिहारी ने अर्थ की रमणीयता का ध्यान बराबर रखा है। इसीलिये उनके शब्दालंकार रसोद्रेक के सहायक होकर आते है।"[1] उदाहरण लीजिये—

रनित-भृंग-घंटावली, झरित दान मधुनीरु।
मंद-मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु-कुंज-समीरु॥[2]

इस दोहे में कुंज-समीर पर हाथी का आरोप करके रूपक बाँधा गया है। विषय और विषयी (आरोप विषय आरोग्यमाण) दोनों के समान धर्म की साथ-साथ अनुभूति कराकर उनमें सामञ्जस्य की स्थापना का कार्य अनुप्रास, यमक और वीप्सा आदि शब्दालंकार कर रहे हैं। इन की बदौलत भाषा में जो नादात्मकता अथवा झंकार आगई है वह घण्टाधारी हाथी की मत्त गति और कुंज-समीर की रुक-रुक कर लताओं के अन्तराल में से संगीतजनक निर्गति की पूरी-पूरी अनुभूति एकसाथ करा देती है। शब्दालकारों ने अर्थालंकार

१ हिन्दी साहित्य (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३३१

२ बिहारी सतसई ३८८

(रूपक) में प्राण डालने के साथ ही अनुभूति में भी सजीवता ला दी है, उनका अपना व्यक्तित्व अनुभूति से पृथक् प्रतीत नहीं होता। एक उदाहरण और लीजिये—

सटपटाति-सै ससिमुखी, मुख घूँघट-पटु ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ॥

प्रथम पंक्ति का अनुप्रास 'सटपटाने' में निहित नायिका के 'व्रीडा' 'भय' 'औत्सुक्य' आदि भावों का पूरा आभास देता है। दूसरी पंक्ति में 'पावक-झर' से दीप्ति आदि के अतिरिक्त 'चपलता' की जो प्रतीति होती है उसमें 'झमकने' से स्थिरता आ गई है, साथ ही साथ 'झमकना' शब्द नायिका के आभूषणों की मधुर ध्वनि का आभास देता हुआ अनुभूति को और उद्दीप्त करता है, फिर झंकार का पूरा अनुप्रास आभूषणों की ध्वनि के अनुरणन की सूचना देता हुआ लौटती हुई नायिका की गति का अत्यन्त स्पष्ट चित्र देता है। नायिका की गति की प्रगति उससे साफ-साफ व्यञ्जित हो जाती है और इन सब का समग्र रूप से अनुभव करता हुआ पाठक या श्रोता आत्मविस्मृत होकर रस में मग्न हो जाता है।

इस विवेचन से यह न समझ लेना चाहिये कि बिहारी ने सर्वत्र अलंकारों का ऐसा ही सदुपयोग किया है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, जग की हवा बिहारी को भी लगी थी, इसलिये कहीं-कहीं उन्होंने अलंकारों का दुरुपयोग भी किया है। शुद्ध चमत्कार की दृष्टि से भी अलंकारों की शरण उन्होंने ली है परन्तु कभी-कभी—

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत, आये बनमालीन ॥

अनुप्रास की चमत्कृति के सिवा इस दोहे में और भी कुछ है ? यह अच्छा नहीं हुआ कि बिहारी भी अपने बनमाली के समान ही निठुर साबित हुए। 'नभलाली', 'चटकाली' 'आली' आदि के चक्कर में न पडकर यदि वे अपनी खण्डिता नायिका से यह पूछ लेते कि 'रात कैसे कटी ?' तो सहृदयता उपेक्षा का अनुभव न करती। एक और उदाहरण लीजिये, जिसमें कवि 'यमक' के जोड़े जुटाने में ही जुटा रहा और भाव अपने को उपेक्षित अनुभव कर किसी आत्माभिमानी के समान चुपचाप वहाँ से खिसक गया—

नख-रेखा सोहैं नईं, अलसौहै सब गात।
सौहैं होत न नैन ये, तुम कत सौहैं खात ॥[२]

---

१ बिहारी सतसई

२ वही २४०

इसमें खण्डिता और उसके नायक के भावों चेष्टाओं आदि की अभिव्यक्ति में अलसाता हुआ सा कवि दोहे के चारों चरणों में किसी न किसी तरह 'सौहे' जोड़ने की धुन मे है। तीन चरणों में सौहे आगया पर पहले में 'सोहे' ही रहा' किन्तु आलकारिको के अनुसार कवि को इतनी छूट प्राप्त है, यमक की तुक के लिये 'ड-ल' 'ब-व' और 'ओ-औ' में भेद नही माना गया है। 'सौहे' के इस चतुष्पद यमक से भी मनस्तुष्टि का अनुभव न होता देखकर बिहारी ने उसमें 'ल' और जोड़ कर 'लसौहे' का यमक भी बड़ी सजधज के साथ प्रस्तुत किया है—

पलसोहै पगि पीकरँग, छल सोहै सब बैन।
बल सौहै कत कीजियत, ए अलसौहे नैन ॥[1]

दोनों दोहों के भावों मे क्या अन्तर है? पिष्टपेषण है या नवीनता, आदि बातों के कहने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती। कवि की दृष्टि विशुद्ध चमत्कार पर डटी हुई है। ऐसा ही शब्द-श्लेष का एक उदाहरण देखिये जिसमें चमत्कार हा चमत्कार है—

अजौ तरचौना ही रह्यौ, श्रुति सेवक एक अंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतनु कैं संग ॥[2]

जिस 'तरचौना' का वर्णन कवि कर रहा है उसका कुछ भी तो आभास नहीं मिलता। नायिका के सौन्दर्य में वह क्या वृद्धि करता है? द्रष्टा के हृदय पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है? आदि बातें तो दूर रहीं, स्वयं उसकी शकल-सूरत या गढन का भी उल्लेख हो जाता तो भी सन्तोष था, पर बिहारी तो भाव की निर्मम हत्या कर 'बेसर' को स्वर्ग पहुँचाने में लगे थे।

एक दो दोहों में 'मुद्रा' अलंकार का भी चमत्कार देखा जा सकता है। इस अलंकार में प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की ओर भी कवि का संकेत रहता है। यदि वह अन्य अर्थ किसी न किसी रूप में वर्ण्यविषय से सामञ्जस्य प्राप्त कर सके तब तो इस अलंकार का कुछ उपयोग हो जाता है, नहीं तो पद्य की परिधि में व्यर्थ ही भानुमती का कुनबा जुड़ जाता है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भास ने प्रायः अपने नाटकों के नान्दी पद्य में ही अभीष्ट देवता की स्तुति के साथ इस अलंकार का आश्रय लेकर नाटक के अनेक पात्रों के नाम भी सूचित कर दिये हैं—

---

१ वही ४६८

२ बिहारी सतसई २०

उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम् ।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम् ॥[1]

मङ्गलाचरण नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिये किया गया है और उक्त नामों के पात्र नाटक से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार किसी न किसी रूप में प्रकृत और प्रतीत अप्रकृत अर्थ का सामञ्जस्य बैठ जाता है। यदि यह न भी माना जाय तो भी पाठक को कम से कम उन पात्रों के नाम का तो पता चल ही जाता है जिन्हें वह आगे नाटक में देखेगा, परन्तु नीचे लिखे दोहे में बिहारी ने जो 'फुलवारी' लगाई है उसका उनकी खण्डिता और उसके 'भाव या उक्ति से क्या सम्बन्ध है यह तो वे ही जानते होंगे अथवा वे टीकाकार जो इस में और भी नये-नये फूलों की कल्पना करके बिहारी के इस कारनामे पर दाद के साथ इनाम भी देते है—

कत लपटइयतु मो गरै, सो न जुही निसि सैन ।
जिहि चंपकबरनी किये, गुल्लाला रंग नैन ॥४९९॥

बिहारी ने तो शायद मोगरे, सोनजुही, चम्पक और गुल्लाला की ही माला गूँथी थी परन्तु उनके टीकाकारों ने उसमें लपटइया=इश्कपेचा, निसि-सैन=कमल, बरनी=वर्णा तथा नैन=पञ्चनैन के फूल और खोज लिये है।

अर्थालंकार

इन अर्थालंकारों को प्रधान आधार के अनुसार चार श्रेणियों में रखा जा सकता है—साम्यमूलक, वैषम्यमूलक, शृङ्खलामूलक और न्यायमूलक।

साम्यमूलक

अलंकारों को भी कई वर्गो में रखा जा सकता है। जब प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के रूप, गुण, धर्म आदि के साम्य के आधार पर उनमें अभेद मान लिया जाता है तो अभेद-प्रधान साम्यमूलक अलंकारों की सृष्टि होती है—रूपक, अपन्हुति, सन्देह, उल्लेख, परिणाम आदि अलंकारों की गणना इसी वर्ग में होनी चाहिये। परन्तु जब उपमान और उपमेय में साम्य की स्थापना करने पर भी उन्हें स्पष्टतः पृथक् प्रकट किया जाता है, तो भेदप्रधान साम्यमूलक अलंकारों का आविर्भाव हो जाता है—प्रतीप, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, सहोक्ति विनोक्ति और व्यतिरेक में यही बात है। उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय और स्मरण अलंकार भी इसी कोटि में आनें चाहिये। जिस

---

१ स्वप्नवासदत्त नान्दी श्लोक

अलंकार में उपमान और उपमेय के साम्य का कथन न होकर केवल प्रतीति होती है उसे प्रतीतिप्रधान कहा जा सकता है, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा ऐसे ही अलंकार हैं। कुछ अलंकारो का पूरा दारमदार सामान्य अर्थ पर न रहकर व्यञ्जित साम्य पर निर्भर रहता है, उन्हें व्यङ्ग्यप्रधान साम्यमूलक कहा जा सकता है, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति आदि अलंकार ऐसे ही है।

वैषम्यमूलक

कार्य-कारण के विच्छेद के आधार पर या गुणों के आधार पदार्थों की पारस्परिक वैषम्य के कारण जब अर्थ में चमत्कृति आती है तब वैषम्यमूलक अलंकारों की सृष्टि होती है। विरोधाभास, विभावना विशेषोक्ति, असंगति, विषम और व्याघात इसी जाति के अलंकार हैं।

शृङ्खलामूलक

जब एक से अधिक पदार्थों का वर्णन इस ढंग से होता है कि वे एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हुए एक शृङ्खला में आबद्ध हो जाते हैं और अर्थ में चमत्कार लाते है, तो शृङ्खलामूलक अलंकारों का जन्म होता है, कारणमाला, एकावली, सार और मालादीपक इसी श्रेणी में आते है।

न्यायमूलक

जब किसी युक्ति, तर्क, नियम, लोकव्यवहार आदि से अनुप्राणित वाक्य द्वारा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न होता है तो परिसंख्या, समुच्चय, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तिरन्यास अर्थापत्ति, भाविक आदि अलंकार होते हैं जिन्हें न्यायमूलक कहा जा सकता है।

प्रस्तुत वस्तु या विषय का पूरा-पूरा चित्र देने के लिये कवि बाह्य जगत् और अपने कल्पना-लोक की अनेक अप्रस्तुत वस्तुओं की भी अवतारणा करता है जिससे अर्थ-वैचित्र्य द्वारा प्रस्तुत विषय की मानवहृदय को स्पर्श करने की सामर्थ्य बढ़ जाती है—उससे प्रबुद्ध हुए भावों में सान्द्रता आ जाती है। इससे स्पष्ट है कि अर्थालंकार यदि भावपोषण के अपने क्षेत्र से आगे जाने की अनधिकार चेष्टा करते हैं तो अपने उपजीव्य का अहित ही कर पाते हैं और यदि उनका प्रयोग उचित सीमा में होता है तो भाव को उद्दीप्त कर वर्ण्यवस्तु के प्रभाव को सघन बनाते हैं, विशेष रूप से सादृश्य मूलक अलंकार वस्तु के सहज गुणों और आधेय व्यापारों का इतना स्पष्ट चित्र अंकित करते हैं कि हृदय उसकी अनुभूति में अनजाने ही तल्लीन हो जाता है, इन अलंकारों

की खूबी इसी में है कि वे मनोवेग के अनुचर बनकर चले, यदि उसकी अपेक्षा न कर वे अपनी ही डफली बजाने की चेष्टा करते है तो पाठक के हृदय को क्षण भर के लिये चमत्कार से ही चकृत कर सकते है उसे रस नहीं दे सकते।

बिहारी ने यद्यपि उक्त श्रेणियों के लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग किया है पर सबसे अधिक रुचिकर उन्हे साम्यमूलक और उससे कुछ ही उतर कर वैषम्यमूलक अलंकार थे। इनमें भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा विरोधाभास और असंगति उन्हें विशेष प्रिय प्रतीत होते है।

उपमा के सभी भेद बिहारी के दोहों में मिल जाते है यहाँ पर कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है—

पूर्णोपमा

चिलक चिकनई, चटक सौ लफति सटक लौं आइ।
नारि सलौनी साँवरी नागिन लौ डसि जाइ ॥१९६॥

इस दोहे मे नारी उपमेय है और नागिन उपमान, लौं वाचक शब्द है तथा चिलक, चिकनई चटक आदि समान धर्म है।

धर्मलुप्ता

चढ़ी अटा निरखति घटा बिज्जु छटा सी नारि।

उपमेयलुप्ता

नई लगनि कुल की सकुच विकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं फिरि जाइ ॥

यहाँ पर उपमेय नायिका का उल्लेख नहीं है।

वाचकलुप्ता

कत लपटैयत मोगरैं सोन जुही निसि सैन।
जिहिं चम्पकवरनी किये गुल्लाला रंग नैन ॥४९९॥

नैन उपमेय, गुल्लाला उपमान, रंग धर्म परन्तु वाचक शब्द लुप्त है। इस दोहे में मुद्रा अलङ्कार भी है।

रूपक

डारे ठोड़ी गाड़, गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूप ठग हाँसी-फाँसी डारि ॥१७॥

विरोधाभास

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्यामरंग, त्यौं त्यौं उज्जल होइ ।। १२१ ।।
एरी यह तेरी दई क्यौं हूं प्रकृति न जाइ।
नेह भरै हिय राखियै, तउ रूखियै लखाइ ।। ६०३ ।।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ कारण के प्रस्तुत रहते हुए भी कार्य का अभाव प्रदर्शित किया जाय—

लाल तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हूँ, झरहूँ मिटै न झार ।। ३९ ।।

साम्यमूलक और वषम्यमूलक अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी बिहारी ने यथारुचि प्रयोग किया है कतिपय उदाहरण दिये जाते है—

यथासंख्य

चलत पाइ निगुनी गुनी, धन मनि-मुत्तिय-माल।
भेंट होत जयसाहि सौं भाग चाहियत भाल ।। १५६ ।।

अर्थान्तरन्यास

को कहि सकै बड़ेन सौं, लखै बड़ी यौ भूल।
दीने दई गुलाब की इन डारन वे फूल। ४२९ ।।

बड़े आदमियों की बड़ी गलती के विषय में भी कोई कुछ कहने का साहस नहीं कर सकता। इस सामान्य कथन का गुलाब की काँटेदार शाखा में कोमल पुष्प लगाने की ब्रह्मा की विशेष भूल द्वारा समथन किया गया है। अतः अर्थान्तिरन्यास हुआ।

कारक-दीपक

अरतैं टरैं न बल परे दई मरक मनु मैन।
हाँड़ा होड़ी बढ चले चित चतुराई, नैन ।। ३ ।।

यह, चित, चतुराई और नैन, इन अनेक कारकों का एक 'बढचले' क्रिया से अन्वय होने के कारण 'कारक-दीपक' है।

क्रिया-दीपक

हँसि हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति वचन ललकि ललकि लपटाति ।। १७९ ।।

यहाँ हेरना, उमदाना, बोलना आदि अनेक क्रियाओ का सम्बन्ध एक कर्त्ता (नवल तिय) से है अतः क्रिया-दीपक है।

विषम

लौने मुहुँ दीठि न लगै यौ कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगा, दियै दिठौना दीठि ।। २८ ।।

यहाँ दृष्टिदोष से बचने के लिये जिस उपाय का आश्रय लिया था वह उलटा दृष्टिदोष लगाने वाला ही सिद्ध हुआ अतः विषम अलकार है।

इसी प्रकार—

कन दैवौ सौप्यौ ससुर बहू थुरहथी जानि।
रूप रँहचटै लगि लग्यौ, माँगन सब जग आनि ।। २६५ ।।

रूपक बिहारी का प्रिय अलंकार है। दोहे के संकीर्ण क्षेत्र में साङ्ग रूपक का सर्वथा निर्वाह बिहारी के असाधारण भाषाधिकार का सूचक है। बिहारी के लगभग ५० दोहे रूपक के उदाहरण रूप में रखे जा सकते है।[१] एक उदाहरण लीजिये—

कौड़ी आँसू बूँद कसि साँकर बरुनी सजल।
कीने बदर निमूँद, दृगमलिंग डारे रहत ।।२३०।।

अपन्हुति—

वेई गड़ि गाड़ै परीं, उपट्यौ हारु हियै न।
आन्यौ मोरि मतंग मन, मारि गुरेरन मैन ।।६७।।

दृष्टान्त—

रूपक की ही भाँति दृष्टान्त भी बिहारी का प्रिय अलंकार है जिसका उन्होंने पर्याप्त प्रयोग किया है। उदाहरण लीजिये—

कहा भयौ जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाहु कितहू गुडी तऊ उडायक हाथ ।।५७।।

उत्प्रेक्षा—

लसत सेत सारी ढप्यौ, तरल तरयौना कान।
परयौ मनौ सुर-सरि-सलिल, रवि प्रतिबिम्ब विहान ।।१०६

यहाँ पर तो लोकसिद्ध सादृश्यविधान के आधार पर संभावना की गई है। कभी-कभी कवि कल्पित वस्तु के सादृश्य की संभावना से ही उत्प्रेक्षा की सृष्टि करता है—

---

१ देखिये दोहा नं० १६, २५, ४५, १०४, १७८, २१६ आदि

मकराकृति गोपाल के कुण्डल सोहत कान।
धरचौ मनौ हिय-धर समर, ड्योढी लसत निसान ॥१०३॥

कामदेव अपना झण्डा फहरा कर मनुष्य के हृदय में अधिष्ठित होता हुआ नहीं देखा जाता किन्तु कवि ने उसकी कल्पना करली है।

प्रतिवस्तूपमा

चटक न छाँड़त घटत हू सज्जन नेह गंभीरु।
फीक्यौ परै न बरु घटै रँग्यौ चोल-रँग चीरु॥

यहाँ पर रँग का फीका न पड़ना और चटक न छोड़ना एक ही धर्म है जिसकी एक ही वाक्य मे दो जगह स्थिति है अतएव प्रतिवस्तूपमा अलकार है।

समासोक्ति

सरस कुसुम मँडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात।
दरसत अति सुकुमार तन, परसत मन न पत्यात ॥३६८॥

सरस एवं सुकुमार विशेषण कोमलाङ्गी नायिका को तथा झुक झपट कर न लिपटना नायक को उपस्थित करते हैं अतः विशेषणों के सामर्थ्य से अन्य अर्थ अवभासित होने के कारण समासोक्ति अलंकार हुआ।

सूक्ष्म

बाह्य चेष्टाओं और इंगितों द्वारा गुप्तरूप से अर्थ को प्रकट करने में सूक्ष्म अलंकार होता है—

लखि गुरु जन-बिच कमल सौ सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी, हियैं लगाई वाम ॥ ३४ ॥

नायक ने कमल से अपना सिर छुआकर नायिका के चरण कमलों में प्रणाम निवेदित किया और नायिका ने उत्तर में अपनी आरसी नायक के सम्मुख करके हृदय से लगाली। आरसी के नायक के सम्मुख करने पर नायक का प्रतिबिम्ब उसमें संक्रान्त हुआ और पुनः उसे अपने हृदय से लगाकर नायिका ने यह प्रकट किया कि तुम सदैव मेरे हृदय में विद्यमान हो।

सहोक्ति

छुटत मुठिनु सँग ही छुटी, लोकलाज कुल-चाल।
लगे दुहुन इक बेर ही, चल-चित नैन गुलाल ॥ ३५१ ॥

सारांश यह है कि रीतिग्रन्थों में प्रतिपादित किसी भी अलंकार का उदाहरण बिहारी सतसई में खोजा जा सकता है। यहाँ केवल बानगीरूप में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इस पचड़े का अधिक तूल न बाँधकर

बिहारी के अप्रस्तुतविधान पर भी कुछ विचार कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है। किसी प्रस्तुत वस्तु अथवा उपमेय के सौन्दर्य, प्रभाव आदि गुणों की अनुभूति कराने के लिये कवि अप्रस्तुत अथवा उपमान की योजना करता है। कभी-कभी तो इस उपमान में केवल सादृश्य ही रहता है और कभी-कभी सादृश्य के साथ साधर्म्य भी हुआ करता है। यों तो केवल शब्द-सादृश्य के आधार पर भी उपमान-योजना प्राचीनकाल से ही कवि समुदाय करता चला आ रहा है; बाण की कादम्बरी मे इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं; केशवदास की 'पाण्डव को प्रतिमासम लेखौ; अर्जुन भीम महामति देखौ' उक्ति भी केवल शब्द सादृश्य के आधार पर उपमा प्रस्तुत करती है; किन्तु अप्रस्तुत वही श्रेष्ठ कहा जा सकता है जिसमें सादृश्य तथा साधर्म्य दोनो का ही योग हो। कभी-कभी कवि किसी पदार्थ विशेष के लिये नही अपितु समूचे दृश्य अथवा परिस्थिति के लिये अप्रस्तुत की अवतारणा करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कार्य में प्रस्तुत की व्यापकता के अनुपात से ही कवि का कौशल भी अपेक्षाकृत अधिक अपेक्षित है। उपमा तथा रूपक मे स्फुट और समन्वित दोनो ही प्रकार की अप्रस्तुत योजना होती है अर्थात् किसी पदार्थ विशेष अथवा समूची परिस्थिति के लिए भी उपमा या रूपक के रूप मे अप्रस्तुत-योजना की जाती है किन्तु उत्प्रेक्षा बहुधा समन्वित रूप के लिये ही अपनाई जाती है। बिहारी ने रूप-वर्णन तथा रूप-प्रभाव की अभिव्यक्ति के लिये प्रायः उत्प्रेक्षा का ही आश्रय लिया है।

उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत-योजना दो प्रकार की हो सकती है स्वतः संभवी अथवा कविकल्पित। कवि-कल्पित अप्रस्तुत वस्तु ऐसी होनी चाहिये जिसकी कल्पना सामान्य श्रेणी का पाठक भी सहज ही कर ले और रमणीयता के साथ साथ समीचीनता भी उसमें हो। बिहारी का एक उदाहरण लीजिये—

सोहत औढ़ै पीतु पटु, स्याम सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु परयौ प्रभात ।।६८९।।

इस दोहे में नीलमणि का पर्वत कल्पित उपमान है किन्तु वह पाठक की कल्पना से बाहर नहीं। वह सहज ही उसकी कल्पना कर सकता है। अतएव यह उत्प्रेक्षा अच्छी ही कही जायगी। स्वतः संभवी अप्रस्तुत का भी बिहारी ने मनोहारी प्रयोग किया है। उदाहरण लीजिये—

लसतु सेतसारी ढक्यौ, तरल तरयौना कान।
परयौ मनौ सुरसरि-सलिल, रवि प्रतिबिम्ब विहान ।।१०६।।

गङ्गा के जल में प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब स्वतः सम्भवी है। जब कभी कवि प्रस्तुत के रूप में पूरे दृश्य अथवा स्थिति की योजना करता है और उसके लिये उपयुक्त स्वतःसंभवी अप्रस्तुत नहीं पाता तो उसे कल्पित उपमान का ही आश्रय लेना पड़ता है। दृश्य-बिधान की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि बिहारी ने सादृश्य का द्योतन करने के लिये प्राय: उपमाओं का आश्रय लिया हैं तथा साधर्म्य को लक्ष्य कर उत्प्रेक्षाओं का। उपमागत अप्रस्तुत दृश्य उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत की अपेक्षा सीमित रहा है, वह उपमेयपक्ष से बहुत कुछ साम्य रखता है, बहुत बड़े-बड़े दृश्यों की योजना उसमें नहीं हुई किन्तु उत्प्रेक्षा में उपमानपक्ष के विशालरूप की कल्पना भी मिलती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उपमा द्वारा रूपग्रहण में बिहारी ने सादृश्य को मुख्यरूप से दृष्टि में रखा है और उत्प्रेक्षा के विधान में प्रभाव को। वास्तव में उपमा और उत्प्रेक्षा का यही सूक्ष्म और मौलिक अन्तर है। उदाहरण लीजिये—

हरि-छवि-जल जब तें परे, तबतै छिन बिछुरै न।
भरत ढरँत बूड़त तरत, रहत घरी लौ नैन ॥३०७॥

यहाँ आँखों के लिये घड़ी की कटोरी को उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है। कटोरी में पानी का भरना, उसका ढरना, डूबना और तरना नयनों का अश्रुभरा होना, आँसू बहाना, आँसुओं से भरे हुए नयनों में पुतलियों का फिरना आदि से साम्य रखता है। कवि की दृष्टि केवल रूप सादृश्य पर है प्रभाव की अभिव्यक्ति पर नहीं। उपमान पक्षीय दृश्य विशाल भी नहीं है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि उपमा में प्रभाव की अभिव्यक्ति होती ही नहीं, होती है और मार्मिक ढँग से होती है फिर भी प्रधानता सादृश्य की ही रहती है। एक उदाहरण लीजिये—

सहज सेत पंचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जलचादर के दीप लौं, जगमगाति तनजोति ॥३३६॥

'अति छबि होति' और 'जगमगाति' में वक्ता द्वारा आहित काकु की कल्पना भी यदि करली जाय तो सौन्दर्य का वक्तृहृदयगत प्रभाव स्पष्ट ही प्रकट होता है। यदि काकु का अस्तित्व न भी स्वीकार किया जाय तो भी रमणीयता एवं तज्जन्य प्रभाव है ही। 'जगमगाति तनज्योति' उक्ति अप्रभावित हृदय से आ ही नहीं सकती, फिर भी सादृश्य का आग्रह ही दोहे में अधिक है। अब उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण लीजिये—

जरीकोर गोरै बदन बढी खरी छवि देख।
लसति मनौ बिजुरी किए सारद-ससि परिवेष ॥३६४॥

यहाँ शरदृऋतु के चन्द्रमा के चारों ओर विद्युल्लेखा का परिवेष एक विशाल दृश्य है, सादृश्य का आधार भी इसमें है। शरदृऋतु में बिजली द्वारा शशि का परिवेष संभव भी नहीं अतः यह दृश्य कविकल्पित ही है। लोक दुर्लभ दृश्य की कल्पना उसकी अनिर्वचनीयता की द्योतक होती है और अनिर्वचनीयता विस्मय की सूचक है जो स्वयं अद्भुत सौन्दर्य से प्रभावित हृदय की स्थिति विशेष से भिन्न कुछ नही है। कवि का प्रमुख लक्ष्य भी यही है। उपमा और उत्प्रेक्षा के इस सूक्ष्म अन्तर का निर्वाह साधारण कोटि के कवियों मे नहीं मिलता। बिहारी के अप्रस्तुत-विधान का कौशल इसी से स्पष्ट हो जाता है।

किन्तु बिहारी के सभी दोहों में वह कौशल नहीं पाया जाता कहीं-कहीं उन्होंने रमणीयता, साधर्म्य आदि की उपेक्षा करके केवल चमत्कार खड़ा करने का प्रयास किया है। उपमानपक्ष की योजना रूपग्रहण के अतिरिक्त अवसरोचित प्रभाव डालने के लिये भी होती है बिहारी की "ए तेरे सब तैं बिसम ईछन तीछन बान" तथा "दृगनु रही साँझ सी फूलि" आदि उक्तियाँ ऐसी ही हैं। किन्तु जब बिहारी ज्योतिषशास्त्र के कल्पित रँगों के आधार पर रूप का चित्र खड़ा करते हैं तो उसमें रंग तो आही नहीं पाते उलटे रेखाएँ भी अस्पष्ट हो जाती है—

मंगलु बिन्दु सुरंगु, मुख ससि केसर-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत् ॥४२॥

उपमानपक्ष में आकाश से उतारे हुए ये तारे अपने कल्पित रँगों से नायिका के मुख, बिन्दी, केसर का तिलक आदि की शोभा को बढ़ाना तो दूर रहा उनके सहज रूप में भी उपस्थित करने में असमर्थ हैं फिर लोचनों को 'रसमय' कैसे कर सकते हैं। सूर और तुलसी ने कृष्ण तथा राम के बालरूप-वर्णन में जो नक्षत्रों को उपमान रूप में निबद्ध किया है उसके सम्बन्ध म, जैसा कि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कहा है, दो बातें और हैं "एक तो वहाँ वे नक्षत्र बालकों के मस्तक पर बालों में गुँथे हुए रत्नों या रंग-बिरंगे मोतियों के लिए उपमान रूप में लाए गए हैं, इसलिए दृश्य जगत् में नक्षत्रों का जो छोटासा मोती के दाने या नग का सा आकार दिखाई देता है वह भी रंग के अतिरिक्त ध्यान में आता है अर्थात् वहाँ रूप-साम्य भी है। दूसरे उन्होंने उपमान-पक्ष की संभावना उत्प्रेक्षा के ही रूप में की है, जहाँ

कवितार्थ साध्य होता है, रूपक की भाँति सिद्ध नही इसलिए उनके कथनों की संगति बहुत कुछ बैठ जाती है। पर बिहारी के दोहे की सगति ठीक नहीं बैठती। वृहस्पति का आकार तिलक जैसा कहाँ है? इतना ही नही जहाँ उत्प्रेक्षा के रूप में काव्यार्थ साध्य होता है वहाँ भी किसी प्रकार का भाव अथवा प्रभाव उत्पन्न करने में वे नक्षत्र असफल रहे है—

> भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराज।
> इंदुकला कुज में बसी, मनौ राहु भय भाजि ।। ६६०

अप्रस्तुत विधान के लिये बिहारी ने परम्परागत उपमानों के अतिरिक्त सामान्य जगत् से भी उपमानों का चयन किया है। विषयानुसार पौराणिक कथाओं, सामाजिक विश्वासों और राजनीतिक परिस्थितियों से भी उपमान ग्रहण किये हैं तथा स्वयं भी नवीन उपमानों की कल्पना की है। स्थूल रूप से उनके उपमानों को निम्ननिर्दिष्ट श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता हैं —

१—प्राकृतिक उपमान—

प्राकृतिक वस्तुएँ, दृश्य, पशु-पक्षी आदि से सम्बद्ध उपमान।

२—लौकिक—

लौकिक वस्तुओं, विश्वासों तथा ज्ञान पर आधारित उपमान।

३—शास्त्रीय—

ज्योतिष, काव्यशास्त्र आदि से सम्बद्ध धारणाओं और सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाले उपमान।

४—पौराणिक—

पौराणिक कथाओं पर आधारित उपमान।

५—अलौकिक—

कल्पित उपमान जो लोक में संभव नहीं।

प्राकृतिक उपमानों में से अधिकतर परम्परागत हैं। नायिका की अरुण एड़ी कोहो (इन्द्रायन) के समान प्रतीत होती है।[1] उसका शरीर सोनजुही, मालती, चम्पा, केसर, सोना, चम्पकमाला और पुष्प के समान है।[2] उसके नेत्र कंज जैसे हैं।[3] पति के मस्तक पर लगा हुआ जावक खण्डिता की आँखों को पावक सा लगता है।[4] नायक का मन मातङ्ग के सदृश है।[5] गगन सदृश हिंडोरों और परी जैसी नायिका[6] के अतिरिक्त श्वास का हंस और मृत्यु का

---

१ बिहारी सतसई ४४ ४ ७६
२ वही, ४४, १९०, ७, १०२, ६५० ५ ६७
३ ७८ ६ ६६

बाज भी द्रष्टव्य है। नीले नग की सीक नायिका की नाक मे ऐसी शोभित होती है मानों भ्रमर चम्पा का रस निःशक ले रहा हो।[२] दृग के खजन चितवन के चैप मे फँस गए।[3] रात्रिभर जागे हुए वायक के नेत्र कोकनद के समान है[४] और मानिनी नायिका के वीर बहूटी के समान।[५] दृष्टि ने कुही बनकर मन कुलिङ्ग को झकझोर दिया।[६] नायिका की चिबुक पर श्यामवर्ण का गोदना गुलाब-पुष्प में पड़े मधु छके भ्रमर सा शोभित होता है।[७] कृष्ण के गले में गुंजाओं की माला ऐसी लगती है मानो उनके द्वारा पिया हुआ दावानल ही दीख पड़ रहा हो।[८] नायिका का मुख शरीर है और उसके ऊपर पड़ी हुई चुनरी तारो भरे आकाश जैसी है।[९] मन सरोज सा[१०] है और नायिका लपट और विद्युत् की छटा जैसी।[११] परस्परासक्त नायक नायिका का प्राण काक-गोलक के समान है।[१२] फूलसी फूली हुई सौतै नायिका के पति समीप पहुँचते ही भोर की तारिकाओं सी हो जायेगी।[१3] चरण की अरुणद्युति दुपहरिया के फूलों के समान है[१४] और विरहिणी नायिका हाथ से मसले हुए पुष्प के सदृश।[१५] नायक के नेत्रों में पान-पीक की लीक नायिका को नागिन सी लगती है।[१६] मान सूर्योदय की ओस के सदृश जाता हुआ दीख भी नहीं पड़ता।[१७] जुगनू अङ्गार,[१८] पुष्पित पलाश वन दावाग्नि[१९] और मन कुरङ्ग के समान है।[२०]

लौकिक उपमान

कामदेव शिकारी है और नायिका के नेत्र मृग।[२१] नायिका का खुभी आभूषण मानो कामदेव के नेजा की नोक है।[२२] नायक के सौन्दर्य के चक्कर में पड़ा हुआ नायिका का मन भँवर की नाव बन गया है।[२3] उसके रूप में मिलकर वह पानी में पड़ा हुआ नमक ही बन गया है।[२४] बचपन और यौवन की मिश्रित कान्ति से नायिका का शरीर ताफ्ता (धूप छाँही) रंग कावन बन गया।[२५] नायिका विरह वश कपूर के समान प्रतिपल क्षीण होती जाती है।[२६] नायक ने छबिरूपी जादू की गुड़ डली छुपाकर नायिका के नैनों को हर लिया है।[२७] नायक की चाह चुड़ैल के सदृश नायिका को सुखा रही

---

१ बिहारी सतसई १२४
२ १४३
३ २४७
४ १६६
५ २४३
६ २५७
७ वही, ३७०
८ ३१२
९ ३२६
१० ३३०
११ ३५३
१२ ३४५
१३ ४५६
१४ ४८७
१५ ५१३
१६ ५५२
१७ ५६३
१८ ५६३
१९ ५६४
२० ६७०
२१ वही, ४५
२२ ,, ६
२३ वही, १७
२४ ,, १८
२५ ,, ७०
२६ ,, ६०
२७ ,, ७७

है ।[१] मानिनी की दाहक उक्तियाँ नायक के प्रेमरस को प्रतिक्षण औटते हुए दूध के समान स्वादिष्ट बना देते है ।[२] नयन बटपरा, चोर, कज्ज़ाक सुभट, गुप्तचर, मलिङ्ग आदि न जाने क्या क्या बन जाते हैं ।[३] संकोच और औत्सुक्य के बीच फँसी नायिका की दशा नट के बटा[४] अथवा फिरकी[५] जैसी हो जाती है । यौवन आमिल है तथा नायिका का शरीर उसके अधिकार में आया हुआ नवीन प्रदेश जिसमें उसने रकमों (अंगो) को बढ़ाना घटाना शुरू कर दिया है ।[६] कामदेव राजा है और चन्द्रमा उसका छत्र ।[७] नायिका का शरीर दीपशिखा के समान है ।[८] उसकी दृष्टि कबिलनबी के समान नायक पर ही आकर ठहर जाती है ।[९] नायिका के अंग पर अंगराग ऐसा ही मलिन लगता है जैसा दर्पण पर श्वास[१०] और आभूषण दर्पण के मोरचे से प्रतीत होते हैं ।[११] त्रिविध-ताप से तपा हुआ हृदय गर्म हमाम के सदृश है ।[१२] नायिका के ईक्षण वाण[१३] हैं और कटाक्ष शर ।[१४] उसकी भौंहें काँटे[१५] के समान नायक के हृदय में कसकती है । आभूषण शरीर की कान्ति को स्वच्छ रखने के लिये पायन्दाज[१६] हैं । नायिका के गोरे गले में उतरती हुई पान की पीक अङ्गराग के गुलीबन्द के समान प्रतीत होता है ।[१७] अपराधी नायक की खिसियानी हँसी विष[१८] सी प्रतीत होती है । नीच लोगों का हृदय गेंद के समान होता है तभी तो वे ज्यों ज्यों माथे पर ताड़ित होते हैं (निरादृत होते हैं) त्यौं त्यौं ऊँचे उठते है (गर्व करते हैं)[१९] सौत्सुक्य होने पर भी प्रेमीयुगल के वचन संकोच-वश याचक की उपस्थिति में सूम के समान नही निकलते ।[२०] नख की कान्ति जादूभरा चूर्ण है ।[२१] मन का ताप तब तक कैसे दूर हो जबतक भीगे चीर के सदृश कामिनी का आलिङ्गन न हो ।[२२]

शास्त्रीय उपमान

शास्त्रीय उपमानों में बिहारी ने प्राय: ज्योतिष विषयक उपमान ही अपनाए हैं । जैसा कि पीछे कहा जा चुका है । ज्योतिष का उन्हें अच्छा ज्ञान था भी । एक उदाहरण लीजिये:—

---

१ ,, १२५
२ ,, १३२
३ ,, १७४, १७७, १८४, ३०२
४ ,, १९४
५ ,, २०५
६ ,, २२०
७ ,, २३१
८ ,, २९९
९ ,,
१० ,, ३३३
११ ,, ३३४
१२ ,, २८१
१३ ,, ३१८
१४ ,, ३७४
१५ ,, ४०५
१६ ,, ४११
१७ ,, ४३८
१८ ,, ४७९
१९ ,, ४८८
२० ,, ५४२
२१ ,, ५४७
२२ ,, ६६६

सनि कज्जल चख झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु ।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेश सबु देह ।। ५ ।।

वियोगिनी नायिका के प्राण अवमतिथि के समान नाम मात्र के लिये शरीर में पड़े हुए हैं:—

गनती गिनबे तैं रहे, छतहू अछत-समान ।
अलि ए अब तिथि औम लौ, परे रहौ तन प्रान ।। २७५ ।।

काव्य-शास्त्रीय उपमान भी देखिये:—

दुरत न कुछ बिच कंचुकी, चुपरी सारी सेत ।
कवि आँकनु के अर्थ लौ, प्रगट दिखाई देत ।। १८८ ।।

पौराणिक उपमान

दो एक पौराणिक उपमान भी बिहारी ने ग्रहण किये है । पौराणिक चर्चा के अनुसार दुर्योधन को यह शाप था कि उसकी मृत्यु उस समय होगी जब वह एक सा सुख और दुख दोनों का अनुभव करेगा । इस गाथा से सम्बन्धित उपमान देखिये:—

पिय बिछुरन कौ दुसह दुख हरषु जात प्यौसार ।
दुरजोधन लौ देखियत, तजत प्रान इहि बार ।। १५ ।।

अन्य उदाहरण लीजिये:—

रह्यौ ऐंचि अन्त न लहै, अवधि दुसासन पीर ।
आली बाढत विरह ज्यों पाञ्चाली कौ चीर ।। ३९९ ।।

अलौकिक उपमान

सोहत ओढैं पीतपट, स्याम सलोने गात ।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतप परचौ प्रभात ।।६८८।।

नील मणियों का पर्वत लोक में संभव नहीं अपितु कवि-कल्पित है ।

झीने पट मे झुलमुली, झलकति ओप अपार ।
सुरतरु की मनु सिन्धु मैं, लसति सपल्लव डार ।।१६।।

इस दोहे में उपमान-पक्षगत सिन्धु के लौकिक होते हुए भी उपमान के रूप में प्रयुक्त सुरतरु की सपल्लव डार अलौकिक ही है ।

बिहारी ने मूर्त्त तथा अमूर्त्त उपमानों के अतिरिक्त विशेषणपदों का भी उपमान रूप में प्रयोग किया है । गोचर प्रस्तुत के लिये अगोचर अप्रस्तुत तथा अगोचर प्रस्तुत के लिये गोचर प्रस्तुत का विधान बिहारी के अनेक दोहों में मिलता है—

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी सारी सेत ।
कवि आँकनु के अर्थ लौ प्रगट दिखाई देत ।।

यहाँ पर गाचर कुचों के लिये अगोचर 'अर्थ' उपमान के रूप में विहित है । इसी प्रकार 'टुटी लाज की लाव' और 'लाज लगाम न मानही' में अमूर्त लाज के लिये लाब तथा लगाम मूर्त्त उपमान प्रयुक्त हुए है । दृष्टि को बरत तथा चित्त को नट बताने वाला यह दोहा भी ऐसा ही उदाहरण उपस्थित करता है—

डीठि बरत बाँधी अटनु, चढि धावत न डरात ।
इतहि उतहिं चित दुहुन के नटलौ आवत जात ।।१९३।।

कहीं-कही प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो ही अमूर्त है—

चुनरी स्याम सतार नभ, मुँह ससि की उनहारि ।
नेह दबावत नीद लौ, निरखि निसा सी नारि ।।३२५।।

इस दोहे में नेह उपमेय तथा नीद उपमान दोनों ही अमूर्त है ।

क्रिया-व्यापार तथा विशेषण भी उपमान रूप में गृहीत हुए हैं—

लाज नवाएँ तरफरत, करत खूद सी नैन ।।५३९।।

यद्यपि यहाँ उपमेय उपात्त नहीं हैं तथापि उपमान 'खूदसी' द्वारा उसका अध्याहार संभव है । नयन खूंद नहीं करते अपितु खूंद जैसा कोई अन्य व्यापार करते है ।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी केवल परम्परागत उपमानों के ऊपर ही निर्भर नहीं रहे अपितु अपने युग, देश और स्थितियों के अनुसार उन्होंने नवीन उपमानों को भी ग्रहण किया तथा कुछ की स्वयं उद्भावना भी की । उदाहरण के लिये निम्नलिखित दोहे ही ले लीजिये ।

ज्यौं ज्यौं जोबन जेठ-दिन कुचमिति अति अधिकाति ।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटिछपा छीन परति नित जाति ।।११२।।

कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन पखानु ।
नतरुक कत इन विय लगत, उपजत बिरह कृसानु ।।११८।।

बाल छबीली तियन में, बैठी आप छिपाइ ।
अरगट ही फानूस सी, परगट होति लखाइ ।।६०२।।

प्रथम दोहे में यौवन के लिये जेठ का दिन, कुचमिति (उरोजों के फैलाव) के लिये मिति (दिनमान) तथा कटि के लिये क्षपा (रात्रि) उपमानों का विधान किया गया है, जो नितान्त मौलिक है । 'किबलनुमा लौं दीठि'

भी ऐसी ही उक्ति है। दूसरे दोहे में नयनों के उपमान रूप में कमल को निराहत कर पत्थर को उपमान स्वीकार किया है और उसको हेतु देकर सिद्ध करने का प्रयास किया है, यह कवि की अपनी उद्भावना है। तीसरे दोहे में प्रस्तुत नायिका के लिये अप्रस्तुत 'फानूस' की योजना की गई है, सुन्दरी के लिये 'दीपशिखा' का प्रयोग तो बहुत पुरानी वस्तु है। कालिदास ने भी इसका प्रयोग किया था, गाथासप्तशती की कई गाथाओं में भी यह मिलता है किन्तु बिहारी ने दीपशिखाओं के बीच मे जगमगाते हुए फानूस को देखा होगा, उसके सौन्दर्य पर वे मुग्ध भी हुए होंगे तभी वह उनकी नायिका के लिये उपमान बनने का अधिकारी हो सका।

उपर्युक्त विवेचन से बिहारी के अप्रस्तुतविधान का कौशल स्पष्ट हो जाता है। अलंकारों के स्पष्ट उदाहरण तथा नायिकाओं के विविध स्वरूपों का चित्रण ही उन्हें रीतिकालीन प्रतिनिधि कवि बनाने के लिये पर्याप्त है। उन्होंने अलंकारों को प्रायः साधन रूप में ही स्वीकृत किया है और अप्रस्तुत का विधान करते समय चमत्कार की अपेक्षा रूप, गुण, भाव एवं वस्तु का ही अधिक ध्यान रखा है। थोड़े बहुत दोहे जो चित्रकाव्य के रूप में मिलते है वे उस प्रकार की रुचि वाले व्यक्तियों के लिये ही लिखे से प्रतीत होते हैं। एक सफल रीतिकार की भांति उन्होंने सभी प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं।

१२—परवर्त्ती कवियों पर प्रभाव और बिहारी का हिन्दी साहित्य में स्थान

हिन्दी साहित्य पर बिहारी का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। उनके भाव, भाषा और शैली सभी को अनेक उत्तरवर्त्ती कवियों ने किसी न किसी रूप में अपनाया। कितने ही कवियों को सतसई लिखकर यश अर्जन करने का लोभ हुआ और आधुनिक युग तक अनेक सतसइयों का जन्म हुआ जिनमें मतिराम-सतसई, शृङ्गार-सतसई, चन्दन-सतसई, वृन्द-सतसई, विक्रम सतसई आदि मुख्य है। आधुनिक युग में श्री वियोगी हरि ने 'वीर-सतसई' लिखी जो ब्रजभाषा में ही है और जिसपर १२००) का मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक भी उन्हें प्राप्त हुआ। संवत् १९९१ में रामेश्वर करुण की 'करुण-सतसई' लाहौर से प्रकाशित हुई। कुछ कवियों का सातसौ की संख्या से भी सन्तोष न हुआ तो नौसई, हजारा और ग्यारह सई भी लिखे गये। रसनिधि का रतन हजारा प्रसिद्ध है जिसमें से ७०० दोहे चुनकर 'रसनिधि सतसई' के नाम से डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने 'सतसई सप्तक' में प्रकाशित किये हैं। फिर भी सतसई नाम में कवियों को कुछ ऐसा आकर्षण दीख पड़ा कि उन्होंने प्रायः सातसौ की संख्या में ही अपनी रचनाओं को बाँधा, विशेषकर शृङ्गारिक कवियों ने ब्रजभाषा और दोहा छन्द 'सतसई' के लिये निश्चित से हो गये। इधर खड़ी बोली में भी कुछ सतसइयाँ लिखी गई हैं।

बिहारी और मतिराम

पिछले सतसई-कारों ने बिहारी के अनेक भावों को अपनाया किन्तु बिहारी जैसी चुस्ती और मार्मिकता उनकी रचनाओं में कम ही आ पाई है। मतिराम बिहारी के समकालीन से ही थे। जब बिहारी ने अपनी सतसई की रचना प्रारम्भ की उस समय मतिराम की अवस्था लगभग १८ वर्ष की थी। इसलिये कुछ लोगों का कथन है कि मतिराम ने बिहारी का अनुकरण नहीं किया। हो सकता है कि यह बात सत्य हो किन्तु दोनों के अनेक दोहों में भावसाम्य अवश्य मिलता है। क्या वह सर्वत्र आकस्मिक ही है? बिहारी अपने समय के सर्वप्रसिद्ध कवि थे। क्या यह संभव नहीं कि उनके दोहों का

प्रचार शीघ्रता से हो रहा हो और मतिराम ने भी उन्हें सुना हो। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार तो "बिहारी की ही तर्ज पर लिखी हुई उनकी सतसई तो यहाँ तक कहती है कि उन्होंने पूरी सतसई देखी होगी।"[१] अस्तु, यदि इस भाव-साम्य को आकस्मिक मान भी लिया जाय तो भी यह देखना असंगत न होगा कि एक से भावों की अभिव्यक्ति में दोनों कवियों में कौन अधिक प्रभावशाली है। दोनों की आँख-मिचौनी का दृश्य देखिये:—

दृग मिहचत मृग-लोचनी, भरचो उलटि भुज बाथ।
जान गई तिय नाथ के हाथ परस ही हाथ ॥ (बिहारी)
खेलत चोर मिहीचिनी परे प्रेम पहिचानि।
जानी प्रगटत परस तै, तिय लोचन पिय पानि ॥ (मतिराम)

बिहारी का चित्र सजीव और गतिशील है। प्रिय ने पीछे से आकर प्रेयसी की आँखें मूँद लीं और उसके हाथ का स्पर्श होते ही नायिका ने उसे पहिचानकर बाहुओं को पीछे की ओर लटकर आलिंगन में जकड़ लिया। मतिराम के दोहे में भाषा और भावों की यह कसावट नहीं है। 'जानी प्रगटत परस तें' कहना था तो "परे प्रेम पहिचानि" शब्दों की भरती व्यर्थ क्यों की गई? दूसरा उदाहरण लीजिये:—

कहत सबै बेंदी दियैं, आँकु दसगुनो होतु।
तिय लिलार बेंदी दियैं, अगिनितु बढतु उदोतु ॥ (बिहारी)
होत दसगुनो अंकु है, दिये एक ज्यों बिन्दु।
दियै डिठौना यों बढ़ी आनन-आभा इन्दु ॥ (मतिराम)

बिहारी के दोहे के पूर्वार्द्ध में बिन्दी से अङ्क के दसगुने होने का तथ्य बताकर उत्तरार्द्ध में नायिका के ललाट पर बिन्दी लगाने से अगणित कान्ति के बढने का उल्लेख किया गया है। बिन्दी अंक पर लगने से केवल दसगुना बढ़ाती है किन्तु स्त्री के ललाट पर उसके लगने से सौन्दर्य असंख्य गुना हो जाता है। इस दसगुने और असंख्य गुने के अन्तर से जो चमत्कार उत्पन्न होता है वह मतिराम की उपमा द्वारा नहीं।

किन्तु मतिराम सभी जगह भाव का निर्वाह बिहारी के समान नहीं कर पाये हों; यह बात नहीं है। अनेक स्थलों पर एक निष्पक्ष समीक्षक यह निर्धारण नहीं कर पायेगा कि दोनों कवि-पुङ्गवों में कौन आगे है:—

इन दुखिया आँखियान को सुखसिरजोई नाहिं।
देखे बनै न देखिबौ बिनु देखे अकुलाहिं ॥ (बिहारी)

---

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १८३

बिनु देखे दुख के चलहि, देखे सुख के जाहिं।
कहहु लाल इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिं ।। (मतिराम)

प्रौढाधीरा नायक को अपराधी पाकर भी अपना कोप प्रकट नहीं करती किन्तु नायक उसके मान को उसकी रतिविषयक उदासीनता से समझ जाता है; इसका वर्णन दोनों कवि इस प्रकार करते हैं:—

चितवनि रूखे दृगनि की हाँसी बिनु मुसकानि।
मान जनायो मानिनी, जानि लियो पिय जानि ।। (बिहारी)
ढीली बाहन सों मिली बोली कछू न बोल।
सुन्दरि मान जनाय कै लियो प्रानपति मोल ।। (मतिराम)

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रानपति को मोल' लेकर मतिराम की नायिका निःसन्देह बाजी ले जाती प्रतीत होती है।

मिलन-वेला में नायक और नायिका एकटक एक दूसरे को देख रहे हैं। आनन्द के सात्त्विक अश्रु दोनों के नेत्रों में भरे हैं। इस दृश्य के चित्रण में बिहारी नेत्रपिचकारियों द्वारा परस्पर प्रेम-रग छिडकाते हैं तो मतिराम 'रीझ' के भार से थकी हुई आँखों में श्रम-जल का आना दिखाते हैं—

रस भिजए दोऊ दुहुन यकटक रहे टरै न।
छबि सौं छिरकत प्रेम-रँग भरि पिचकारी नैन ।। (बिहारी)

बाल रही इकटक निरखि ललित लाल मुख इन्दु।
रीझ भरी अँखियाँ थकी झलके श्रमजलबिन्दु ।। (मतिराम)

भाव के निर्वाह में कौन अधिक सफल है यह निश्चय करना कठिन है। इतना ही नहीं कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से मतिराम बिहारी को पीछे छोड़ देते हैं। लज्जा और औत्सुक्य के द्वन्द्व में फँसी हुई नायिका को उसके नेत्र ही धोखा देते हैं रोकने पर भी वे नायक से जा ही लगते हैं। इस भाव को दोनों कवि इस प्रकार प्रकट करते हैं—

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरङ्ग लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं ।। (बिहारी)
मानत लाज लगाम नहिं नैकु न गहत मरोर।
होत लाल लखि बाल के, दृग-तुरंग मुँह जोर ।। (मतिराम)

बिहारी ने पूर्वार्द्ध में लाज को लगाम बनाकर नैनों को मुँहजोर तुरङ्ग का जो रूपक दिया था वह उत्तरार्द्ध में लौं, कहकर एकदम बिगाड़ दिया; मतिराम ने अन्त तक रूपक का निर्वाह किया है।

एक उदाहरण और लीजिए। नायक विदेश जाने के लिए तैयार है। बिहारी की नायिका उसे गमन से विरत करने के लिये युक्ति सोचती है और वीणा लेकर मलार गाने लगती है। कहते है मलार गाने से वर्षा होने लगती है। वर्षा के कारण विरह वेदना की तीव्रता का शीघ्रतर अनुभव कर नायक जाने से रुक सकता है, इसी सम्भावना को लेकर:—

पूस मास सुनि सखिनु पै साईं चलत सवारु।
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ राग मलारु॥ (बिहारी)

किन्तु मलार गाने से बरसात हो ही जाय इसकी क्या गारंटी ? इसलिए मतिराम की नायिका अपनी काली आखों की बदली से ही पानी बरसाना प्रारम्भ कर देती है। निःसन्देह वह बिहारी की नायिका से अधिक चतुर और कर्मठ (Practical) है:—

प्राननाथ परदेस कौ चलियै समौ बिचारि।
स्याम-नैन-घन बाल के बरसन लागे बारि॥

"बिहारी की नायिका का कृत्रिम प्रयत्न भला मतिराम की नायिका की इस स्वाभाविक झड़ी में ठहर सकता है ? नायक तो ठहर ही जायेगा। बिहारी और मतिराम की सुनने और गुनने में हमें अन्य कवियों का ध्यान न रहा। 'सलौने रूप की मिठास' भी इन्होंने बिहारी से ली है—

कितौ मिठास दयौ दई इतैं सलौने रूप। (बिहारी)

वा मुख की मधुराई कहा कहौ मीठी लगै अँखियान लुनाई। (मतिराम)

अन्य सतसईकारों ने भी बिहारी के भावों को पर्याप्त रूप में अपनाया है। विस्तार अनपेक्षित समझते हुए हम केवल दिग्दर्शन के रूप में ही उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

रामसहाय की शृङ्गार-सतसई में बिहारी के भाव ही नही पद और पद-समूह तक भरे पड़े हैं। उदाहरण लीजिये—

रह्यौ ढीठ ढाढस गहै, ससहरि गयौ न सूरु।
मुरचौ न मन मुरवान चभि, भौ चूरन चपि चूरु॥२०८॥ (बिहारी)

गुलुफनि लों ज्यौं त्यौं गयौ करि-करि साहस जोर।
फिरि न फिरचौ मुरवान चपि चित अति खात मरोर॥ (शृङ्गारसतसई)

भूषन भारु संभारिहै, क्यौं यह तन सुकुमार।
सूधे पाँय न धर परत, सोभा ही के भार॥ (बिहारी)

काहि छला पहरावरी, हों बरजी बहु बार।
जाय सही नहि बावरी, महँदी रंग को भार ॥ (रामसहाय)

जदपि चबाइनु चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन।
तऊ न छाँडत दुहुन के हँसी रसीले नैन ॥ (बिहारी)

घरहाइन चवचै चलैं, चातुर चाइन सैन।
तदपि सनेह लगै ललकि लगै दुहूँ के नैन ॥ (रामसहाय)

सगरब गरब खिचै सदा चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बाँकी अदा नैकु न खींची जाय ॥ (रामसहाय)

लिखन बैठि जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर ॥ (बिहारी)

इन उदाहरणों का मिलान करने पर असल और नकल का पता स्पष्ट चल जाता है बिहारी की भाषा की सफाई और चुस्ती तथा भावों की गहनता और मार्मिकता रामसहाय के दोहों में नहीं आ पाई। उक्त उदाहरणों में रामसहाय का अन्तिम दोहा बड़ा ही सुन्दर है। चित्रकार नायिका का रूप तो चित्रित कर सकता है परन्तु अदा का चित्रण कैसे करे? बिहारी से लिये हुए भाव का अच्छा निर्वाह हुआ है किन्तु बिहारी जैसा नहीं। इसी भाव को रसनिधि ने इस प्रकार प्रकट किया है—

चतुर चितेरे तुव सबी, लिखत न हिय ठहराइ।
कलम छुवत कर आँगुरी, कटी कटाछन जाइ ॥३५१॥

कटाक्षों से अँगुलियों के कटने की बात कुछ फारसी वालों के खून-खच्चर जैसी मालूम पड़ती है। अपने अभिधेय अर्थ में यह प्रयोग बड़ा अस्वाभाविक भी है किन्तु यहाँ कटाक्षों से कटने का अर्थ है बेकार हो जाना। अर्थात् कटाक्षों का चित्रण करने में चित्रकार की अँगुलियाँ समर्थ न हो सकीं। इस प्रकार रामसहाय का चित्रकार अदा का चित्रण न कर सकने के कारण तथा रसनिधि का कटाक्षों को अङ्कित न कर सकने पर वेवकूफ बना किन्तु बिहारी का चित्रकार? बिहारी इस विषय में मौन है। तो क्या उनका चित्रकार अदा के चक्कर में आया? या कटाक्षों के? अथवा उस सौन्दर्य के कारण "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति"? शायद इन सभी कारणों से अथवा स्तंभित हो जाने आदि अन्य कारणों से भी। यही तो बिहारी का अर्थ गाम्भीर्य है। मौन रह कर ही उन्होंने सबसे अधिक कह दिया। इसी में तो उनकी महत्ता है—

"महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः" ।

रसनिधि ने तो बिहारी के साथ तुलसी, रहीम, केशव आदि अन्य कवियों के भी भाव मुक्तहृदय से अपनाये है । बिहारी के कितने ही दोहों के भाव ही नही शब्दावली भी कुछ हेर-फेर के साथ उन्होंने संगृहीत की है—

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन हिऐ दई नई यह रीति ।। (विहारी)
उरझत दृग बँधि जात मन, कहो कौन यह रीति ।
प्रेम नगर में आइकै, देखी बड़ी अनीति ।।
अद्भुत गति यह प्रेम की, लखौ सनेही आय ।
जुरै कहूँ टूटै कहूँ कहूँ गाँठि परि जाय ।।

बिहारी के एक दोहे में निहित भाव रसनिधि के दो दोहो मे भी नहीं समा पाया । दूसरे दोहों में टूटने से पहले ही जुड़ने की बात भी क्रमविरुद्ध प्रतीत होती है । बिहारी के 'पत्रा ही तिथि पाइये' वाले दोहे का भाव ज्यों का त्यों रसनिधि ने अपनाया है—

कुहू निसा तिथिपत्र में वाचन कौ रहि जाइ ।
तुव मुख ससि की चाँदनी उदै करत है आइ ।।

रसनिधि पर फारसी के कवियों का प्रभाव बहुत अधिक रहा है और इस नकल के कारण उनकी रचना कही-कहीं तो नितान्त अस्वाभाविक और वीभत्स हो उठी है ।

विक्रमसाहि ने भी बिहारी के बहुत से भावो को अपनी भाषा में प्रकट किया है । किन्तु इनकी भाषा में वह प्रौढ़ता कहाँ । अनेक स्थानों में बिहारी की पदावली ज्यों की त्यों उद्धृत की गई है—

ललित स्याम लीला ललन, बड़ी चिबुक छबि दून ।
मधु छाक्यौ मधुकरु परयौ, मनौ गुलाब-प्रसून ।। (बिहारी २७०)
अति दुति ठोढी-बिन्दु की, ऐसी लखी कहूं न ।
मधुकर सूतु छक्यौ परयौ, मनौ गुलाब-प्रसून ।। (विक्रमसाहि)
छिनकु छबीले लाल वह, जौ लगि नहिं बतराति ।
ऊख महूख पियूख की, तौ लगि भूख न जाहि ।। (बिहारी)
कहुँ मिश्री कहूँ ऊखरस, नहीं पियूष समान ।
कलाकंद कतरा अधिक, तुअ अधरारस पान ।। (विक्रमसाहि)

प्रथम दोहे का भाव एवं अनेक पद दूसरे दोहे में ज्यों के त्यों अपनाये

गये है। तीसरे दोहे में बिहारी की मुग्धा नायिका की बचनमधुरिमा का उल्लेख सखी नायक से कर रही है जिसका अनुकरण विक्रमसाहि ने उपर्युक्त अन्तिम दोहे में किया है। नायिका के बोल इतने मीठे है कि नायक यदि उन्हे सुन ले तो उसे ऊख, मधु और अमृत की इच्छा तक न हो। बिहारी ने अपनी उक्ति में क्रमोत्कर्ष का ध्यान रखा है और ऊख से अधिक मीठे मधु तथा उससे अधिक मधुर अमृत का क्रमश: उल्लेख किया है किन्तु विक्रमसाहि से भाव का निर्वाह ठीक न हो सका उलटे दुष्क्रमत्व दोष और लग गया। मिश्री के बाद ऊखरस मे क्या मिठास प्रतीत होगा ? और अमृत चखने के बाद कलाकंद का कतरा (कण) क्या चीज है ? अंगूर के बाद निबौरी ! कतरा शब्द का प्रयोग कितना भद्दा है। उससे यदि विक्रमसाहि कतरा कर ही चलते तो ठीक होता, और यह अधरारस पान क्या हुआ ? अधर का अरस ? तब तो लुटिया ही डूब गई।

भूषन भारु संभारिहै क्यौ इहि तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परै सोभा ही के भार॥ (बिहारी)
नथुनी गज मुकुतान की लसत चारु सिंगार।
जनि पहिरै सुकुमार तन और आभरन भार॥ (मतिराम)

मतिराम की नायिका नथुनी का भार तो सँभाल लेती हैं बिहारी की नायिका तो शोभा के ही भार से लचक सी जाती है। विक्रमसाहि ने बिहारी की हूबहू नकल उतार दी है—

चलत लंक लचकत चलति सकत न अँग संभार।
भार डरन सुकुमारि वह धरत न उर पर हार॥ (विक्रम)

अकबर की कमसिन को सुरमे के बोझ का डर है—

''नाजुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो।"

किसी कवि के भावों को ग्रहण करना बुरा नहीं यदि उस पर अपनी छाप लगा दी जाय। शत प्रतिशत मौलिक काव्य लिखने वाला काव्य नहीं एक गोरख-धन्धा ही प्रस्तुत कर सकेगा। बिहारी ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों से अनेक भाव लिये पर उनपर अपनी छाप ऐसी लगाई कि वे उन्हीं के प्रतीत होते हैं पर उनके पीछे के कवि उनसे लिये हुए भावों में अपनी छाप उतनी गहरी न लगा सके। एक बात जरूर है, वह यह कि हमारा यह कथन सामान्य-परक हैं विशेषपरक नहीं। बिहारी से पीछे वाले इन कवियों का भी अपने स्थान पर महत्त्व है और कही-कही वे निश्चित रूप से बिहारी को मात दे गए हैं। उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) किसी की भी परवाह न कर नायक से जा टकराने वाली नायिका की आँखों का वर्णन बिहारी ने सुभट का रूपक देकर इस प्रकार किया :—

पहुँचति डटि रन-सुभट लौ रोकि सकै सब नाहिं।
लाखन हूं की भीर में आँखि उहीं चलि जाहिं ।।

इस भाव को लेकर रामसहाय की श्रृङ्गार सतसई में यह दोहा मिलता है :—

धीर अभय भट भेदि कै भूरि भरी हू भीर।
झमकि जुरहि दृग दुहुँनि के नेकु मुरहि नहिं बीर ।।

बिहारी की नायिका के नेत्रों की सुभटता इस में है कि वे लाखों की भीर में से नायक की ओर पहुँच जाती है। निःसन्देह यह बहादुरी का काम है। किन्तु वहाँ जाकर भी वे कोई सुभटता दिखाती है या नहीं, इसका बिहारी को कुछ पता नहीं। फिर 'पहुँचति डटि रन सुभट लौं' के पश्चात् 'आँख उही चलि जाहिं' शिथिल ही नही निरर्थक भी है। रामसहाय की नायिका की आँखे वहाँ जाकर भी नायक की आँखों के सामने डट जाती है, मुड़ती नही, नायक की आँखें भी कुछ कम नही हैं, अतः आँखों की धीरता और निडरता का पूरा-पूरा निर्वाह हो गया है। वे 'लाखों की भीड़ में से नहीं' भूरि भीर को वेधकर' अपना मार्ग बनाती है। 'भूरि' विशेषण में निश्चित परिमाण वाला 'लाखन' विशेषण समा जाता है और 'बेधना'—सुभटत्व का प्रथम लक्षण—उनकी सुभटता को पूर्णतया प्रतिपादित करता है। बिहारी के 'रोकि सकै सब नाहिं' का क्या मतलब है ? सब मिलकर भी नहीं रोक सकते या सब (कोई भी) नहीं रोक सकते ? इस वाक्य में अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति को सामर्थ्य ही नहीं।

(२) वियोग मिले हुए हृदयों को जुदा नहीं कर सकता, इस भाव पर बिहारी का यह दोहा है—

कहा भयौ जो बीछुरे मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाउ कितहूँ तऊ, गुड़ी उडाइक हाथ ।।

और रसनिधि का—

उड़ी गुड़ी लौं मन फिरै डोर लाल के हाथ।
नैन तमासे को रहें लगे निरन्तर साथ ।।

बिहारी के दोहे का भाव रसनिधि ने पहली ही पंक्ति में भर दिया है। नायिका का मन पतंग बन रहा है जिसकी डोर नायक के हाथ में है। ठीक है, पर आँखें क्यों वहाँ (नायक की ओर) लगी हुई हैं ? इसलिये कि वे

पतंग उड़ते देखने की शौकीन है, तमाशा देखने के लिये उडायक के साथ हैं। उत्तरार्द्ध में रसनिधि ने एक चमत्कारिणी उक्ति और जड़ दी है।

(३) नायिका की एड़ियों की लालिमा पर अतिशयोक्ति करते हुए बिहारी कहते हैं—

पाइ महावरु दैन को नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी एड़ी मीड़ति जाइ॥

विक्रमसाहि इस बात को इस प्रकार कहते हैं—

सहज अरुन एड़ीनि की लाली लखै बिसेखि।
जावक दीबै जकि रही नाइन पाइन पेखि॥

बिहारी की नाइन को नायिका की एड़ी और महावर की गोली में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। वह एड़ी को ही महावर समझ कर मलने लगती है। इसे एड़ी का भद्दापन कहा जाय या नाइन का बुद्धूपन? परन्तु बिक्रमसाहि की नाइन कुछ चतुर है वह नायिका की एड़ियों की स्वाभाविक लाली को देखकर उसे महावर की गोली समझ कर नही मलने लगती, पर धोखा अवश्य खाती है। उसे प्रतीत होता है कि एड़ियों पर तो महावर लग चुका है पर उसने स्वयं लगाया नहीं। इसी असमञ्जस में पड़ी हुई वह सहमी सी सोच रही है कि महावर लगाया जाय या नहीं? दोनों कवियों ने अतिशयोक्ति की है, परन्तु विक्रमसाहि में स्वाभाविकता है और बिहारी में केवल चमत्कार।

परन्तु इस प्रकार के उदाहरण कम ही मिलते हैं। पीछे मतिराम के कई दोहे बिहारी की तुलना में रखे गये हैं। वास्तव में इन सब कवियों की अपेक्षा मतिराम बिहारी के बहुत अधिक निकट हैं। उनकी भाषा में बिहारी की भाषा की चुस्ती चाहे न हो किन्तु शिथिलता भी नहीं है। शैली और भाव की स्वाभाविकता उनका सबसे बड़ा गुण है। उनके दोहों में मुक्तक काव्य के सभी गुण मिलते हैं। उनकी अभिव्यक्ति तथा हाव-भावों की योजना बहुत कुछ बिहारी जैसी ही है। अतः उनके दोहे बिहारी के दोहों में पूरी तरह खप सकते हैं। मतिराम के कुछ दोहे बिहारी के नाम से प्रसिद्ध भी हो गए हैं यथाः—

झूठैं ही ब्रज में लग्यौ मोहि कलंक गुपाल।
सपनैं हूँ कबहूँ हियैं लगे न तुम नंदलाल॥

यह दोहा मतिराम सतसई में और उनके ललितललाम में है पर

बिहारी सतसई के कई टीकाकारों ने इसे बिहारी के नाम से उद्धृत किया है। बिहारी की सी स्वाभाविकता तथा मधुरिमा विक्रम की रचनाओं में यथेष्ट पाई जाती है परन्तु वे व्यञ्जना की अपेक्षा अभिधा में अधिक विश्वास रखते है। 'स्पष्टवक्ता न दोषभाक्' का नियम शृंगार-वर्णन में उलटा हो जाता है। इसी कारण विक्रम की अनेक उक्तियाँ बड़ा अश्लील हो गई है। रामसहाय और रसनिधि में बिहारी की रचनाओं की टक्कर के उदाहरण बहुत ही कम हैं क्योंकि उन्होंने प्रायः अन्य कवियों के भाव आत्मसात् किये बिना ही प्रकट किये हैं और इस जोड़-तोड़ में भाषा और भाव की प्रौढता नहीं रह सकी, फिर भी जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है, अपने स्वाभाविक रूप में इन कवियों की उक्तियाँ भी उत्कृष्ट कोटि की है किन्तु खेद है कि ये दूसरों से ही अधिक प्रभावित रहे।

केवल सतसईकारों ने ही नहीं अन्य कवियों ने भी बिहारी के भावों को ग्रहण किया है जिनमें महाकवि देव, दास, पद्माकर, तोष, गिरिधर, रसलीन, सुखदेव, घनानन्द, दूलह, घासीराम, राजा मानसिंह, चिरजीवी, किशोर आदि मुख्य हैं। जगन्नाथदास रत्नाकर का भी नाम इनमें लिया जा सकता है। विस्तार-भय से हम यहाँ कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत कर सकेंगे—

चितु बितु बचतु न हरत हठि, लालन दृग बरजोर।
सावधान के बटपरा, ए जागत के चोर॥ (बिहारी)

यही बात काव्य-निर्णय में इस प्रकार कही गई है:—

लाल तिहारे दृगन की, हाल कही नहिं जाय।
सावधान रहिये तऊ चित-वित लेत चुराय॥

कहना व्यर्थ है कि बिहारी की रचना जैसी प्रौढता, चुस्ती और गाम्भीर्य इस दोहे में कहाँ ?

(१) तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज-मग पग पग होतु प्रयागु॥ (बिहारी)

भाव यह है कि श्रीकृष्ण एवं राधा की श्याम तथा गौर छबि यमुना तथा गंगा की छटा दे रही है जिनमें अनुराग की लालिमा सरस्वती का कार्य करती हुई त्रिवेणी का संगम बना रही है।

इसी भाव पर पद्माकर का यह प्रसिद्ध सवैया देखिये:—

जाहिरै जागत सी जमुना, जब बूड़ै बहै उमहै वह बेनी।
त्यों 'पद्माकर' हीरा के हारन गंग-तरंगन सी सुख देनी।

पायन के रंग सों रंगिजात, सो भाँति ही भाँति सरस्वती सेनी
पैरै जहाँ ई जहाँ वह बाल, तहाँ तहाँ ताल में होति त्रिवेनी ।।

कविवर 'लछिराम' का भी सवैया इसके साथ रख लीजियेः—

लालिमा श्री तरवानि के सेज तें, सरदा लौं सुखमा की नसैनी ।
नूपुर नीलमनीन जड़े जमुना बहैं जौं हर सी सुखदैनी ।।
त्यौ 'लछिराम' छटा नख नौल, तरंगनि गंग प्रभा फल पैनी ।
मैथिली के पद पंकज व्याज, लसै मिथिला मग मंजु त्रिबेनी ।।

(२) कोहर सी एड़ीन की लाली देखि सुभाय ।
आई जावक देन कौ आपु भई बे पाइ ।। (बिहारी)

इस भाव पर कविवर दास का सवैया देखिये—

आरज आवन दासी कह्यौ, उठि बाहर तें गई भीतर प्यारी ।
त्यों पग द्वेक धरे महि मैं, जुग एडिन दौरि गई अरुनारी ।।
जावक दीन्ह्यों कि दीन्ह्यो नहीं बिलोकि बिलोकि कै नायन हारी ।
प्यारी कही अरी दाहिनै दैं, मोहे जानि परै पग वाम है भारी ।।

निःसन्देह 'दास' का सौकुमार्य-वर्णन अन्तिम पंक्ति में चरम सीमा पर पहुँच गया है । भाव की दृष्टि से यह बिहारी के उक्त दोहे से बहुत आगे है । पर कौन कह सकता है कि अन्तिम पंक्ति में वर्णित भाव उन्होंने बिहारी के इस दोहे से नहीं लिया था ?

भूषन-भार, सँभारिहै क्यों इहि तन सुकुमार ।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही कै भार ।।

इस सम्बन्ध में द्विजदेव की यह उक्ति भी द्रष्टव्य हैः—

"जावक के भार पग धरत धरा पै मन्द,
गन्ध भार बहकि गई हैं कहूँ अलकैं ।"

(३) खण्डिता नायिका के वर्णन में बिहारी का एक दोहा इस प्रकार हैः—

पलनु पीक अंजन अधर दिये महावर भाल ।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल ।।

इसी भाव को लेकर शंभु नामक एक अज्ञात कवि की रचना भी देखियेः—

आये मया करि मो पै लला, बड़भागिनि सौं यहि गैल भुलाने ।
अंजन ओठ महावर भाल, भट्ट करि 'संभु परै पहिचाने ।

गोद गह्यौ उनही के लला सिगरी निसि ख्याल किये मनमाने।
पाँयन जाय परौ उनही के, रहे जिनके हरि हाथ बिकाने ।।

(४) नायिका की सुकुमारता का खयाल न करके उसके शरीर को दल मल देने वाले नायक को बिहारी ने सखी द्वारा उपालम्भ दिलाया है:—

यौ दलमलियतु निरदई, दई, कुसुम से गातु ।
करु धरि देखौ धरधरा अजौ न उर का जातु ।।

इसी भाव पर रसलीन का यह दोहा है:—

यों मींजत कोऊ लला, अबलन अङ्ग बनाय ।
मले पुहुप की बास लौ, साँस न जानी जाय ।

रसलीन की रचना उत्कृष्ट है । उनकी भाषा प्रौढ है और अभिव्यक्ति मार्मिक । चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य में भी वे बिहारी का अनुगमन सफलता-पूर्वक कर सके है । चेष्टाओं और भावों के चित्रण में उनका अपना वैशिष्ट्य है । इन्हीं गुणों से उनके भी दोहे मतिराम के दोहों की तरह बिहारी की रचनाओं में घुल मिल गए है । बिहारी-सतसई की कई टीकाओं में मिलने वाला अधोनिर्दिष्ट दोहा वस्तुतः रसलीन के 'अंगदर्पण' का है:—

अमी-हलाहल-मद-भरे स्वेत, स्याम रतनार ।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इकबार ।।

(५) चित्र-योजना और अनुभाव विधान की दृष्टि से पद्माकर बिहारी के अत्यन्त निकट है । वैसे तो चित्रात्मकता रीतियुग का विशेष आकर्षण रहा है जिसका जिक्र हम पीछे कर आए है । रीतिकाल के छोटे से छोटे कवि ने भी उत्कृष्ट शब्द-चित्रों की सृष्टि की है किन्तु बिहारी और पद्माकर सब से अधिक सफल हुए हैं । पद्माकर बिहारी से छाया अवश्य लेते हैं किन्तु रँग भरने का उनका अपना ढँग है । उदाहरण लीजिये:—

चित्रात्मकता

कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार ।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार ।। (बिहारी)

एक पग भीतर 'रु एक देहरी पै धरे ।
एक कर कंज एक कर है किवार पर ।। (पद्माकर

अनुभाव-विधान

बतरस कारन लाल की मुरली दई लुकाइ ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटिजाय ।। (बिहारी)

हेरि हरे मुसकाय रही
अँचरा मुख दै वृषभानुकिसोरी। (पद्माकर)
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौह। (बिहारी)
नैन नचाइ कह्यौ मुसकाइ
लला फिर आइयो खेलन होरी।। (पद्माकर)

रँगराती राते हिये प्रीतम लिखी बनाय।
पाती काती विरह की छाती रही लगाय।। (बिहारी)

''कहै कवि 'तोष' जिय जानि दुखकाती ताते,
छातीं की तबीज पिय पाती को किये रहैं।
नेकु न पत्याती दिनराती इस भाँति प्यारी
विरह अपाती ताको काती सी लियैं रहै। (तोषकवि)

बिहारी का ही भाव तोष ने अपनी पंक्तियों में व्यक्त किया है किन्तु अनुप्रास के चक्कर में भाव निर्वाह की मार्मिकता का प्रश्न गौण बना दिया गया है।

(६) रत्नाकर जी ने बिहारी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। अतः भाव, भाषा और शैली तीनों की दृष्टि से वे उनसे बहुत प्रभावित हुए। बिहारी को तो दोहा जैसे लघु छन्द के लिये अत्यन्त कसी हुई भाषा का प्रयोग करना ही था किन्तु रत्नाकर ने कवित्त जैसे वृहत् छन्दों में भी समासबहुला भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा कहीं-कहीं पर बिलकुल जकड़ गई है और जैसा कि पीछे उल्लेख हो चुका है ब्रजभाषा की प्रकृति ही समास के विरुद्ध है। अतः आवश्यकता से अधिक जकड़ खटकने लगती है। लोयन, भुआल, बयन आदि प्रयोग से उठे हुए प्राकृत शब्द भी बिहारी की देखादेखी रत्नाकर जी ने अपनाये हैं। तात्पर्य यह है कि बिहारी की रचना से ये सबसे अधिक प्रभावित हुए। उदाहरण लीजिये—

गोरी गदकारी परैं हँसत, कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह, सुनकिरवा की आड़।। (बिहारी)
धारे सहज सिंगार गात गोरे गदकारे।
विहँसत गोल कपोल लोल लोचन कजरारे।।
सुनकिरवा की आड़ ताड़ तरकी तरपीली।
ठाढ़े गाढ़े कुचनि चिहुँटनी-माल सजीली।। (रत्नाकर)
बिहँसत सकुचति सी दिएँ, कुच-आँचर बिच बाँह।
भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँहि।। (बिहारी)

कोउ अन्हाति सकुचाति गात पट-ओट दुराए।
कोउ जल बाहर कढति सु उर ऊरुनि कर लाए ।। (रत्नाकर)

उर्दू ने एक कवि की उक्ति बिहारी के निम्नलिखित दोहे का रूपान्तर है:—

कहत सबै बेंदी दिये आँक दसगुनौ होतु।
तिय लिलार बेंदी दिये अगिनितु बढतु उदोतु ।। (बिहारी)
खाले सियाह नाफ़े मुदब्बर के पास है।
जो हिन्दसा पहले पाँच था वोह अब पचास है ।। (उर्दू कवि;

सच तो यह है कि बिहारी के बाद में ब्रजभाषा का शायद ही कोई कवि हुआ हो जिसपर बिहारी का पर्याप्त प्रभाव न पड़ा हो। ये उदाहरण तो स्थाली-पुलाक न्याय से दिये हुए ही समझने चाहिये।

बिहारी के प्रभाव की व्यापकता हिन्दी-साहित्य में उनके महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये पर्याप्त है। कवियों तथा विद्वान् टीकाकारों के अतिरिक्त सहृदय-समाज में भी बिहारी सतसई का बड़ा मान है। इस पर पचासों से अधिक टीकाएँ हो चुकी है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को छोड़कर किसी अन्य ग्रन्थ का इतना प्रचार नही हुआ जितना सतसई का। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता ने अन्य गीताओ (रामगीता, देवीगीता, अष्टावक्रगीता आदि) को अपने व्यक्तित्व से दबा दिया उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में बिहारी-सतसई ने अन्य सतसाइयों को। जैसे 'गीता' कहने से भगवद्गीता का बोध होता है उसी प्रकार 'सतसई' के नाम से बिहारी-सतसई ही जानी जाती है। उसकी लोक-प्रियता और सर्वश्रेष्ठता का इससे पक्का प्रमाण क्या हो सकता है ? हिन्दी साहित्य से परिचय रखने वाला शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसे बिहारी का कोई दोहा याद न हो। तुलसी के अतिरिक्त अन्य किसी कवि की रचना (चाहे वह भक्त हो या शृङ्गारिक) इतने विस्तृत समाज द्वारा नहीं अपनाई गई, जितने विस्तृत समाज में 'सतसई' का मान है। आज के युग में भी जबकि प्रेम का पचड़ा गाना कुछ अच्छा नहीं समझा जाता, सतसई का पठन-पाठन कुछ न कुछ बना ही हुआ है। देव का साहित्य बहुत कम लोग पढ़ते हैं। मतिराम को शायद वही पढ़ता हो जो रीतिकाल पर खोज करता है या उसका विशेष अध्ययन करता है। केशव की रचना क्लिष्ट होने के कारण अधिक प्रचलित नहीं है। पद्माकर, रसलीन आदि अन्य रीतिकालीन कवियों की रचना उतनी भी नहीं पढ़ी जाती। पर स्कूलों तक में पढ़ाई जाने वाली हिन्दी-पद्य की एक भी ऐसी पुस्तक नही मिल सकेगी जिसमें बिहारी के दोहे संग्रहीत न हों। निःसन्देह इस युग में भी

बिहारी अन्य सभी रीतिकालीन कवियों से अधिक लोकप्रिय और जनसमादृत है। यह तथ्य उनकी सर्वोत्कृष्टता का सूचक है।

बिहारी सतसई इस बात का सबूत है कि किसी कवि की कीर्ति का आधार उसकी रचनाओं का परिमाण नहीं, गुण है, प्रसार नहीं, गाम्भीर्य है। सतसई के आरम्भ से ही काव्यमर्मज्ञों ने काव्यकला के सभी पहलुओं की दृष्टि से उसे परखा है और उसकी प्रशंसा की है। आधुनिक ढंग की आलोचना का सूत्रपात होने से भी बहुत पहले प्राचीन-परम्परा की अनेक आलोचनात्मक उक्तियाँ—जो संस्कृत साहित्य में प्राप्त समीक्षात्मक उक्तियों के ढंग पर ही है—बिहारी सतसई के विषय में साहित्यिकों में प्रसिद्ध हो चुकी थी और उनपर सर्वमान्यता की मुहर भी लग चुकी थी। बिहारी के दोहों की मार्मिकता प्रकट करने के लिये क्या इन पंक्तियों से अधिक मार्मिक शब्द मिल सकते हैं:—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे, लगै घाव करै गम्भीर॥

इससे स्पष्ट है कि प्रभाव की दृष्टि से बिहारी का स्थान सर्वोच्च है। परवर्ती कवियों पर जितना उनका प्रभाव पड़ा है उतना किसी का नही। किसी भी ग्रन्थ ने कवियों और टीकाकारों को इतना आकृष्ट नहीं किया जितना बिहारी सतसई ने। यह कहना असंगत न होगा कि रामचरितमानस भी इसका अपवाद नहीं है। समीक्षकों पर तुलसी और सूर का प्रभाव अधिक है। धार्मिक भावना, आध्यात्मिक साधना, सामाजिक चेतना और साहित्यिक समन्वय की दिशा में तुलसी की उत्तुङ्गता का कोई स्पर्श नहीं कर सकता किन्तु भावों की गहराई में सूर के समान गोता लगाने वाला कोई नहीं। यही कारण है कि इन दोनों को हिन्दी साहित्य जगत् के सूर एवं चन्द्र बनने का गौरव प्राप्त हुआ। इन महाकवियों के पश्चात् यदि किसी को सर्वाधिक मान प्राप्त हुआ है तो वह बिहारी ही है। केशव को यह स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि प्रायः आलोचक उन्हें सहृदय कवि मानने की अपेक्षा आचार्य मानने के ही पक्ष में अधिक हैं। शुक्ल जी ने जायसी को तीसरा स्थान दिया है किन्तु उनका दृष्टिकोण केवल प्रबन्धकाव्यकारों पर केन्द्रित रहा। कवित्वशक्ति के स्फुरण का चरम विलास वे महाकाव्य में ही मानते हैं। अतः उन्होंने समस्या का समाधान अपने ढंग से किया है, परन्तु रसिक जनों में आज भी बिहारी के प्रति जायसी से अधिक प्रतिष्ठा की भावना है। यही बात अन्य कवियों के विषय में भी कही जा सकती है।

काव्य कौशल की दृष्टि से बिहारी की तुलना प्रबन्ध-काव्यकार कवियों से करना समीचीन नहीं है। शृङ्गारिक मुक्तककारों में केशव, देव, मतिराम, तोषनिधि आदि का नाम बिहारी की तुलना में लिया जा सकता है। केशव का पाण्डित्य बिहारी की अपेक्षा चाहे समृद्ध रहा हो किन्तु बिहारी के समान तीव्र पर्यवेक्षण दृष्टि तथा भाव-प्रवण हृदय उन्हें प्राप्त नहीं था तभी तो संस्कृत से उधार लिये हुये भावों को वे ठीक प्रकार निर्वाहित न कर सके जबकि बिहारी ने संस्कृत-साहित्य से लिये हुए भावों पर अपनी प्रतिभा की छाप स्पष्ट लगा दी है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा भी केशव की भाषा से कहीं अधिक प्रौढ़ है। देव ने भावना की तीव्रता का मार्मिक चित्रण किया है। नादात्मक सौन्दर्य एवं संगीतात्मकता मे वे निःसन्देह बहुत आगे हैं। विभिन्न जनपदों की स्त्रियों के स्वभाव तथा प्रभाव से वे भलीभाँति अभिज्ञ है फिर भी शब्दो के कलात्मक प्रयोग, भाषा की प्रौढ़ता एवं भावों के परिष्कार की दृष्टि से वे बिहारी से पीछे रह जाते हैं। बिहारी ने चमत्कार और रस का जैसा समन्वय किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। शैली की दृष्टि से उन्हें रीतिकाल का कालिदास कहा जा सकता है। यदि व्यञ्जना का उत्कर्ष ही काव्य की कसौटी स्वीकार किया जाय तो बिहारी देव से कहीं अधिक आगे बढ़ पाते हैं। बिहारी कालिदास की तरह व्यञ्जित करते है, कहते नहीं और देव भवभूति की तरह सब कुछ भावात्मकता के साथ कह डालते हैं। एक का महत्त्व व्यङ्यार्थ की अनिर्वचनीयता में है और दूसरे का अभिधा की सशक्तता में। मतिराम ने दाम्पत्य के अत्यन्त मनोरम चित्र खीचे है। उनके चित्रों का आकर्षण रंगीन साजसज्जा में है और बिहारी के चित्रों का महत्त्व सधी हुई रेखाओं में है। मतिराम में भावना का प्रसार अधिक है और बिहारी में गहराई। मतिराम के भाषा-परिष्कार और व्यवस्थिति में कोई सन्देह नहीं पर बिहारी की भाषा जैसी समाहार-शक्ति, अभिव्यक्ति-रमणीयता तथा सामासिकता उसमें नहीं है। तोषनिधि में सरसता है किन्तु बिहारी जैसी गहराई नहीं, उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार-विधान के साथ रस निर्भरता का योग भी अधिक नहीं प्रतीत होता। घनानन्द में आवेग और तन्मयता है, भाषा भी उनकी परिष्कृत तथा सुव्यवस्थित है फिर भी बिहारी जैसी सर्वाङ्गीण काव्य-समृद्धि का दर्शन दुर्लभ है। ब्रजभाषा को साहित्यिक प्रौढ़ता प्रदान करने वाले बिहारी ही थे। इस दृष्टि से उनकी सतसई वस्तुतः ब्रजभाषा के ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट है:—

ब्रज भाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि-बिसाल।
सबको भूषन सतसई, रची बिहारीलाल॥

रसराज का जितना सुन्दर अभिव्यञ्जन विहारी-सतसई में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। इसे शृङ्गार की कविता कहा जाय या कविता का शृङ्गार ? रस का यह सार सचमुच स्पृहणीय है:—

जो कोऊ रसरीति को समुझै चाहै सारु।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को सिगारु॥

सच्ची अनुभूतियों और विस्तृत पर्यवेक्षण के आधार पर कही हुई उक्तियों में न जाने कितने अर्थ निहित हैं ? अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से भी बिहारी निःसन्देह हिन्दी के मुक्तककारों में सर्वश्रेष्ठ हैं:—

भाँति-भाँति के बहु अरथ या में गूढ़ अगूढ़।
जाहि सुनै रसरीति को मग समुझत अति मूढ़॥

बिहारी सतसई में विभिन्न रुचि वालों के लिये अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कुछ न कुछ मिल जायगा। रस, नायिका-भेद, अलङ्कार, नखशिख-वर्णन, भक्ति, राजनीति, वैराग्य सबकुछ उसमें समाविष्ट है। तभी तो वह कवियों के लिये भी पठनीय है:—

बिबिध नायिका भेद अरु अलंकार नृपनीति।
पढ़ै बिहारी सतसई जानै कवि रसरीति॥

अतएव अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी यह कथन कितना स्वाभाविक है:—

उदै-अस्त लौं अवनि पै सब को याकी चाह।
सुनत बिहारी-सतसई सबहिं सराह-सराह॥

बिहारी सतसई पर पचासों टीकाएँ हुईं। सभी टीकाकारों ने इन गागर में भरे सागर से भावरत्नों को निकाला पर वे कम नहीं हुए। जितना मनन कीजिए उतनी ही नवीनता उसमें मिलती रहेगी। 'इनका एक-एक दोहा टकसाली और अनमोल रत्न है। ये रत्न क्षीरसागर के रत्नों से कहीं अधिक चोखे और अनोखे हैं। बिहारी-सतसई के रत्नों की अनेक जौहरियों ने परख की, परन्तु उनकी ठीक-ठीक कीमत कोई भी नहीं पड़ताल सका। कितनी टीकाएँ हुईं, कितनी युक्तियाँ पेश की गईं, पर यह कभी नहीं सुनाई पड़ा कि अमुक सोरठे का केवल यही अर्थ है। सच है—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर।

'नूत्नं नूत्नं पदे-पदे' देखकर 'नेति-नेति' ही कहते बनता है।

१ वियोगी हरि

हिन्दी भाषा के वृहत् कोष हिन्दी-शब्दसागर में जिसके सम्पादक डा० श्यामसुन्दरदास तथा उद्भट आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे मनीषी हैं, बिहारी की रचनाओं के विषय में लिखा है:—

"श्रृङ्गार-रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान बिहारी-सतसई का हुआ है, उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में रत्न माना जाता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचा है, इसमे कोई सन्देह नहीं।.........इनके दोहे क्या है रस की छोटी छोटी पिचकारियाँ हैं। वे मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देते हैं।"[१] हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक पं० पद्मसिह शर्मा के अनुसार बिहारी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं:—

"ब्रजभाषा के साहित्य में बिहारी-सतसई का दर्जा बहुत ऊँचा है। अनूठे भाव और उत्कृष्ट काव्यगुणों की वह खान है, व्यंग्य और ध्वनि का आकर है। संस्कृत कवियों में कविकुलगुरु कालिदास जिस प्रकार श्रृङ्गार रस-वर्णन, प्रसाद गुण, उपमालङ्कारादि के कारण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं उसी प्रकार हिन्दी कवियों में महाकवि बिहारीलाल जी का आसन सब से ऊँचा है। श्रृङ्गार-रस-वर्णन, पद-विन्यास-चातुरी, माधुर्य, अर्थ-गाम्भीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि गुणों में वह अपना जोड़ नहीं रखते।"[२]

श्री राधाचरण गोस्वामी ने तो और भी अधिक भावात्मक आलोचना की है और बिहारी का स्थान सूर तथा तुलसी से भी ऊपर निश्चित किया है। उनका कथन है कि "यदि सूर-सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास" हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कविकोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

उक्त दोनों महानुभावों से सहमत न होते हुए भी हमारा स्पष्ट मत है कि बिहारी का हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है और श्रृङ्गारिक मुक्तककारों में वे निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ हैं। अब तक जो विवेचन हमने किया है वही इसके प्रमाण के लिये यथेष्ट है।

---

१ हिन्दी शब्द सागर; आठवाँ खण्ड, पृ० १३५-१३६

२ संजीवन भाष्य की भूमिका

बिहारी-सतसई का अनुवाद संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, गुजराती आदि भाषाओं में हो चुका है। सतसई के अतिरिक्त हिन्दी की किसी भी पुस्तक को संस्कृत में अनूदित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इतना ही नही विदेशी कवियो और आलोचकों ने भी मुक्तकण्ठ से बिहारी की प्रशंसा की है। डा० ग्रियर्सन लिखते हैं:—

"Beharilal has been called the Thompson of India, but I do not think that either he or any of his brother-poets of Hindustan can be usefully compared with any Western Poet. I know nothing like his verses in any European language."[1]

डा० ग्रियर्सन का यह कथन उन भारतीयों के लिये चुनौती है जो विलायती कविता के रूप रंग से चुँधियाकर अपने साहित्य की ओर से आँखें मूँदे हुए हैं। ग्रियर्सन के हृदय पर ही बिहारी का सिक्का बैठा हो, यह बात नहीं है, पाश्चात्य तथा पौर्वात्य साहित्य के मर्मज्ञ श्री एफ० ई० की नामक विद्वान् ने भी बिहारी की बड़ी प्रशंसा की है:—

"The most celebrated Hindi writer in connection with the art of poetry is Beharilal Chaube......Beharilal's fame as a poet rests up on his Satsai which is a collection of approximately seven hundred 'Dohas' and 'Sorathas.' The majority of the couplets take the shape of amorous utterances of Radha and Krishna, but each couplet is complete in itself. They are intended to illustrate figures of rhetorics and other constituents of a poem......Tulsidas had written a Satsai before the time of Beharilal as well as other Hindi poets. But Beharilal has undoubtedly achieved very great excellence in this particular line, and this work has had a large number of commentators and many imitators......Each couplet had to be complete in itself, and yet in such a small space the poet must give an entire picture. Conciseness of style was therefore an absolute necessity, and besides this all the different artifices of Indian Rhetoric had to be illustrated in turn.

---

१ लाल चन्द्रिका की भूमिका

The work of Beharilal is a triumph of skill and of felicity in expression."[1]

अर्थात्—काव्यकला के विषय में सर्वप्रसिद्ध हिन्दी लेखक बिहारीलाल चौबे है जिनकी कीर्ति का आधार उनकी सतसई है जिसमें लगभग ७०० दोहे और सोरठे संगृहीत हैं। अधिकांश दोहे राधा और कृष्ण विषयक शृङ्गारिक उक्तियों के रूप में है किन्तु हर एक दोहा स्वतः पूर्ण है और अलङ्कार तथा काव्य के अन्य उपादानों को उदाहृत करने के लिये रचे गये है। बिहारीलाल तथा अन्य हिन्दी कवियों से पूर्व तुलसीदास एक सतसई लिख चुके थे किन्तु इस विशेष क्षेत्र में बिहारीलाल को बड़ा महत्त्व प्राप्त हुआ है। उनकी रचना पर अनेक लोगों ने टीकाएँ कीं और बहुतसों ने उसका अनुकरण किया। प्रत्येक स्वतःपूर्ण दोहे के लघु कलेवर में कवि को पूरा दृश्य दिखाना था अतः शैली की समाहार शक्ति नितान्त आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न अङ्गों के उदाहरण भी उन में प्रस्तुत करते थे। कला और अभिव्यञ्जना की दृष्टि से बिहारी की कविता पूर्णतया सफल हुई है।

Imperial Gkzetteer में हिन्दी के केवल तीन ही कवियो की चर्चा हुई है, वे हैं तुलसी, सूर और बिहारी। बिहारी के विषय में उसमें लिखा है:—

"Surdas had many successors, the most famous of whom was Biharilal of Jaipur, whose Satsaiya, or collection of seven hundred detached verses is one of the daintiest pieces of art in any Indian Language. Bound by the rules of metre each verse had a limit of fortysix syllables, and generally contained less. Nevertheless each was a complete picture in itself, a miniature description of a mood or a phase of nature, in which every touch of the brush is exactly the needed one."[2]

अर्थात् सूरदास के बहुत से उत्तराधिकारी हुए जिनमें जयपुर के बिहारीलाल सब से अधिक प्रसिद्ध हैं उनकी सतसई अथवा ७०० मुक्तक दोहों का संग्रह भारतीय भाषाओं में सब से अधिक लालित्यपूर्ण कला-सृष्टि है।

1 A History of Hindi Literature, by F. E. Key.

2 Imperial Gazetteer of India, Vol. II, P. 423.

पिंगल नियमों के अनुसार प्रत्येक दोहे में अधिक से अधिक ४६ वर्ण आ सकते हैं किन्तु बिहारी के दोहों में प्रायः इससे कम ही हैं। फिर भी प्रत्येक दोहा अपने आप में पूर्ण है जिसमें किसी भाव अथवा प्राकृतिक दृश्य का सूक्ष्मचित्र तूलिका की यथोचित कलात्मक सृष्टि से परिपूर्ण है।"

जिस कवि की कला ने जन साधारण से लेकर राजा महाराजा तक, सामान्य हिन्दी ज्ञान रखने वाले से लेकर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डितों तक, ब्रजक्षेत्र से लेकर गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं के क्षेत्र तक और देश से लेकर विदेश तक के आलोचकों को रससे आप्लावित किया हो वह कोई सामान्य स्रष्टा नही कहा जा सकता। निःसन्देह बिहारी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ मुक्तककार, भारत के यशस्वी महाकवि और विश्व के आदरणीय कलाकार के रूप में सदैव याद किये जायेंगे।

१३—दोष-विचार

बिहारी बड़े ही सजग कलाकार थे। उन्होंने सतसई का प्रत्येक दोहा सावधानी के साथ रचा है प्रत्येक पद का विचारपूर्वक प्रयोग किया है। ऐसी दशा में उनकी रचना में दोषों की खोज एक साहसिक कार्य है। फिर भी ध्यान देने पर कुछ स्खलन स्पष्ट हो ही जाते है। रस के परिपाक मे व्याघात उत्पन्न करने वाले कारणों को दोष कहा जाता है। ये कारण स्थूल रूप से शब्दगत, वाक्यगत, अर्थगत रसगत और छन्दगत हो सकते है।

शब्द दोष

अश्लीलत्व

व्रीडा जुगुप्सा तथा अमंगल व्यञ्जक शब्दों के प्रयोग में अश्लीलत्व दोष माना गया है:—

बहकि न इहि बहिनापुली जब तब बीर विनासु।
बचत न बड़ी सबीलहू चील घोंसुआ माँसु ॥६३५॥

यहां पूर्वार्ध में विनाश शब्द के अमंगल सूचक तथा उत्तरार्द्ध में माँस के जुगुप्साव्यञ्जक होने से अश्लीलत्व दोष हुआ।

असमर्थत्व

किते न औगुन जग करत बै नै चढ़ती बार।

यहाँ 'बै' तथा नै वय और नैया के बिगड़े हुए रूप है जो अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हैं। इसी प्रकार "हरी हरी अरहरि अबैं धरु धरहरु उर नारि" में धरहरु शब्द 'धैर्य' अर्थ की अभिव्यक्ति में असमर्थ है।

वाक्य दोष

बिहारी के दोहे गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ करते हुए भी न्यूनपदत्व से रहित हैं इसका कारण है उनका व्यञ्जनात्मिका सशक्त भाषा का प्रयोग। फिर भी एक आध स्थान पर विभक्तियों का प्रयोग अस्पष्ट हो गया है जिससे अर्थ-प्रतीति में दुरूहता ही नहीं आ गई भ्रान्त अर्थ भी लगा लिये गए हैं—

झूँठे जानि न संग्रहे मन मुँह निकसे बैन।
याही तैं मानहु किये बातनु कौ विधि नैन ॥३४५॥

इस दोहे में मन कर्ता है किन्तु कर्तृ सूचक स्पष्ट विभक्ति के अभाव में तथा अनुचित स्थान में रख दिये जाने के कारण अर्थाभिव्यक्ति में बाधा होती है।

रसानुकूल वर्णों से घटित शब्दों का अभाव तथा रस प्रतिकूल गुण के द्योतक पदों का प्रयोग प्रतिकूलवर्णता कहलाता है। बिहारी का एक दोहा लीजिये—

लटकि लटकि लटकत चलत, डटत, मुकुट की छाँह।
चटक भरयौ नट मिलि गयौ, अटक-भटक-वट माँह॥

यहाँ शृङ्गार के वर्णन में टकार का अनुप्रास परुषता का आधायक होने के कारण रसचर्वणा मे उद्वेग उत्पन्न कर बाधा पहुँचाता है अतः प्रतिकूल-वर्णता दोष है।

हतवृत्तता

यह दोष छन्दोभङ्ग की स्थिति में होता है। छन्दः शास्त्र की दृष्टि से लक्षणनिर्वाह हो जाने पर भी यदि अश्रव्यता रहे तो भी यह दोष माना जाता है:—

तनिक झूठ न सवादिली कौन बात परि जाइ।
तिय मुख रति आरम्भ की नहि झूठियै मिठाइ॥

दोहे का लक्षण दृष्टिकोण में रखकर देखने में इसमें कोई दोष नही है किन्तु प्रथम पाद में अश्रव्यता है। "तनिक न झूठ" पाठ करने पर शब्दों के प्रवाह की गति ठीक हो जाती है और दोष निकल जाता है।

असमर्थता

उक्त दोहे के दूसरे पाद में कवि कहना चाहता है कि चाहे किसी भी बात में पड़ जाय (झूठ में तनिक भी आनन्द नहीं होता) किन्तु प्रयुक्त शब्द इस अर्थ के प्रकटीकरण में असमर्थ हैं। वे "कौन बात में पड़े" या किस बात में पड़ जाय अर्थ ही देते है अतः असमर्थता दोष है।

कथित पदत्व

तियतिथि तरुन किसोर वय पुन्यकालसम दोनु।
काहू पुन्यन पाइयतु वयस सन्धि-संक्रौनु॥

यहां पुन्य शब्द की पुनरावृत्ति के कारण कथितपदत्व दोष है। यद्यपि प्रथम पुण्य शब्द को विशेषण मानकर पवित्र काल अर्थ करने से दोप का परि-हार हो जाता है तथापि नायिका की ओर आकृष्ट करने के लिये नायक के प्रति

दूती की उक्ति मानने पर यहाँ पुन्य का अर्थ सुकृत (दान) करना ही अधिक समीचीन ज्ञात होता है। वय:सन्धि की संक्रान्ति पुण्य करने का समय है जिसमें नायक को प्रणयदान करना ही चाहिये। यह व्यङ्ग्यार्थ तभी संभव हो सकता है।

पतत्प्रकर्षता

लाल अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहाँति।
आज काल्ह में देखियतु, उर उकसौही भाँति॥

इस दोहे मे अनुप्रास का प्रकर्ष क्रम से गिरता चला गया है।

दूरान्वय

गड़े बड़े छवि-छाक छकि छिगुनी छोर छुटै न।
रहे सुरंग रँग रँगि उहीं नहदी महदी नैन॥ ६७०॥

इस दोहे में नैन कर्त्ता है और गड़े क्रिया जो दोहे के दोनों छोर पर दूर दूर जा पड़े हैं। यद्यपि अर्थ की अभिव्यक्ति में कोई बाधा नही है, अन्वय में विश्रृङ्खलता का अनुभव भी नही होता तथापि शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने पर तो दोष मानना ही पड़ेगा।

कहत न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पञ्जरगत मँजार ढिग सुक लौं सूकति जाति॥

यहाँ पञ्जरगत मार्जार है अथवा शुक यह संदेह ही नही होता अपितु मार्जार की ही पञ्जरगतता प्रतीत होने से विरुद्धमति होती है। वस्तुत: तोते का ही पञ्जरगत होना अधिक उपयुक्त है क्योंकि कुलतिय का उपमान वही है। निरंकुश देवर के उपमान मार्जार का पजरगत होना युक्तियुक्त जँचता ही नहीं।

अधिकपदत्व

बिहारी की चुस्त रचना मे अधिकपदत्व का कोई उदाहरण गहन अन्वेषण के पश्चात् ही मिल सकता है:—

लपटी पुहुप-पराग-पट सनी स्वेद-मकरन्द।
आवति नारि नबोढ लौं, सुखद वायु गतिमंद॥ ३९२॥

पराग से ही पुष्परज की प्रतीत हो जाती है अत: 'पुहुप' कहने की कोई आवश्यकता ही नही। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार जिस प्रकार 'कान से सुनना का अर्थ ध्यान से सुनना' माना जाता है, 'आँख से देखना' का अर्थ 'गौर से देखना; प्रामाणिकता के साथ देखना' आदि होता है उसी प्रकार

पुहुप-पराग में पुहुप का अर्थ होगा 'सुगन्ध से युक्त।'[1] इस प्रकार उन्होंने उपर्युक्त दोष का परिहार प्रस्तुत किया है किन्तु वास्तविकता यह है कि 'आँखों देखी घटना' का अर्थ स्वयं अपनी आँखों से देखी हुई घटना है और कानों सुनी का 'स्वयं अपने कानों द्वारा सुनी' दोनो ही स्थलों में प्रत्यक्ष के ऊपर बल है। 'पुहुप पराग-पट' में यदि पुहुप का तात्पर्य 'सुगन्ध युक्त' से है तो भी वह व्यर्थ ही है क्योंकि कतिपय पुष्पो के निर्गन्ध होने पर भी 'पराग' का अर्थ सामान्यतया सुगन्धयुक्त पुष्परज ही है। यदि न भी हो तो भी प्रस्तुत दोहे में प्रसङ्गवश 'मकरन्द' तथा 'गतिमन्द' के साहचर्य से ही सुगन्ध की भी प्रताति हो ही जाती है, अतः पुहुप शब्द अधिक ही माना जायगा।

बिहारी की भाषा इतनी प्रौढ़ परिमार्जित तथा चुस्त है कि बड़े भारी अनुसन्धान के पश्चात् ही उसमें कतिपय दोष देखे जा सकते है। मिश्रबन्धुओं ने जो असमर्थ, अप्रयुक्त निहितार्थ आदि शब्दों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है वह अनेक स्थलों में उनकी भ्रान्ति, असूया आदि की द्योतक है। इन दोषों के परिहार का प्रयत्न करते हुये श्री पद्मसिंह शर्मा ने इन पर पर्याप्त विचार किया है। आचार्य शुक्ल ने भी सूत्ररूप से इस ओर संकेत किया है। स्थाना-भाव के कारण एवं अनुपयुक्त समझते हुए हम उस विवाद को यहाँ उठाना अनावश्यक समझते है।

अर्थ-दोष

बिहारी में अर्थदोषों का प्रायः अभाव है। बहुत खोजने पर शायद छोटा-मोटा स्खलन दृष्टि पड़ जाय। पतत्प्रकर्ष दोष एक दोहे में दिखाई पड़ता है:—

कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति॥ ५२२॥

यहाँ पर कुसुम और कौमुदी कथन के पश्चात् शीशे की उज्ज्वलता में उत्कर्ष नहीं रह जाता, अतः यह प्रकर्ष से पतन हुआ, किन्तु कुसुम कोमलता-समवेत कान्ति का प्रतीक है तथा कौमुदी शीतलताजनित आह्लादसमवेत कान्ति का। इसी प्रकार दर्पण से सहज चिक्कण लावण्य की प्रतीति होती है। नायिका के वर्ण की इन तीनों पृथक् पृथक् विशेपताओं की अभिव्यक्ति के लिये उपात्त उपर्युक्त पदार्थों में प्रकर्षक्रम देखने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने निम्नलिखित दोहे में ग्राम्यत्व दोष माना है:—

---

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १७५

ज्यौं कर त्यों चिकुटी चलति, ज्यौं चिकुटी त्यों नारि।
छवि सौं गति सी लै चलति, चातुर कातनिहार ॥ ६५६ ॥

प्रश्न यह है कि क्या चरखा ग्राम्यत्व का परिचायक है ? मानव-सभ्यता के विकास में चरखे का प्रमुख हाथ रहा है इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। अतः चरखा ग्राम्यत्व का प्रतीक नही माना जा सकता। कवियों ने इसका वर्णन किया भी है। आधुनिक युग के गाँधीवाद से प्रभावित मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों को जाने दीजिये स्वयं वेदों में इसकी प्रशंसा की गई है। सातवेलकर ने 'वेदों में चरखा' नाम से एक छोटी सी पुस्तक लिखी भी है। अतः इसे दोष नहीं माना जा सकता। वस्तुतः बिहारी जैसे नागरता के समर्थक कवि की कृति में ग्राम्यता को खोजने में निराशा ही पल्ले पड़ेगी। उनके दोहों में दोष तो नही, हाँ अनेक स्थलों पर दोषाभास अवश्य दीख पड़ता है। उदाहरण लीजिये—

इहि बसंत न, खरी अरी गरम न सीतल बात।
कहि क्यौं झलके देखियत पुलक पसीजे गात ॥५७४॥

इस दोहे में वायु के दो गुणों का उल्लेख है—गरमी तथा शीतलता का। गरम विशेषण पहले है और शीतल बाद में। इन दोनों के प्रभावरूप पुलक एवं पसीजना भी इसी क्रम से आने चाहियें किन्तु दोहे में क्रम उलटा रख दिया गया है अतः भग्नप्रक्रमता दोष प्रतीत होता है, किन्तु 'पसीजे' गात का विशेषण है और 'पसीजे गात मे पुलक क्यों झलके देखियत' यह अन्वय है। अतः दोष है ही नहीं। अन्य उदाहरण लीजिये—

जटित नीलमनि जगमगति, सींक सुहाई नॉक।
मनौ अली चंपक-कली, बसि रस लेत निसाँक ॥१४३॥

इस दोहे में भ्रमर का चंपक कली का रस लेना ख्याति-विरुद्ध दोष प्रतीत होता है, किन्तु यहाँ उपमा न होकर उत्प्रेक्षा है। कविवर्ग उत्प्रेक्षा में अनेक लोकादृष्ट वस्तुओं की कल्पना करता आया है। चम्पककली पर भ्रमर नहीं बैठता किन्तु यह कली ऐसी अद्भुत है कि भ्रमर आत्ममुग्ध सा उसका रस लेने लगता है। सौन्दर्य की इसी अनिवर्चनीयता को अभिव्यक्त करने के लिये कवि ने ऐसी कल्पना की है।

बिहारी में एक स्थान पर ख्यातिविरुद्ध दोष अवश्य मिलता है। उन्होंने वर्षाऋतु में चक्रवाक-मिथुनों का वर्णन किया है। किन्तु कवि-प्रसिद्धि के अनुसार वर्षाकाल में दीख नहीं पड़ते। रत्नाकर ने पालतू चक्रवाकों की सत्ता द्वारा इस दोष का परिहार करने का प्रयत्न किया है जो खीच-तान मात्र होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता, अतः यह दोष स्वीकार करना ही पड़ेगा।

अलंकार दोष

वर्ण्यरस से प्रतिकूल वर्णघटित अनुप्रास दोष माना गया है जिसका उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। यमक का तीन पादों में होना दोष माना गया है। बिहारी के नीचे लिखे दोहे में यमकदोष है—

तो पर वारौं उरबसी सुन राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान।।

उपमा रूपक आदि अलङ्कारों में उपमान तथा उपमेय में लिङ्गभेद भी दोष माना जाता है, बिहारी में यह दोष भी मौजूद है—

रह्यौ ऐंचि, अंतु न लहै अवधि दुशासन बीर।
आली बाढत बिरह ज्यौं पंचाली को चीर।।४००।।
बिरहव्यथा-जल-परस बिन बसियत मो मन लाल।
कछु जानत जलथंमविधि दुर्योधन लौं लाल।।४१४।।

प्रथम दोहे में अवधि (स्त्रीलिङ्ग) के लिये दु:शासन (पुल्लिग) तथा द्वितीय में व्यथा (स्त्री०) के लिये जल (पुल्लिग) उपमान दिया गया है अत: यह दोष है। दूसरे दोहे में एक दोष यह भी बताया जाता है कि बिरह की अग्नि ही प्रसिद्ध है जल जैसे शीतल पदार्थ से उसका रूपक बाँधना उपयुक्त नहीं है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि "विरह व्यथा की दाहकता का उल्लेख न करके यदि कहीं कवि उसकी शीतलता की व्याख्या करने लगता कि वाह! विरह की व्यथा कितनी शीतल होती है, हिम की भाँति आदि, तब तो वह दोष का भागी माना जाता; पर रूपक के लिये ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। तुलसीदास जी ने तो क्रोध का रूपक नदी से बाँध दिया है, यद्यपि 'क्रोधाग्नि' बहुत प्रसिद्ध है—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी। मानहुँ रोषतरंगिनि बाढी। (रामा० अयो० का०)[१]। मिश्र जी का यह कथन विचारणीय है। उक्त दोहे में कवि ने किसी भी प्रकार से विरह की दाहकता की ओर कोई संकेत नहीं किया है। विरह का रूपक जल के साथ बाँधने में कवि का तात्पर्य उसकी शीतलतापरक व्याख्या करने का न भी हो तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसका उद्देश्य नायक के उपमान 'दुर्योधन' की उपयुक्तता सिद्ध करना ही है। विरह-व्यथा को जल का रूपक दिये बिना "कछु जानत जलथम्मविधि दुर्योधन लौं लाल" की संगति बैठ ही नहीं सकती। कवि की दृष्टि वहीं लगी हुई भी है।

१ बिहारी की वाग्विभूति पृ० १७८

सारांश यह है कि कवि का मुख्य लक्ष्य विरहभाव की मार्मिक अभिव्यञ्जना नहीं है अपितु अलङ्कार द्वारा चमत्कार उत्पन्न करना ही है। उपमा और रूपक सादृश्य पर ही आधृत होते हैं। अत: विरह व्यथा को जल कहते ही सहृदय पाठक की मनोवृत्ति दोनों की किसी न किसी समता को तत्काल खोज निकालना चाहती है किन्तु समता के स्थान में विषमता ही हाथ लगती है। अत: यहाँ पर यह दोष ही माना जायगा। तुलसीदास की उदाहृत पंक्ति में बाढ से युक्त नदी में जिस प्रकार सब कुछ बह जाता है उसी प्रकार विवेक को विलुप्त कर देने वाले रोष की ओर संकेत करना कवि का लक्ष्य रहा है। अतः वहाँ उपमान एवं उपमेय की यही समता अभीष्ट होने के कारण दोष की सत्ता नहीं मानी जा सकती। लिंगभेद के कारण जो दोष बताया गया है वह कविवर्ग में परम्परागत होने के कारण उतना अधिक महत्त्व नहीं रखता इसीलिये काव्यशास्त्रियों ने उसके लिये कुछ व्यवस्था भी कर दी है—

न लिंगबचने भिन्ने न न्यूनाधिकतोऽपि वा।
उपमा दूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ काव्यादर्श

अर्थात् उपमा मे लिंग या वचन में भिन्नता अथवा न्यूनाधिकता का होना दोष नहीं माना जायगा यदि वह बुद्धिमानों के हृदय में उद्वेग उत्पन्न न करे। उपमेय का अत्यन्त अधिक अथवा अत्यन्त न्यून होना भी दोष माना गया है यह इसी उक्ति से स्पष्ट है। बिहारी सतसई में इसका भी उदाहरण मौजूद है—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किएँ नीठि ठहराइ।
सूछम कटि परब्रह्म की अलख लखी नहिं जाइ॥६४८॥

इस दोहे में कटि को ब्रह्म की पर अर्थात् प्रतियोगिनी माना है। कटि ब्रह्म के समान सूक्ष्म होने के कारण अलक्ष्य है यह आर्थी उपमा है। यहाँ कटि स्त्रीलिंग है तथा उपमान ब्रह्म पुल्लिग। इस प्रकार लिंगव्यत्यय तो है ही साथ ही उपमानगत अत्यधिक न्यूनता भी है। यद्यपि उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जा सकता है कि यहाँ कटि की ब्रह्म सदृश सूक्ष्मता पाठक के हृदम में उद्वेग उत्पन्न नहीं करती अतएव इसे दोष नहीं माना जा सकता। किन्तु प्रश्न यह है कि इससे वर्ण्य वस्तु का कितना उत्कर्ष हुआ? चमत्कार तक उत्पन्न कर सकने में यह उक्ति असमर्थ है। दूर की सूझ ही तो काव्य में सब कुछ नहीं है।

रसदोष

युग की घोर शृंगारिक प्रवृत्ति तथा परम्परा के प्रभाव के कारण बिहारी की शृंगारिक उक्तियाँ कही-कही रसाभास बन कर रहगई है। इतना ही नही कहीं-कहीं तो उन्हे पढ़कर पाठक के हृदय में उद्वेग का ही अदम्य संचार होने लगता है। प्राकृत तथा अपभ्रंश के काव्य में इस प्रकार की उक्तियों की कमी नही थी। उसी के प्रभाव के कारण बिहारी ने भी चमत्कार उत्पन्न करने के प्रयास में ऐसे दोहों की सृष्टि कर डाली जो रस की दृष्टि से अच्छे नही कहे जा सकते। विपरीत, सुरत आदि घोर शृङ्गारिक व्यापारों के वर्णन को तो जाने दीजिये, दाम्पत्यरति के लिये वात्सल्य जैसे पवित्र भाव की बलि तक दे दी गई है। कहीं-कहीं तो यह कार्य बीभत्सता की सीमा का स्पर्श करने लगा। एक उदाहरण लीजिये—

बिहँसि बुलाइ बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत कौ, पियचूम्यों मुँहु चूमि ।।६१७।।

यहाँ नायिका पुत्र का मुख इसलिये चूमती है। वह पियतम द्वारा चूमा गया है इसलिये नहीं कि उसके प्रति उसके हृदय में मातृत्व का भाव जागरित हुआ है। इसी प्रकार का अन्य दोहा देखिये—

लरिका लैबे के मिसनु, लंगर मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुआय ।।३८६।।

इस दोहे में शास्त्रीय दृष्टि से पुरुषप्रवृत्त रति होने के कारण रसाभास तो है ही वात्सल्य भाव की उपेक्षा हृदय में उद्वेग उत्पन्न करती है। इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि इस दोहे में पतिव्यतिरिक्त-पुरुषप्रवृत्त रति है 'अचानक' शब्द इस बात का द्योतक है कि नायिका की ओर से इसका कोई संकेत नहीं था। जिस बालक को नायक ने नायिका की गोद से लिया है वह उस नायक का अपना बालक नहीं है अतः उसके प्रति उसके हृदय में वात्सल्य का इतना अतिरेक नहीं हुआ जो उसकी शृंगारिक भावना को अभिभूत कर लेता। यह सब कुछ मान भी लिया जाय तोभी नायिका स्वयं जिस रस के साथ इस घटना का वर्णन कर रही है उससे तो यही प्रतीत होता है उसके हृदय में भी वात्सल्य की अपेक्षा इस अवसर पर शृंगार का ही बोलवाला-रहा।

गर्भभार को धारण करने में आयस्त मातृत्व की गरिमा से दीप्त नारी सुरतसुखित सी बताना भी ऐसा ही है—

दग थिरकौहै अधखुलै, देहथकौहैं ढार।
सुरतसुखित सी देखियति, दुखित गर्भ कै भार ।।६६२।।

श्रृंगारिक भावना का यह कलमषस्वरूप बिहारी का अपना नही है। यह भी उन्हें गुणों की ही भाँति विरासत में मिला था। उदाहरण के लिये यह गाथा लीजिये—

ण वि तह अइगरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्भस्स।
जह विपरीअणिहुआणं पिअम्मि सोह्वा अपावन्ती ।। गाथा सप्तशती ५८३
नापि तथातिगुरुकेणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य।
यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्नुषा अप्राप्नुवती ।।

अर्थात् नायिका गर्भ के भारी बोझ से उतनी नहीं कुम्हलाई जितनी विपरीतरति का आनन्द न मिलने के कारण। कहने की आवश्यकता नहीं कि गाथाकार इस दिशा में भी बिहारी से बहुत आगे ही रहा।

काव्य-शास्त्रकारों ने विरह की अन्तिम अवस्था 'मरण' के वर्णन का निषेध किया है—

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते।
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकांक्षितं तथा ।।

अर्थात् रसविच्छेद का कारण होने से मरण का वर्णन नहीं होना चाहिये। उसका कथन जातप्राय अवस्था में अथवा चित्त से आकाँक्षित रूप में होना ही समीचीन है। बिहारी के एक दोहे में मरण का वर्णन प्राप्त होता है—

कहे जु वचन वियोगिनी विरह विकल विललाइ।
किये न को अंसुआ सहित सुआ ति बोल सुनाइ ।।

इन शब्दों से नायिका का मरण सूचित है। यदि नायिका जीवित होती और प्रवासी नायक के घर लौट आने पर ये शब्द सुआ द्वारा कहे जाते तो वे लोगों के आँसुओं के कारण न बनकर परिहास के कारण बनते। आँसुओं का आना तभी हो सकता है जब उन शब्दों को कहने वाला विद्यमान ही न हो। अतः यहाँ मरण ही माना जायगा। वास्तव में बिहारी ने सभी रसों का थोड़ा बहुत वर्णन किया है। सम्भव है यह दोहा उन्होंने करुण रस के उदाहरण रूप में ही प्रस्तुत किया हो।

बिहारी का एक और दोहा इस दोष के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्राननु के ईस।
बिरह बिथा जरिबौ लखै मरिबौ भयौ असीस ।।

यह नायक द्वारा नायिका का कुशल-क्षेम पूछे जाने पर उसकी सखी की उक्ति है "उसकी विरहानल में जलने की दशा को देखते हुए तो मरण वरदान ही सिद्ध हुआ" यह अर्थ करने पर स्पष्ट ही यहाँ पर उपर्युक्त दोष की स्थिति है, किन्तु कवि का अभिप्रेत अर्थ यह है ही नहीं। उसके अनुसार तो 'यदि नायिका का मरण हो जाय तो विरहानल की पीड़ा की अपेक्षा शान्तिदायक ही होगा' यही अभीष्ट अर्थ है तभी तो 'प्रानन के ईस' सम्बोधन का समावेश उसने किया है जिसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि उसके प्राणों की रक्षा तुम्हारे हाथ है अतः चलकर उसे बचाइये। इसलिये यहाँ मरण वर्णन है ही नहीं।

बिहारी के जिन दोषों का विवेचन यहाँ किया गया है वे कोई बहुत बड़े दोष नहीं हैं। सम्भव है उनकी रचना में इसी प्रकार के दो-चार उदाहरण और भी मिल जायं, पर सब कुछ मिलाकर भी बिहारी की काव्य-साधना में हीनता के यत्किञ्चित भी आधान की कल्पना नहीं की जा सकती। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि ने जानबूझ कर ही ऐसा किया हो तो क्या आश्चर्य? यदि यह न भी माना जाय तो भी महाकवि कालिदास के शब्दों में—

"एको हि दोषो गुणसंन्निधाने निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः"।

———

परिशिष्ट

ग्राम ग्रामीरा और बिहारी

भारत का प्राचीन साहित्य प्रकृति का साहित्य है। प्रकृति की गोद में पले हुए भारतीय कवियों की कल्पना उसके मधुर रस से सिक्त होने के कारण अत्यन्त उर्वर हो गई थी। प्रकृति के विविध रूपों की रमणीयता उनके मानस को तरङ्गित कर देती, जिससे छलकती हुई भावधारा उनके गीतों को सरस बनाती हुई फूट पड़ती। आज की सभ्यता से बहुत दूर—वनमें—रहने वाले वैदिक कवि ने जब उषा की जगत्प्रकाशिका अरुण आभा, पर्जन्य का जीवनदान और वायु के संजीवन स्पर्श का अनुभव किया तो उसका हृदय विस्मय, कौतूहल, श्रद्धा और अनुराग से भर गया, फिर उसके निश्छल हृदय से जो गीत निकले वे विश्वसाहित्य की स्थायी अमूल्य सम्पत्ति हैं और आज भी कलुषित हृदयों की पूतभावना को जागृत करने से समर्थ है। शनैः शनैः मनुष्य के तथाकथित विकास ने उसे प्रकृति से अलग कर दिया और तब उसने सुन्दरता का प्रतीक नारी को ही मान लिया, उसके विलास में उसने प्रकृति का विकास पाया। बहिर्जगत् को छोड़ वह अन्तर्जगत् की ओर उन्मुख हुआ, उसकी प्रवृत्ति मानवप्रकृति के चित्रण में रम गई। फिर भी प्राचीन कवियों ने अन्तः प्रकृति का चित्रण बाह्य प्रकृति की पृष्ठ भूमि पर किया। कहने की आवश्यकता नही कि यह समन्वय साहित्यिक स्वास्थ्य की दृष्टि से बुरा नही रहा। किन्तु उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य ऐकान्तिक रूप से मानव-प्रकृति को संकुचित परिधि में बन्द हो गया। स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता, कला के स्थान पर पाण्डित्य, और भाव के स्थान पर बौद्धिक व्यायाम की उसमें प्रतिष्ठा हुई। गाथासप्तशती और आर्यासप्तशती के मुक्तकों में, कालिदास और श्रीहर्ष के महाकाव्यों में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों का आदर्श यही पतनोन्मुख उत्तरकालीन संस्कृतसाहित्य रहा। यही कारण है कि इन कवियों के नायक-नायिकाओं की शृंगारचेष्टाओं की चौकड़ी महलों और उपवनों के बीच ही इने-गिने उपकरणों के साथ विशेष-विशेष ऋतुओं या ऋतुओं के विशेष दिनों और अवसरों पर भरी जाती रही। द्रुमों की छाया को छोड़कर और प्रकृति से माया को तोड़ कर बालाओं के बाल-जाल में अपने लोचन फँसा कर ये कवि कृतार्थ हो गये। स्वयं बिहारी ने कली से बँधे हुए 'अली' को भविष्य

के नाम पर झकझोर कर भी शृंगार के उस विकसित कुसुम का मादक मधु ही पिलाया जो प्रासादों के गमले में खिला था प्रकृति के स्वस्थ वातावरण में नहीं उगा। गाथासप्तशती की भोलापन बिखेरने वाली ग्रामवधूटियो के स्थान पर उन्होंने वाग्विदग्धा एवं क्रियाविदग्धा नागरिकाओ की प्रतिष्ठा की। अपने पहले ही दोहे में ब्रजगाँव की भोली बालिका राधा को नागरि विशेषण देकर उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

मिश्रबन्धुओं ने बिहारी को वसुआ गोविन्दपुर ग्राम में उत्पन्न माना है किन्तु ग्राम और ग्रामवासियो का जैसा चित्र बिहारी ने खीचा है उससे तो 'जन्म ग्वालियर' जानिये वाली उक्ति ही ठीक प्रतीत होती है। उन्होने ग्रामवासियों की कटु आलोचना की है। कहीं-कही तो उनकी उक्तियों मे अत्युक्ति ही नहीं असंगति भी दीख पड़ती है। इसीलिये हृदय कुछ रुककर उनके सामने प्रश्नसूचक चिह्न लगा देता है। जिस व्यक्ति का बचपन ग्राम की अमराइयों में कोयल को चुनौती देता हुआ कूका हो, जिसके जीवन का प्रभात शस्यश्यामला विश्वम्भरा के मखमली आँचल से खेलती हुई उषा की किरणों से फूटा हो और जिसकी बादशाही जिन्दगी गाँव के निश्छल वातावरण में रह कर पनपी हो उसका ग्रामवर्णन इस प्रकार का हो नहीं सकता जैसा बिहारी की कृति में प्राप्त है। इस भावना का अधिकाश उत्तरदायित्व उस वातावरण पर है जिसमें रहकर बिहारी ने अपनी कवितादेवी में प्राणप्रतिष्ठा की। सामन्तशाही युग के वे दरबारी कवि थे। उस समय के राजा, महाराजा, नवाब और सामन्तों के ठाठ का आदर्श पतनोन्मुख मुगल दरबार का ऊपरी ऐश्वर्य था जिसमें ठोसता का नाम निशान तक न था। दरबारी चाल-ढाल, रहन-सहन, बोल-चाल सब कुछ देश की ग्रामीण जनता से ही नहीं अधिकांश नागरिकों से भी दूर था। वातावरण कुछ बँधा हुआ सा था जिसमें नवीन स्फूर्ति का सञ्चार हो ही नहीं सकता था। उनका जीवन जैसे पंगु हो उठा हो। उसमें गति तक न थी प्रगति की तो कौन कहे? बनावट, तकल्लुफ, नज़ाकत झूँठी नफ़ासत कौर जी-हुजूरी ने दरबारियों के दिल में जितनी जगह पाई थी उतनी उनके आश्रयदाताओं ने भी नहीं। प्रकृति से इतनी दूर रहकर स्वाभाविकता यहाँ आ भी कैसे सकती थी। दरबारी और ग्रामीण वातावरण में वाटिका और प्राकृत वन का सा अन्तर होता है। एक में कृत्रिम दिखावट, सजावट, लघुता और व्यग्रता है और दूसरे में सहज सरसता, सघनता, शान्ति, महत्ता और आर्द्रता है। एक बनाया जाता है, दूसरा बन जाता है। अस्तु, बिहारी का रहन-सहन दरबारी ढंग का था जो

ग्रामीण वातावरण के अनुकूल न था। इसलिये उन्होंने ग्राम्य वस्तुओं और व्यक्तियो को अपने चश्मे से देखा है। ग्रामीणों के भोलेपन और प्रकृति के निकटतम होने पर उन्हें दाद देने की तो जरूरत बिहारी को महसूस नहीं हुई, हाँ, उस युग के उच्चवर्ग में प्रचलित विलास-सामग्री और बनावट के प्रति ग्रामीणों की उदासीनता और अनभिज्ञता पर क्षोभ अवश्य हुआ—

कर लै सूँघि सराहि हूँ रहे सबै गहि मौन।
गन्धी अन्ध गुलाब कौ गँवई गाहक कौन।। ६२४

ग्रामवासियों से बिहारी ने फुलेल का आचमन तक करा दिया है। यह सत्य है कि ग्रामीण इत्र-फुलेल का उपयोग नहीं करते, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे इसे कोई पेय पदार्थ समझते हों। अत: आचमन कराने की सूझ मजाक उड़ाने का उद्देश्य प्रकट करती है। इतना ही नहीं इत्र का आचमन कर बिहारी का गँवार उसे मीठा भी बतलाता है—

करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि।
रे गन्धी मतिअन्ध तू इतर दिखावत काहि।।

ग्राम-जीवन के प्रति बिहारी की अनास्था ही इस प्रकार की उक्तियों से प्रकट होती है। इन उक्तियों के पक्ष में केवल एक बात कही जा सकती है। वह यह कि ये अन्योक्तियाँ हैं और ग्रामवासियो की अवतारणा यहाँ अप्रस्तुत के रूप में हुई है। बिहारी का लक्ष्य ग्रामवासियों पर आक्षेप करना नहीं है। अन्योक्ति ही सही, अन्योक्ति में सादृश्य के माध्यम से अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप हुआ करता है। इससे स्पष्ट है कि तुच्छ वस्तु के उपमान रूप में तुच्छ वस्तु को ही प्रस्तुत किया जाता है। अर्थात् यदि उत्कृष्ट उपमान के माध्यम से उपमेय का उत्कर्ष द्योतित होता है तो उपमेय की तुच्छता से उसकी तुच्छता भी प्रकट होती है। अत: इन उक्तियों में ग्रामीणों के प्रति अवहेलना का ही स्वर ऊँचा है। ग्रामीणों में गुण-ग्राहकता या कद्रदानी का अभाव देखकर ही नागर बिहारी को गाँव के किसी कोने में फूले हुए गुलाब के सौन्दर्य, सौकुमार्य और सौरभ के करुण अवसान पर दया आई और उन्होंने कहा—

वे न यहाँ नागर बढी जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवई गाँव गुलाब।। ४३८

ये उक्तियाँ स्थालीपुलाक न्याय से ही उद्धृत कर दी गई हैं। वस्तुत: पूरी सतसई में बिहारी ने नागरिता की दुहाई दी है और ग्रामीण जीवन, वातावरण तथा मनुष्यों के प्रति अरुचि का ही भाव प्रकट किया है। उनकी

दशा और परिस्थितियों पर उन्हे हँसी ही अधिक आई है और उनके चक्कर में आई हुई नागरता पर उन्होंने आँसू बहाए हैं।

जिस प्रकार ग्रामीणों की ग्राम्यता पर नागरिकों को हँसी आती है। उनका रंग-ढंग बोलचाल, रहन-सहन सब में से उन्हें ऐसी दुर्गन्ध आती है कि बेचारे नाक चढा कर रह जाते हैं वैसे ही ग्रामीणों को भी शहरियों की अदा और अन्दाज पर हँसी आती हैं। हँसते दोनों है पर दोनों की हँसी में अन्तर है—एक में क्षोभ का पुट है और दूसरी में विस्मय का। स्वाभाविकता दोनों में है अतः आश्चर्य के लिये स्थान नहीं, महाकवि विल्हण के शब्दों में:—

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।

आज के युग की बात जाने दीजिये जबकि आधुनिक शिक्षा का रोशनदान ग्रामीण क्षेत्र में भी नई रोशनी को फेंक रहा है जिसके कारण ग्राम और नगर में समन्वय का प्रारम्भ हुआ ही समझिये, बिहारी के युग में बात ऐसी न थी। यही कारण है कि जब बिहारी की नागरी नायिका कहीं गँवारिनों में जा फँसी तो उसकी दुर्दशा की कल्पना से रोमाञ्चित होकर उन्हें उसे चेतावनी देनी पड़ी—

नागरि विविध विलास तजि, बसी गँवेलिनु माँहि।
मूढनि में गनिबी कि तूँ, हूठ्यौ दै इठलाँहि॥ (५०३)

ताली बजा बजा कर हँसते हुए ग्रामीण शहर वालों को खूब बनाते हैं। नन्दगाँव की गोपियों ने भी उद्धव को इसी प्रकार बनाया था। ग्रामीणों की दृष्टि में श्रुति-स्मृतियों में बताए हुए हीन आचारों में से एक बहुत बड़े भाग का उत्तरदायित्व नगरसभ्यता पर है। आज भी ऐसी ही धारणा है। यह कोई नई बात नहीं। आज से दो हजार वर्ष पहले कालिदास के शारङ्गरव और शारद्वत भी दुष्यन्त की राजधानी 'हस्तिनापुर' में प्रविष्ट होते हुए कुछ ऐसी ही कानाफूँसी करते हैं:—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि[1]॥

अर्थात् सांसारिक भोगों में रत यहाँ के मनुष्य मुझे वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे स्नात व्यक्ति को तैलाक्तकाय, पवित्र को अपवित्र, जागरूक को प्रसुप्त और स्वतन्त्र को बद्ध।"

---

१ कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तल ५-११

कविवर बिहारी की दृष्टि से यह तथ्य छिपा नहीं, उन्होंने इसका वर्णन भी किया है और उनका दोहा नागरों के प्रति उनकी सहानुभूति को मौन किन्तु स्पष्ट रूप से प्रकट कर रहा है:—

सबै हँसत करतार दै नागरता के नाँव।
गयौ गरब गुन कौ सरब, गऐं गवाँरै गाँव ।। २६५

बिहारी ने ग्राम और ग्रामीणों के विषय में १०-१२ ही दोहे लिखे हैं। उनकी इन उक्तियों को दो भागों में रख सकते हैं—कुछ उक्तियाँ तो अन्योक्तियों के रूप में है और कुछ शृङ्गारिक हैं। पहले प्रकार की उक्तियों के विषय में हम निवेदन कर चुके है। दूसरे प्रकार की उक्तियों के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि गाँव और गँवारों में कोई भी आकर्षण तो दूर अरुचिकर तत्व ही पा सकने वाले बिहारी को आखिर ग्रामयुवतियों के स्वाभाविक सौन्दर्य की ओर झुकना ही पड़ा। उनकी यह स्थिति प्राकृत-भाषिणी उस ग्राम्ययुवति की स्मृति दिलाती है जो रूप एवं सौभाग्यगर्विता नागरियों के उपहास से खीझ कर उन्हें चुनौती देती हुई कहती है:—

ग्रामरुहास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ।।

अर्थात् मैं गाँव में रहती हूँ, उत्पन्न भी यहीं हुई हूँ, नगर की स्थिति का मुझे ज्ञान तक नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि नागरिकाओं के पति मेरे यहाँ नाक जरूर रगडते हैं।" महाकवि कालिदास के शब्दों में—"दूरीकृता खलूद्यानलता वनलताभिः" अस्तु, बिहारी की अन्तर्दृष्टि को यहाँ रुकना पड़ा। विवेक की तुला पर कुछ तोलते हुए उन्होंने मन को संकेत किया और उसने दबे स्वर में कहा:—

पहुला हार हियैं लसै, सन की बैंदी भाल।
राखत खेत खरे खरे, खरे उरोजन बाल ।।२४८।।

पोत के हार और सन की बिन्दी में ऐसी कौन सी खूबी थी जिसने पग-पग पर नागरता का दम भरने वाले बिहारी को गँवारिन का वर्णन करने के लिये बाध्य किया ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इन शब्दों में देखिये:—

"कुछ रूप-रङ्ग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है[१] और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही

१ चिन्तामणि, भाग १ पृ० १२४

परिणत हो जाते हैं ।" तो क्या बिहारी ग्रामीणा के सौन्दर्य की भावना के रूप में परिणत हो गये ? इसके उत्तर में हम यही कह सकते है कि कवि की वाणी ग्रामीणा के वर्णन में अपने अलङ्कारों की तड़क-भडक न दिखाती हुई उसी जैसी बन गई है और यदि रससिद्ध कवियों की वाणी सचमुच ही कण्ठ से न निकल कर हृदय से ही निकलती है तो कवि की तदाकार परिणति में कोई सन्देह ही नही। इसे आप चाहे सादगी कह लीजिये या स्वभावोक्ति हम तो कविकुलगुरु के 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करेंगे । यह आश्चर्य की बात है कि ग्रामीणों से मिलते समय बिहारी के नागरता से चिपटे रहने पर भी उनकी वाणी "जैसा देश वैसा वेष" सिद्धान्त के पालन की चेष्टा करती रही जब कभी भी उसे किसी ग्रामीणा से मिलने का योग प्राप्त हुआ, वह बनाव-शृंगार, अलङ्कार आदि को त्याग कर स्वाभाविक रूप में ही उससे मिली और तब बिहारी का हृदय भी हर्ष, विस्मय और कौतूहल में डूब गया। "पहुला हार हियैं लसैं" में दबे हुए स्वर से उसने जो कुछ कहा था उसे स्पष्ट करता हुआ गुनगुना उठा—

गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह, सुन किरवा की आड़।

सौन्दर्य की इन्द्रियातीत अनुभूति की अनिर्वाच्यता "कैसी लसति ? में कैसी प्रकट हुई है !

— — — —

शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
थी	थे	५	१९
वार	वीर	५	२३
चिन्द्रूप	चिद्रूप	६	२२
में	के	९	५
आये	आधे	९	२८
चलता	चलना	१८	६
पिलास	विलास	१८	११
की	का	२३	३०
पुनरुस्थान	पुनरुत्थान	२४	१७
सन्बन्ध	संबन्ध	२४	२८
रहरी	रहती	२८	१०
हास	हारु	३१	अन्तिम
रोशावेश	रोषावेश	४३	२
सुरतदु-विदग्ध	सुरत-दुर्विदग्ध	४३	१८
अर्थ	अर्घ्य	४५	९
को	की	४७	१
लिखिये	लीजिये	४८	४
सज्चारिगी	सञ्चारिणी	४८	१७
से	में	४९	२५
हुशारे	इशारे	५२	२९
बैंसी	बैठी	५३	११
अमरूक	हर्ष	५३	२६
दृष्टव्य	द्रष्टव्य	५४	१८
दम्पत्मो:	दम्पत्यो:	५५	२९
आधार	अधर	६०	२५
परगत	परगट	६४	२१
रचनाय	रचनाएँ	६५	२६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कवियों	कवियों ने	७३	१३
लौटी	लौटे	७५	१४
कुवकु	कुबाकु	७७	७
काल	काव्य	८१	७
पण्डि जी	पण्डित जी	११२	२९
दाहे	दोहे	११८	अन्तिम
हैं	किया है	११९	१३
सर्वत्राप्यङ्गुतो	सर्वत्राप्यद्भुतो	१२१	१४
ह्रास सदन	ह्रास रुदन	१२४	२६
उच्छ्लसित	उच्छ्वसित	१२५	८
इसे	रस	१२५	१९
रीधी	रीझी	१२९	२१
साग	साज	१३०	२८
महीत	महीन	१३२	१
हूए	हुए	१३२	२
छिन	छिप	१३२	१२
चसत्कारी	चमत्कारी	१३३	३
काल	काव्य	१३३	११
बिछुघों	बिछुओं	१३३	२४
पयि	चपि	१३३	२७
बीउ	बीच	१३५	१७
नयतों	नयनों	१३६	२२
शीश	शशि	१३८	१६
अमिल	आमिल	१४१	३
बाला	बाला	१७४	२१
चित्रदंशन	चित्रदर्शन	१७५	१४
अभियेत्र	अभिधेय	१७६	१९
क़ी	को	१८४	१
कायविशेष	कार्यविशेष	१८५	२३
प्रवत्तिनिमित्त	प्रवृत्तिनिमित्त	१८७	८
भारति	भारवि	१८८	२७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
ने	में	२०३	२३
जो	भी	२११	१३
परिणात	परिणाति	२२२	१५
रसभास	रसाभास	२२२	१६
पृप्ठभूमि	पृष्ठभूमि	२२५	४
का	की	२३३	अन्तिम
को	की	२३७	६
तुनि	सुनि	२३७	२०
नियुक्त	वियुक्त	२३७	२५
छुटन	छुटत	२४८	१४
अप्रघान	अप्रधान	२५४	२४
बिहँगी	विहगी	२५७	१७
बोला	बोली	२६७	५
घष्टावली	घण्टावली	२६७	३०
अकार	प्रकार	२७२	१०
संक्रमण	संक्रमण की संक्रान्ति	२७३	२४
यहा	यही	२७४	२
प्रयाग	प्रयोग	२७४	५
दाहे	दोहे	२७४	६
की	का	२७४	१३
प्रसन्नना	प्रसन्नता	२८२	१५
भवती	भवतीषु	२८४	२४
विसेया	विज्ञेया	२८५	२
कोही	कोहर	३००	२५
वायक	नायक	३०१	३
देते हैं	देती हैं	३०२	२
ने	में	३०६	१६
बड़ा	बडी	३१५	५
Gkzetteer	Gazetteer	३२५	१६

—०—